अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद

पुष्प नं. ११४

क्रमबद्ध-पर्याय-समीक्षा



प्रो. पण्डित कोठारी मोतीचन्द जैन एम्.ए.
व्याकरणाचार्य



प्रकाशक :
अखिल भारतवर्षीय
दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्
बडौत (मेरठ) २५०६११

मूल्य : पन्द्रह रुपये

●

प्रकाशक :

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन
महामन्त्री, अ. भा. दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद
बडौत–२५०६११

●

प्राप्ति स्थान :

पं. बाबुलाल जैन जमादार
महामंत्री– अ. भा. दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्
हाथीखाना, बडौत–२५०६११

श्री. पं. मोतीचंद जैन, फलटण

●

मुद्रक :

श्री नेमि मुद्रण मन्दिर
शुक्रवार पेठ, फलटण जि. सातारा

उपोद्घात

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर-जैन-शास्त्रि-परिषद की ओरसे दिगम्बर जैन धर्मके प्रचार-प्रसार के लिए आगमसम्मत ग्रंथों का प्रकाशन होता रहता है। इसी शृङ्खलामें विद्वद्वर्य श्री. पंडीत मोतीचन्द जैन कोठारी द्वारा लिखित "क्रमबद्ध-पर्यायसमीक्षा" पर्यायोंकी क्रमबद्धताकी एकान्तता का निरा-करण और पर्यायोंकी क्रमाक्रमविवर्तिता की सिद्धि नामक पुष्प विद्वद्वर्ग एवं दि. जैन समाज को पर्यायोंके क्रमनियमित और क्रम अनियमितपने के बोधहेतु समर्पित करते हुए महान हर्ष हो रहा है।

डॉ. हुकुमचंद्र भारिल्लने श्वेतांबर स्थानकवासी सम्प्रदाय की मुनिचर्या का पालन न कर सकने के कारण असंयमी होकर दिगम्बर जैन सम्प्रदायके अनुयायी सरलहृदयप्राणियों को सिद्धांत-विरुद्ध लेखन और भाषण कर दिग्भ्रमित करनेवाली श्री-कानजीभाई की प्रेरणासे आगमपरंपरासे हटकर "क्रमबद्धपर्याय" नामक पुस्तिका लिखी और सन १९८० में सोनगढ से प्रकाशित कराकर बहुसंख्य में वितरित की गयी थी।

पुस्तिका को पढ़कर मुनिराजों और आर्षग्रन्थोंके अध्ये-ताओंको बड़ा धक्का लगा, क्योंकि ऐसे साहित्यसे समाज दिशा-विहीन हो जाती है। कुछ हदतक हुआ भी ऐसा, क्यों कि जो सामान्यज्ञानसंपन्न थे, दिगंबर जैन शास्त्रोंकी गहराई में नहीं पहुँचे थे, श्रद्धाके आश्रयसे जो देवशास्त्रगुरुभक्ति में प्रवण थे उनमें से कुछ लोग श्रीकानजीभाई के अभिभाषणों और डॉ. भारिल्लद्वारा लिखित "क्रमबद्धपर्याय" जैसी रचनाओं के

पढ़ने-सुनने से व्यवहारचारित्र से भी पराङ्मुख होकर पुरुषार्थ-हीन बन गये; क्योंकि उन्हें तो ऐसा समझाया गया कि जो होना है सो नियत है। इस परिणमनशील जगत् की परिणमन-व्यवस्था क्रमनियमित है। जगत् में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थितरूपसे हो रहा है। जो भी परिणमन अव्यवस्थित नजर आ रहा है वह भी व्यवस्थित और निश्चित है। किसी की भी अकालमृत्यु होती नहीं। कोई भी कार्य समयसे पूर्व नहीं होता। जब होना है तभी होता है। आदि इस प्रकार के सिद्धान्तविरुद्ध प्रचारसे लोग देवपूजा, मुनिभक्ति आदिसे विरत होने लगे। वे शुभ क्रियाओं के फल के प्रति उपेक्षित हो गये।

दिगम्बर जैन आचार्यों, ऋषियों, मनीषियों द्वारा लिखित शास्त्रों, टीकाओं और इतिहास ग्रन्थोंमें कहीं भी 'क्रमबद्धपर्याय' सिद्धांत या शब्दका उल्लेख नहीं किया गया। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज से लेकर प्रायः सभी आचार्यों और मनीषियों ने यह प्रतिज्ञा करके ही लिखा है कि केवली, श्रुतकेवली या आचार्य परम्परा के आधार पर ही लिख रहा हूँ, यदि कहीं छद्मस्थ होने के कारण भूल रह गयी हो तो सुधीजन सुधार कर पढे।

डॉ. भारिल्ल जी ने आचार्यपरम्परा की विनय की अपेक्षा ही नहीं रखी।

दिगम्बर जैन सिद्धांत ग्रन्थोंमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया गया है कि जीव कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, निगोद-तिर्यञ्च, या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है।

कर्मानुसार ही जीव को भूतकाल में गति प्राप्त हुई और भविष्य में भी कर्मानुसार ही गति प्राप्त होगी। जैसा कि आचार्यों ने स्पष्ट किया है-

अप्पा पंगुह अणुहरइ, अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि णिय विहि आणइ विहि णेइ ।।

अर्थात् आत्मा पंगु के समान है। न स्वयं जाता है और न स्वयं आता है। तीनों लोकोंमें जीव को कर्म ही तो ले जाता है। कर्म ही लाता है।

पावें णारउ तिरउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु।
मिस्से माणुसगइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ।।

यह जीव पाप के उदयसे नरकगति और तिर्यञ्चगति पाता है। पुण्यसे देव होता है। पुण्य और पाप के मेल से मनुष्य गतिको पाता है और दोनोंके क्षय से मुक्ति प्राप्त करता है।

डॉ. भारिल्ल ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१, ३२२, ३२३ नं. की गाथाओं को आधार बनाकर क्रमबद्धपर्याय सिद्ध करनेका उपक्रम किया है। उन्हें इन गाथाओं की अर्थसंगति पूर्वापर प्रकरणको ध्यान में रखकर करना चाहिए थी।

प. पू. स्वामिकुमार ने लिखा है कि-

सो तिव्व असुहलेस्सा णरये णिवडइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणसं पउरं ।। २८८ कार्ति.

तीव्र अशुभ लेश्या से मरकर बहु दुःखदायी भयानक

नरक में चला जाता है। वहाँ प्रचुर शारीरिक तथा मानसिक दुःख भोगता है ॥

सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारणभूत कर्मोंका बंध नहीं करता और अशुभ (बंधे हुए) कर्मोंका नाश करता है। व्रत, चारित्र, संयम आदि से स्वर्गोंके सुख भोगता है, इनकी निंदा करनेवाला नरक-निगोद के दुःख भोगता है।

आचार्य स्वामिकुमार लिखते है-

जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंद-धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि
॥ ४२८ कार्ति. ॥

जैसे यह जीव स्त्री पुत्र वगैरह से तथा काम भोगसे प्रेम करता है वैसे यदि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्मसे प्रीति करे तो लीलामात्र से ही सुखको प्राप्त कर सकता है।

देवो वि धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण संदेहो
॥ ४३५ कार्ति. ॥

धर्मरहित देव भी मिथ्यात्व के वशमें होकर वनस्पति-काय में जन्म लेता है और धर्मरहित चक्रवर्ती भी मरकर नरकमें जाता है, क्योंकि पापसे सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होती।

उक्त उदाहरणों और प्रमाणोंके अतिरिक्त समस्त आगम-साहित्यमें प्रमाण भरे हुए हैं कि शुभ कर्मसे उत्तम गति में जाता

है और अशुभ कर्मोंसे नरक-निगोद आदिके दुःखोंको भोगता है। प्रथमानुयोग में वर्णित श्रेणिक के वृतान्त से स्पष्ट है कि अति-क्रूर परिणामों से उसे ३३ सागर की नरकायु का बन्ध हुआ तथा धर्म धारण करनेसे उसकी आयुस्थिती घटकर ८४ हजार वर्ष रह गयी। ऐसे और भी अनेक वृत्तान्त खदिरसार आदि के प्राप्त होते हैं।

इनसे स्पष्ट है कि वस्तुव्यवस्था नियत ही नहीं है, अपितु अनियत भी है।

जो जिस समय जिससे जैसे जिसको नियम से होता है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है। ऐसा नियमसे सभी वस्तुको मानना नियतिवाद कहलाता है[1]। यह एकान्त मिथ्यात्व है। सबकुछ नियत मानना विपरित श्रद्धान है।

वस्तुव्यवस्था क्रमनियमित और अक्रमनियमित है। आचार्य अमृतचन्द्र[2] आदि आचार्योंने पर्यायों को क्रमवर्ती और अक्रम-वर्ती स्वीकार किया है।

आचार्य परंपरा तो पर्यायोंकी क्रमाक्रम विवर्तिता स्वीकार करती है। इसी का आश्रय लेकर अ. भा. दि. जैन शास्त्र-परिषदके सम्मानित सदस्य सिद्धान्तविद् मुनिभक्त आगमनिष्ठ विद्वद्वर्य श्री. पं. मोतीचन्द जैन कोठारीने डॉ. भारिल्ल की पुस्तिकाके पढनेसे सिद्धान्तविरुद्ध क्रमबद्धपर्यायको स्वीकार करनेवालोंकी मूलसुधार, सचेतस जनोंकी यथार्थ दिशाबोधहेतु

---

१) जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥ ८८२ गो. क. ॥

२) अध्यात्म-अमृतकलश। २६४।

दिगम्बर जैनाचार्यों की यथार्थ मान्यता के प्रकाशन के लिए शास्त्रि-परिषद के विद्वानों और समाजके अनुरोधपर "क्रम-बद्धपर्यायसमीक्षा" लिखी। अतः मैं शास्त्रि-परिषद और व्यक्तिगत रूपसे इनका आभार व्यक्त करता हूँ। मुझे पूर्ण आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि इस समालोचनात्मक कृतिसे आगमश्रद्धालु जन पर्यायोंकी क्रमाक्रमविवर्तिता को अवश्य ही समझ सकेंगे। सभी सहृदय जन इस पुस्तक का आद्योपान्त स्वाध्याय करें और भगवज्जिनेन्द्र द्वारा वर्णित सिद्धांतको आत्मसात् करें।

पुस्तक प्रकाशन में सहयोग करनेवाले श्री. रामचंद मलुकचंद शहा. (पणदरे), श्रीमती कस्तुरबाई हिराचंद शहा म्हसवडकर (सातारा), चंदुलाल तलकचंद शहा, अॅडव्होकेट (सातारा), डॉ. कुमारी कंकुबाई केवलचंद (म्हसवड), माणिकचंद रतनचंद बंधू शहा (फलटण), डॉ. सुशीलचंद जैन मैनपुरी, अरविंद रूपचंद शहा (फलटण), ऐनापुर जैन समाजके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ।

अ. भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद की प्रसारक और प्रचारक देव-शास्त्र-गुरु-भक्त संस्था है। श्रमण और श्रावक दोनों ही धर्मके आराधक हैं। श्रावक के श्रमण भी आराध्य हैं। श्रमणधर्म और दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा वर्णित सिद्धान्त जगत् में व्याप्त हों इसी भावना के साथ।

जिनोपासक

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

व्याख्याता- संस्कृत, दि. जैन कालेज बडौत

महामंत्री- अ. भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद

एक विशेष-

क्रमबद्धपर्याय पृ. ५७ में डॉ. भारिल्लसाहबने 'सम्मइ-सुत्त' के तृतीयकाण्डकी ५३ गाथा का उद्धरण पेश करके उसका जो अनुवाद पेश किया है वह निम्नप्रकार है। देखिए-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त), और पुरुषार्थ इन पांच कारणोंमें से किसी एकसे कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है और इनके समवायसे कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है।

श्वेतांबर आचार्य अभयदेवसूरिकृत अर्थको, डॉ. भारिल्ल-कृत इस अर्थको, डॉ. देवेन्द्रकुमारकृत अर्थको और अहमदाबादके एक श्वेतांबर विद्वान्के द्वारा किये गये अर्थको देखनेसे मेरी ऐसी धारणा हुई की यह गाथा या तो प्रक्षिप्त है या ग्रंथ श्वेतांबर-आचार्य-विरचित है। ऐसा उल्लेख मैंने प्रकृत पुस्तकके पृ. १३९ में किया भी है और उक्त अर्थोंकी अपेक्षा ठीक भी है। दीर्घकालतक विचार करनेपर इस गाथा का जो अर्थ मुझे प्रतीत हुआ है उसकी दृष्टिसे मेरे द्वारा व्यक्त किया गया अभिप्राय ठीक नहीं है ऐसा महसूस होने लगा है।

इन पांच कारणोंके विना न अशुद्ध आत्माकी निश्चय-कर्मरूपसे परिणति हो सकती है और न कर्मयोग्यपुद्‌गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूपनिश्चयकर्मरूपसे परिणति हो सकती है। गाथागत कालशब्दसे वर्तनालक्षणवाले निश्चयकालका ग्रहण आवश्यक है; क्यों कि उसकी सहकारितामें ही जीवकी और कर्मयोग्यपुद्‌गलकी अर्थपर्यायें उत्पन्न होती है। इस वर्तनालक्षण

कालकी सहकारिताके अभावमें दोनोंकी अर्थपर्यायोंका प्रादुर्भाव होना असंभव होनेसे दोनों पदार्थोंकी परिणमनशीलताका-परिणत होनेके स्वभावका अभाव मानना पडेगा। जब दोनों पदार्थ परिणमनशील होनेसे परिणत होते रहते हैं तब वर्तना-लक्षणनिश्चयकालरूप सहकारिकारणकी सिद्धि हो जाती है। दोनों पदार्थोंकी शुद्ध और अशुद्ध अवस्थाओंमें अर्थपर्यायोंका उत्पादव्यय होता रहता है। अतः वर्तनालक्षणकालकी सहकारि-कारणता की सिद्धि हो जाती है। यद्यपि यह सहकारिकारण उदासीन हेतु है तो भी उसकी सहकारिताके अभावमें अर्थपर्या-योंके रूपसे परिणत होना असंभव है। गतिपरिणत होनेवाले मछलियोंकी गतिपरिणति जल उदासीन सहकारिकारण होनेपर भी उसकी सहकारिताके अभावमें नहीं हो सकती।

स्वभाव भी जीव और कर्मयोग्यपुद्‌गलकी अपने निश्चय-कर्मरूपसे होनेवाली परिणतिमें सहकारिकारण और उपादान-कारण होता है। परिणमनशीलता जीव और कर्मयोग्यपुद्‌ग-लोंका या पुद्‌गलोंका स्वभाव है। इस स्वभावके अभावमें सह-कारिकारण मिल जानेपर भी इन दोनों द्रव्योंकी कार्यरूपसे-निश्चयकर्मरूपसे परिणति होना असंभव है। इस परिणतिके अभावमें दोनों द्रव्योंकी कूटस्थनित्यता सिद्ध हो जाती है और कौटस्थ्यके अभावमें अर्थक्रियाका अभाव होकर द्रव्यका ही अभाव हो जाता है। स्वभावके अभावमें स्वभाववानका अभाव हो जाता है। परिणमनशीलताके अभावमें जीवके चतुर्गतिभ्रम-णका और मोक्षका भी अभाव हो जाता है और कर्मयोग्यवर्ग-णाओंका विशिष्टशक्तियुक्त कर्मरूपसे परिणत होनेका और

विशिष्टशक्तिरहितकर्मरूपसे परिणत होनेका अभाव होता है। इसप्रकार तो बंध-मोक्षकी व्यवस्था टूट जाती है। अतः स्वभावभी कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारिकारण होता है।

नियतिशब्दसे व्यवहारकालका ग्रहण करना चाहिये। उस शब्दका 'नियतकालिकता' (Regularity) अर्थ है। जिस समय कर्म उदयादिसे सहकारिकारण होता है उसी समय जीवका विशिष्ट परिणामके रूपसे परिणत हो जाना और जिस समय अपने परिणामके रूपसे सहकारिकारण होता है उसी समय कर्मयोग्यपुद्गलोंका सात या आठ कर्मोंके रूपसे परिणत हो जाना नियति है। जिससमय स्थितिबंध होता है उससमय कर्मका उदयकाल नियत होता है। उसी कालमें कर्मका उदय होना भी नियति है। 'नियतरूपेण भवनं नियतिः' ऐसा नियतिशब्दका निरुक्त्यर्थ है। यदि यथासमय जीवकी और कर्मयोग्यपुद्गलकी परिणति नहीं हुई तो कार्यकी उत्पत्ति होना असंभव है। जिस समय कुम्हार योगोपयोगके रूपसे परिणत होता है उसी समय मृत्पिण्डकी घटादिरूपसे परिणति होती है। कुम्हारका योगोपयोगके रूपसे परिणत होनेका काल और मृत्पिण्डकी घटादिके आकारके रूपसे होनेवाली परिणति इनमें अंतर नहीं होता तो भी इनमें पौर्वापर्य अवश्य होता है; क्योंकि पौर्वापर्यके अभावमें कार्यकारणभावकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतः इसप्रकारकी यह नियति भी कार्योत्पत्तिमें कारणभूत होती है।

पूर्वकृतशब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मका ग्रहण करना चाहिये। पूर्वशब्दसे अनन्तरपूर्वका और सान्तरपूर्वका ग्रहण

करना इष्ट है। आत्माका रागद्वेषादिरूपसे परिणति होते ही कर्मयोग्यपुद्गल वर्गणाओंका द्रव्यकर्मरूपनिश्चयकर्मके रूपसे परिणमन होता है। इस परिणमनके अनन्तरपूर्व समयमें जीवकी रागद्वेषादिरूपसे परिणति हुई होती है। जीव की जो रागद्वेषा-दिभावोंके रूपसे परिणति होती है वह सहकारिकारणरूप-व्यवहारकारणरूप-निमित्तकारणरूप होती है और पुद्गलोपा-दानककर्म जीवरूप कर्ताका व्यवहारकर्म होना है। जब बद्धकर्म उदयमें आता है तब जीवका रागादिरूप विभावभावोंके रूपसे परिणमन होता है। बद्धकर्म उदयरूपसे जिससमय परिणत होता है तब वह रागादिरूपसे होनेवाले जीवके परिणामकी उत्पत्तिके अनन्तरपूर्व समयमें उदयावस्थाको प्राप्त हुआ होता हैं। यह कर्मोदय जीवके रागादिरूप परिणतिमें सहकारिकारण-निमित्तकारण होता है। जीवका रागादिभावरूप परिणाम जीवका निश्चयकर्म अर्थात् भावकर्म होता है और कर्मका व्यव-हार कर्म होता है। जिस समय जीवकी विभावरूपसे परिणति होकर जीव कर्मबद्ध होता है उसी समय बद्धकर्मका उदय होता ही है ऐसा नियम नहीं हैं। उसका उदयकाल स्थितिबंधपर निर्भर करता है। संक्लिष्टादिपरिणामोंके कारण जीव कर्मबद्ध होता है तो भी बद्धकर्मका उदय नियत कालके अनुसार होता है। अतः पूर्वकृतशब्दगतपूर्वसे सान्तरपूर्वका भी ग्रहण करना चाहिये।

पुरुष शब्दसे आत्माका ग्रहण करना चाहिये, क्यों कि प्रकृत प्रकरणमें आत्माके ग्रहणके अभावमें 'पुव्वकयं' शब्दकी विफलता सिद्ध हो जाती है। आत्माके अभावमें भावकर्मका

अभाव होता है, भावकर्मके अभावमें कर्मबंधका अभाव होता है, बद्धकर्मके अभावमें कर्मकी उदयादि अवस्थाओंका अभाव होता है और उदयादिके अभावमें जीवकी विभावरूप परिणतियोंका अभाव होता है। इसप्रकार आत्मपरिणाम और कर्मरूपपरिणाम इनमें अनादिसे चली आयी कार्यकारणपरंपरा ही टूट जायगी। पुरुषार्थका उपादान आत्मा ही होता है। यह पुरुषार्थ सत्-असत्के भेदसे दो प्रकारका होता है। अतः पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए आत्माको भी कारणरूपसे ग्रहण करना आवश्यक है।

इन पांच कारणोंमें से किसी भी एक कारणके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति होना असम्भव है। कालके अभावमें स्वभावका अभाव होता है। स्वभावके अभावमें द्रव्यका नाश-अभाव होता है। द्रव्यके अभावमें नियतकालिकताका अभाव होता है। द्रव्यके अभावमें जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाममें होनेवाले कार्य-कारणभावका अभाव हो जाता है। अतः इस हेतुपंचकके अभा-वमें कार्योत्पत्ति कैसे हो सकती है? काल, स्वभाव और नियति सर्वदा सद्भूत होनेसे न्यायशास्त्रमें आत्मा और कर्म इनमें ही कार्यकारणभाव बताया गया है। आचार्य सिद्ध-सेनका यह कथन और समन्तभद्रादि आचार्योंका कथन इनमें भेद नहीं है। समन्तभद्रादि आचार्योंके कथनमें इन सभी हेतुओंका अंतर्भाव हो जाता है। जो निमित्तको सर्वथा उड़ा देते हैं उनके द्वारा इस गाथाको उद्धृत किया जाना आश्चर्यावह है।-ले.



सम्पादकीय

सूक्ष्म, अन्तरित और दूर पदार्थोंको जाननेवाले भगवान सर्वज्ञको स्वीकार न करना 'जैन धर्मके मूलपर कुठाराघात करना है' इसमें संदेह नहीं। सोनगढीयतत्त्वप्रणालीका विरोध करनेवाले भी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। सर्वज्ञभगवान सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायोंको ही जानते हैं, पर्यायोत्पत्तिकी प्रक्रियाको नहीं जानते क्या? सहकारिकारणकी सहकारितामें ही उपादान अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होता है इस बातको भगवान् जानते नहीं क्या-यह प्रक्रिया भगवानके ज्ञानका विषय नहीं बनती क्या? 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' और 'न जातु रागादिनिमित्तभावं' इन दो श्लोकोंके कर्ताओंकी रचनाप्रक्रिया-रूप पर्याय भगवानके ज्ञानका विषय नहीं बनी थी क्या? उक्त दोनों श्लोकोंका अभिप्राय भगवान्के ज्ञानका विषय नहीं बने थे क्या? औदयिकादिभाव सहकारिकारणभुत द्रव्यकर्मकी सह-कारिताके अभावमें संसारी जीवमें उत्पन्न होते हैं ऐसा भगवानने कहा था क्या?

जिसप्रकार क्रमनियमित शब्द भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके साहित्यमें पाया जाता है उसप्रकार 'क्रमबद्ध' शब्द नहीं पाया जाता। किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि 'क्रमबद्ध' और 'क्रम-नियमित' इन शब्दोंका अर्थ समान ही है। 'नियमित'-शब्द नि-उपसर्गपूर्वक यम् धातुका णिजन्त रूप है। 'बद्ध'- शब्द णिजन्त नहीं है। 'णिजन्त' और 'अणिजन्त' रूपोंका अर्थ समान होता है क्या? खाना और खिलाना समानार्थक हैं क्या? यदि खाना और खिलाना एकार्थक नहीं हो सकते तो बद्ध और नियमित ये दो शब्द एकार्थक कैसे हो सकते हैं? इन दोनों भिन्न शब्दोंको एकार्थक मानना पक्षान्धताका परिपाक नहीं है क्या? जो इन दोनों शब्दोंको एकार्थक मान रहे हैं वे इन दोनों शब्दोंकी

अनेकार्थता भी व्यक्त कर रहे हैं । देखिये- " क्रमबद्धमें पर्यायके क्रमकी ही सूचना है और क्रमनियमितमें वह पर्याय केवल क्रम-बद्ध ही नहीं, किंतु जिन जिन कारणोंके संदर्भमें वह पर्याय है, वे सब कारण तथा उनका यथासमय संयोग भी नियमित (?) है, यह स्पष्ट होता है । " इससे स्पष्ट होता है कि क्रमबद्ध शब्द कारणसूचक नहीं है और क्रमनियमित शब्द कारणसूचक है यह स्पष्ट होनेपर भी दोनों शब्दोंकी एकार्थता माननेवालोंकी पक्षां-धता व्यक्त नहीं होती क्या ?

विभावभावादिरूप पर्यायोंका क्रम अवश्य नियमित है, किंतु नियामक कर्म है । वें अपने आप नियतक्रमवाली नहीं होती है । अर्थपर्यायें क्रमवर्तिनी होती हैं । उनका सहकारिकारण वर्त-नालक्षणवाला काल होता है । आत्माकी परिवर्तनशीलता और वर्तनालक्षण कालकी सर्वत्र स्थिति होनेसे अर्थपर्यायें एकके बाद एक इस क्रमसे सर्वदा उत्पन्न होती रहती हैं । एकसाथ एक द्रव्यकी दो पर्यायें उत्पन्न नहीं हो सकती । एक द्रव्यके अनेक गुणोंकी अनेक पर्यायें एकसाथ होती हैं । गुण और गुणीमें कथं-चित् अभेद होनेसे एक द्रव्यकी एकसाथ अनेक पर्यायें होती हैं ऐसा कहनेमें विरोध नहीं है । एक गुणकी भी एकसाथ दो पर्यायें नहीं होती। पर्याय चाहे द्रव्यकी हो चाहे गुणकी हो वह सहकारि-कारणकी सहकारितामें ही उत्पन्न होती है, उसके अभावमें नहीं ।

कोई कहते हैं कि ' जब सब कुछ क्रमबद्ध है तब पुरुषार्थ भी तो उसीके गर्भ में समाहित है ।' पर्यायें तो पुद्‌गल की भी होती हैं । एक लोहेका टुकडा अनेक वर्ष वीत जानेपर पुरुषार्थके अभाव में भी कालद्रव्यकी सहकारितामें इंद्रियगोचर हो सकने-वाली पर्यायके रूपसे परिणत हो जाता है । लोहेका यह वर्तना-

लक्षणकालनिमित्तक परिणमन पुरुषार्थ के अभावमें जब होता है तब उसीके गर्भ में पुरुषार्थ कैसे समाहित हो सकता है ?

एक विद्वान् का कहना है कि– ' कार्य होने या न होनेका जो दोष परपदार्थों (चेतन या अचेतन निमित्तों) पर डालनेकी भ्रमित बुद्धि है । ' मिट्टी अपने आप अर्थात् कुम्हारका योगोपयोग और उसकी दण्ड–चक्रादि सामग्रीके अभावमें घटरूपपर्यायके रूपसे परिणत होती है क्या ? मृत्तिकोपादानक घटकी उत्पत्ति कुम्हारके योगोपयोगके अर्थात् कुम्हारके अधीन नहीं है क्या ? जीवके विभावादिरूप भावोंकी–पर्यायोंकी उत्पत्ति कर्मरूप निमित्तके अभावमें होती है क्या ? उनकी उत्पत्ति यदि निमित्ताधीन नहीं मानी गयी तो विभावादिरूपसे परिणत होना जीवका स्वभाव मानना होगा । ऐसी अवस्थामें जीवकी औदयिकभावरूपसे और क्षायिकभावरूपसे युगपत् परिणत होना क्यों न माना जाय, क्यों कि प्रतिबंधककारणोंका अभाव होता है ? ' मुखमस्तीति वक्तव्यं ' नही चल सकता ?

एक विद्वानने लिखा है कि– ' कार्यकी सिद्धि जिस निमित्त और जिसप्रकारके पुरुषार्थसे होनी है, वह उसी निमित्त और उसी पुरुषार्थसे होती है । सर्वज्ञके ज्ञानमें वह निमित्त और पुरुषार्थका प्रकार भी झलकता है । ' यह अभिप्राय ठीक है । शास्त्रिपरिषद्के सदस्य विद्वान् विरोधके लिये विरोध नहीं करना चाहते और नहीं करते । प्रकृत ट्रॅक्ट इस बातका समर्थन करता है । विद्वानोंको इस ट्रॅक्टके अभिप्रायोंपर गहराईसे विचार करके इसमें दोष हो तो उनका आविष्करण करना चाहिये

लेखक और संपादक

कोठारी मोतीलाल जैन, फलटण

क्रमबद्धपर्यायसमीक्षा

पर्यायों की क्रमबद्धताकी एकान्तता का निराकरण
और
पर्यायों की क्रमाक्रमविवर्तिता की सिद्धि।

डॉ. हुकमचन्द्रजी भारिल्लने 'क्रमबद्धपर्याय' – नामक एक 'महानिबंध' प्रकाशित किया है। उस निबन्धके हस्तगत हो जानेपर उसका सूक्ष्म अवलोकन करनेके बाद यह समालोचनात्मक प्रबन्ध लिख रहा हूं। इस महानिबन्धके द्वारा पं. जीने अपने गुरूके मन्तव्यके समर्थनका प्रयत्न किया है। इस प्रबन्धमें पं. जीके और उनके गुरुके मन्तव्यपर विचार किया जाता है। विद्वज्जन दोनों निबन्धोंका तौलनिक दृष्टिसे विचार और चिन्तन करके अपने अभिप्रायको प्रकाशित करके इस चर्चामें सहभागी होंगे ऐसी आशा है।

निबंधके प्रथम पृष्ठपर पं. जीने लिखा है कि– " 'क्रमबद्ध पर्याय से' आशय यह है कि इस परिणमनशील जगतकी परिणमन व्यवस्था 'क्रयनियमित' है। जगतमें जो भी परिणमन निरंतर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रममें व्यवस्थितरूपसे हो रहा है। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर जो परिणमन अव्यव–

स्थित दिखाई देता है, गहराईसे विचार करनेपर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे की नाटकके रंगमंच-पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पहलेसे निश्चित और पूर्ण व्यवस्थित होते ही हैं; किंतु जो दृश्य अव्यवस्थित दिखाये जाते हैं वे भी पूर्वनियोजित एवं पूर्ण व्यवस्थित होते हैं।'

लेखक महोदयने 'क्रमबद्धपर्याय' और 'क्रमनियमित-पर्याय' इन दोनों पदोंको समानार्थक-एकार्थक बताया है। दोनों पद एकार्थक नहीं हैं। क्रमबद्धशब्दका प्रयोग जिनागममें मुझे देखनेको नहीं मिला है और उसका प्रयोग मिलना असंभव है। क्रमबद्ध इस सामासिक पदमें जो 'बद्ध 'यह शब्द अप्रयोजक है- णिजन्त नहीं है जब कि 'क्रमनिर्यमित' इस पदमें जो 'नियमित' यह शब्द है वह प्रयोजक है-णिजन्त है। 'पढना' यह अप्रयोजकरूप है और 'पढाता' यह प्रयोजक रूप है। विद्यार्थी पढता है और शिक्षक पढाता है। पढनेवाले की क्रिया और पढानेवालेकी क्रिया भिन्न भिन्न हैं। ये दोनों क्रियाएं जिस-प्रकार अन्योन्यभिन्न होती हैं, उसप्रकार 'बद्ध' और 'निय-यित' ये दोनों शब्द भिन्नार्थक होनेसे परस्पर भिन्न हैं। 'बद्ध' यह शब्द अप्रयोजक होनेसे वह निमित्तका ज्ञापक नहीं है और 'नियमित' यह शब्द नि-उपसर्गपूर्वक यम् धातुके णिजन्तका-प्रयोजकका क्तान्तरूप होनेसे निमित्तका-सहकारिकारण का ज्ञायक है। अतः यह 'बद्ध'- शब्द निमित्तको उडा देनेवाला होनेसे निमित्तके अभावमें उपादान अपने कार्यके-परिणामके-रूपसे परिणत होता है इस बातका ज्ञापक है और 'नियमित' यह णिजन्त-प्रयोजक शब्द निमित्तका ज्ञापक होनेसे उपादान

निमित्त–सहकारिकारण मिलनेपर ही अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होता है इस आगमोक्त कथनका समर्थक है। 'बद्ध' शब्द णिजन्तका– प्रयोजक का रूप न होनेसे निमित्तकारणका अपोहक होनेसे–परिहार करनेवाला होनेसे आगमविरोधक है। आगम तो उपादान और सहकारिकारण इनरूप सामग्री से ही कार्यकी उत्पत्ति होती है इस बातका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामीने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहा है कि–

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां
तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥

अर्थ– कार्यों के विषयमें बाह्य और अभ्यन्तर सामग्री–उपादानसहकारिसामग्री का होना द्रव्यका स्वभाव है ऐसा आपका कथन है। बाह्य और अभ्यन्तरसामग्रीके अभावमें मोक्षकी विधि पुरुषोंके संभव नहीं है। इसकारण मुनि–अवस्थाको धारण करनेवाले आप ज्ञानियोंके द्वारा वंदनीय हैं।

आचार्य विद्यानन्द महाराजने देवागमस्तोत्रकी चौथी कारिकाकी वृत्तिमें '**सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्री–जन्यतयोपगमात्तथा 'प्रतीतेश्च**' ऐसा प्रतिपादन हेतुवाक्यके द्वारा किया है। इस वाक्यका अर्थ 'सभी कार्य उपादान और सहकारीरूप सामग्री जन्य होते हैं ऐसा आगममें माना गया होनेसे और उस प्रकार की प्रतीति होनेसे' ऐसा है। इससे

१– अष्टसहस्त्री, कारिका ४, पृ. ५१, पं. ८, ९

प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादान और सहकारिसामग्रीसे ही होती है, न केवल उपादानसे होती है और न केवल निमित्तसे होती है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य अमृतचंद्रसूरिने भी एक कलशके द्वारा यही अभिप्राय व्यक्त किया है। देखिये–

न जातु रागादिनिमित्तभावमा–
त्मात्मनो याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥

अर्थ–अपने रागादिरूप परिणामोंका कारण आत्मा कदापि नहीं होता, जैसे सूर्यकान्त मणि। उस रागादिरूप पर्यायके रूपसे होनेवाली परिणतिमें परका अर्थात् कर्मका संग–संयोग (उदय) ही निमित्त होता है–सहकारिकारण होता है। परसंगसे अर्थात् सहकारिकारण मिलनेपर ही पर्यायरूपसे परिणत होना यह वस्तुका स्वभाव है।

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सहकारिकारण मिल जानेपर ही उपादानकी पर्यायरूपसे परिणति होती है, उसके अभावमें नहीं होती। इसप्रकारका वस्तुका–पदार्थका स्वभाव है।

पदार्थ परिणमनशील होनेपर भी उसका परिणत होनेका स्वभाव सहकारिकारणके विना व्यक्त नहीं होता यह अभिप्राय आगमानुकूल और प्रतीतिसिद्ध होनेपर भी सहकारिकारणके

अभावमें अर्थात् सर्वथा अकिंचित्करतामें उपादान स्वयमेव अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होता है यह मान्यता आगम और प्रतीतिके विरुद्ध है। अतः लेखकमहोदयने ' क्रमबद्ध ' और ' क्रम-नियमित ' इन दोनों शब्दोंको एकार्थक बताकर--अनर्थान्तर बताकर लोकभ्रम निर्माण करनेका प्रयत्न किया है यह स्पष्ट हो जाता है।

आगे ' जगतमें जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है वह सब एक निश्चितक्रममें व्यवस्थितरूपसे हो रहा है ' ऐसा जो कहा गया है वह भी भ्रान्तिजनक है। कच्चे आमका जब पके आमके रूपसे परिणमन-परिवर्तन होता है तब आमद्रव्यका और साथमें उसके स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन गुणोंका एकसाथ परिणमन नहीं होता क्या? छोटे कच्चे आमका बडे आमके रूपसे जो परिणमन होता रहता है वह द्रव्यपरिणमन है और उसके स्पर्शादि गुणोंका मृदु आदिभावके रूपसे जो परिणमन होता है वह गुणपरिणमन है। इस आम्रफलकी द्रव्यपर्याय और गुण पर्यायरूपसे उत्पन्न होनेवाली अनेक पर्यायों के रूपमें जो परिणमन होते हैं वे युगपत होते हैं-- अक्रमवर्ती होते हैं। इन द्रव्य और गुणोंमें अन्योन्यविरोध न होनेसे ये सब परिणाम सहभावी-सहावस्थायी होते हैं। हां! यह बात निश्चित है कि एक द्रव्यकी या एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होती है और वह क्रमनियमित होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पर्यायें कथंचित् क्रमभावी होती हैं और कथंचित् अक्रमभावी होती हैं। पर्यायें क्रमनियमित होती हैं यह एकान्त रूपसे मिथ्या है और स्याद्वादविरोधी है। एक द्रव्यकी एक समयमें होनेवाली

और एक गुणकी एक समयमें होनेवाली पर्याय का क्रमवर्तित्व निमित्ताधीन होता है और इसी कारणसे वह कथंचित् क्रमनियमित ही होती है; क्यों कि एक द्रव्य की और एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय उत्पन्न होती है और उसकी दूसरी पर्याय —अर्थात् उत्तर पर्याय पूर्वपर्यायके नाशसे उत्पन्न होनेवाली होने से पूर्वपर्यायके अनन्तर उत्पन्न होती है। अतः एक द्रव्यकी और एक गुणकी पर्याय क्रमनियमित ही होती है।

मिट्टीरूप उपादानकारण से उसकी चूर्णरूप अवस्थासे लेकर घटरूप अवस्था तक जितनी भी पर्यायें बीचमें उत्पन्न होती हैं वे सब क्रमसे उत्पन्न होती हैं, युगपत् नहीं होती। उनकी क्रमवर्तिता कुम्हार आदि सहकारिसामग्रीके आधीन होती है। विशिष्ट मिट्टीमें घटादिकार्योंके रूपसे परिणत होनेकी योग्यता—शक्ति विद्यमान होनेपर भी वह शक्ति सामग्रीके अभावमें कदापि व्यक्त नहीं होती। आचार्य अकलंकभट्टने अष्टशतीमें '**तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं कथ सहकारिकारणं 'स्यात्**' इस वाक्यके द्वारा स्पष्टरूपसे बता दिया है कि—' उपादानकारण परिणमनशील होनेपर भी वह अपनी पर्यायके रूपसे स्वयं परिणत होनेमें असमर्थ होता है और उसकी असमर्थताका खण्डन—नाश सहकारिकारण ही—निमित्तकारण ही करता है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपादानकी असमर्थताका नाश करनेकी अर्थात् बलाधान करनेकी सामर्थ्य सहकारिकारणमे—निमित्तकारण में होनेसे निमित्त को सर्वथा अकिञ्चि-

१—अष्टसहस्त्री पृ १०५, निर्णयसागर संस्करण।

लकर बताना मनमानी करता है, आगम और प्रतीतिका विरोध करना है। समयसारकी ८२-८३-८४ क्रमांककी गाथाओंकी आत्मख्यातिटिकाएं विचारार्ह हैं।

इस उपरितन विवेचन से पर्यायके क्रमनियमित इस विशेषण को हटाकर क्रमबद्ध इस विशेषणका प्रयोग करना आगम-प्रमाण को और प्रतीति को स्वीकार न कर अपने मन्तव्यकी, जो कि आगम और प्रतीतिके विरुद्ध है, सिद्धि करनेका विफल प्रयत्न करना है।

मनुष्यपर्यायके रूपसे परिणत हुआ जीव देवायुका या नरकायुका बंध करके जब मरकर देव या नारकी होता है तब गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयमादि की पर्यायें युगपत् उत्पन्न होती है या नहीं? मनुष्य जब मरकर देव या नारकी होता है, मनुष्यगत्यादिपर्यायोंका जब युगपत् नाश होता हैं तब देवगत्यादिरूपपर्यायों की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती क्या? यदि देवगत्यादिकी उत्पत्ति युगपत् न होती हो तो उन पर्यायोंकी उत्पत्तिके कालभेदकी आगम, युक्ति और प्रतीति के आधारसे डॉक्टरसाहबको सिद्धि करनी चाहिये। यह युगपत् होनेवाला पदार्थोंका परिणमन युगपत् होता है, यह प्रतीतिसिद्ध है। दूधसे दहिरूप परिणामके रूपसे जब परिणति होती है तब दूध के रूपका, रसका, स्पर्शका और वर्णका युगपत् परिणमन होता है यह बात प्रतीतिसिद्ध है। अतः पर्यायोंकी युगपत्ताका सर्वथा प्रतिषेध करना कदापि उचित नहीं हो सकता।

पर्यायों की क्रमबद्धता के विषयमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि-जब क्रमबद्ध यह पर्यायका विशेषण आगममें नहीं

पाया जाता और जब क्रमबद्ध और क्रमनियमित ये शब्द समानार्थक हैं, एकार्थक हैं, अनर्थान्तर हैं तब शास्त्रोक्त क्रमनियमित इस शब्दका प्रयोग न कर प्रयोजक के द्वारा 'क्रमबद्ध' यह शब्द क्यों प्रयुक्त किया जा रहा है ? शास्त्रोक्त शब्दका त्याग करके क्रमबद्ध इस शास्त्रानुक्त शब्दका प्रयोग करनेमें प्रयोजक का कुछ रहस्य अवश्य छिपा हुआ होना चाहिये। इसके रहस्यका इसके पूर्व उद्घाटन किया गया है। इस रहस्यको छिपाकर उस शब्दका प्रयोग करते रहना और इसकी क्रमनियनित इस शब्दके साथ एकार्थताको सिद्ध करनेका प्रयत्न करना आगमोक्त मन्तव्यका सरासर विरोध करना है।

लोकमें कोई भी क्रमवर्ती पर्याय और अक्रमवर्तिपर्यायों में से कोई भी पर्याय अव्यवस्थित नहीं होती; क्यों कि उनकी क्रमवर्तिता और युगपद्वर्तिता कर्मरूप निमित्तोंके आधीन होती है।

पृष्ठ १८ पर लिखा है कि– 'प्रत्येक द्रव्यमें पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, एकसाथ नहीं।' इसके पूर्व यह बताया है कि प्रत्येक द्रव्यकी और प्रत्येक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होती है, उसकी एकसाथ अनेक पर्यायें उत्पन्न नहीं होती, एक पर्यायका नाश होनेपर ही अनन्तर समयमें अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। एक द्रव्य एकसाथ अनेक गुणोंका आश्रय होता है। एक द्रव्य की एक द्रव्यपर्यायका नाश होकर पर्यायान्तररूपसे जब उत्पाद होता है तब उस द्रव्य के पर्यायापन्न गुणोंका नाश होकर द्रव्यके गुणोंका पर्यायान्तररूपसे एकसाथ परिणमन होता है। आमके दृष्टान्तके द्वारा इस अभिप्रायका समर्थन भी

किया गया है। एक जीवकी वर्तमान पर्यायका नाश होकर अन्यपर्यायके रूपसे जब उत्पाद होता है तब उसके गतीन्द्रियादि-वर्तमानकालीन अनेक पर्यायोंका युगपत् नाश होकर अन्य गती-न्द्रियादिरूप पर्यायोंके रूपसे युगपत् उत्पाद होता है यह भी बता दिया गया है।

इसी पृष्ठ पर आगे " जिसके बाद जो पर्याय (कार्य) होनी होती है, वही होती है, अन्य नहीं। इसी का नाम ' क्रम-बद्ध पर्याय ' है " ऐसा जो लिखा है वह ठिक इसलिये नहीं है कि वह ऐकान्तिक है। ' जो पर्याय होनी होती है, वही होती है, अन्य नहीं ' ऐसा जो वाक्य है उससे **' पर्यायोंके नियामक सर्वज्ञ भगवान हैं '** यह अर्थ ध्वनित होता है। जिनका क्रम कर्मनियमित होता है ऐसी पर्यायों के क्रमका प्रतिपादन सर्वज्ञ भगवान् करते हैं, वे उस क्रमका नियमन करनेवाले नहीं होते। यदि सर्वज्ञ भगवान् को ' वे पर्यायोंके क्रमके नियामक हैं ' ऐसा माना गया तो स्वसिद्धान्तहानिका और पराभ्युपगतसिद्धा-न्ताभ्युपगमका प्रसंग खडा हो जाता है। वेदान्तियों की मान्यता है कि जीवोंके कर्मोंके अनुसार परमात्मा उन्हें जन्म देता है अर्थात् लोक कर्म करते हैं और परमात्मा उनके जन्मका निश्चय करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनके मतमें जीवों के जन्मोंका नियामक परमात्मा है। यह कथन मिथ्या है। इसी प्रकार शुभाशुभकर्मरूप परिणामोंके द्वारा जीव कर्मोंको बांधते हैं और सर्वज्ञ भगवान् उनकी पर्याय के क्रमोंके नियामक हैं ऐसा मानना उचित नहीं है–मिथ्या है। अतः सर्वज्ञ भगवान्को पर्यायों के क्रमके नियामक नहीं माना जा सकता। दूसरी बात

यह है कि एक पर्यायके नाशके बाद उत्पन्न होनेवाली पर्यायका क्रम कर्मनियमित होता है। यही पर्यायों का क्रमनियमितत्व है।

लेखकमहोदयने यहांतक पर्यायोंकी क्रमनियमितताकी (क्रमबद्धताकी ?) ही सिद्धि करनेका प्रयत्न किया है। एक द्रव्यकी अथवा एकगुणकी पर्यायें क्रमनियमित होती हैं इसमें संदेह नहीं; किंतु वर्तमान द्रव्यपर्यायका और द्रव्यके (आत्मद्रव्यके) वर्तमानकालीन अनेक गुणोंकी पर्यायोंका युगपत् नाश होकर अन्य द्रव्यपर्यायरूपसे और अन्यगुणपर्यायोंके रूपसे युगपत् उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंका कथन करना छोड़ दिया है। एक द्रव्यपर्यायमें एक साथ अनेक गुणपर्यायादिकोंका सद्भाव होता है इस वस्तुस्थितिको लेखकमहोदय स्वीकार नहीं करते ऐसा ज्ञात होता है। इस वस्तुस्थितिके अनुसार आगममें पर्यायोंको क्रम-विवर्ती और अक्रमविवर्ती बताया गया है। देखिए –

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहाऽस्ति वस्तु ॥ (कलश २६४)

अर्थ– इसप्रकार अनेक निजशक्तियोंसे अच्छीतरहसे भरा हुआ होनेपर भी जो भाव–पदार्थ अर्थात् आत्मा (अपनी) ज्ञानमात्र-रूपताका त्याग नहीं करना वह इसप्रकार क्रमसे उत्पन्न होनेवाली और अक्रमसे उत्पन्न होनेवाली अनेकरूपताको प्राप्त हुई चिद्रूप वस्तु यहां द्रव्यपर्यायरूप होती है।

इस कलशमें 'क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रम्' यह जो पद है उसके अन्तर्गत 'अक्रमविवर्तिविवर्त' यह जो शब्द है उसका अर्थ 'सहभाविगुण' ऐसा किया गया है। ज्ञान यह आत्माका गुण है। यह अकेला ज्ञानगुण युगपत् उत्पन्न हो सकता है क्या ? युगपदु-त्पत्तिके लिये कमसे कम दो गुणोंका सद्भाव होना आवश्यक है। आत्माका स्वभावभूत भाव वस्तुतः एक ज्ञानगुण ही है और वही सहभावी कहा जाता है। अनादिसे आत्माके साथ रहता आया हुआ होनेसे सभी गुण परस्पर सहभावी होनेसे और उससे उत्पन्न हुआ न होनेसे वह आत्मगुण सहभावी कहा जाता है। विवृत् धातुका अर्थ 'उत्पन्न होना' है। 'अक्रमेण विवर्तते उत्पद्यते इत्येवं शीलः अक्रमविवर्ती। तेऽक्रमविवर्तिनः।' अतः 'अक्रमविवर्तिनः' इस शब्दका अर्थ 'युगपत् उत्पन्न होनेवाले' ऐसा होता है। विवर्त इस शब्दका अर्थ पर्याय (modification) है। अतः इसका अर्थ 'रूपपरिवर्तन' ऐसा होता है। अतः ज्ञानगुण आत्मासे उत्पन्न नहीं होता और वह विवर्तरूप-परिवर्तनरूप भी नहीं होता। इसलिए 'अक्रमविवर्तिविवर्त' इस पदका अर्थ 'सहभाविगुण' न होकर 'युगपत् उत्पन्न होनेवाली पर्यायें' ऐसा ही होता है। इससे पर्यायें 'युगपद्भावी' भी होती हैं यह स्पष्ट हो जाता है। लघुतत्त्वस्फोटमें भी निम्न श्लोक पाया जाता है। देखिए-

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तगुप्तं
चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः।

एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारान्निस्सारमद्य
हृदयं जिन दीर्यतीव ॥९॥ (ल. त. स्फो. २।९)

अर्थ– हे जिनेन्द्र ! इस जगतमें राग और द्वेष इन दोनोंके अतिस्वच्छंदतासे होनेवाले प्रसारसे क्रमसे और युगपत् उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंके कारण अदृश्य होनेसे आपके चैतन्यमात्ररूप ही स्वभावको लोक जानते नहीं। (इसकारण) मेरा दुर्बल हृदय आज मानो विदीर्ण हो रहा है।

कहनेका भाव यह है कि राग और द्वेषका इस संसारमें प्रसार हुआ है और आत्माका शुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती पर्यायोंमें ही डूबा हुआ होनेसे व्यक्त नहीं होनेके कारण लोक उस स्वभावको जान नहीं सकते। यदि वह स्वभाव व्यक्त होता तो लोक उसे जान सकते थे। क्रमनियमित पर्यायें आत्मस्वरूप प्रच्छादक होती हैं और सहभाविगुण आत्मस्वभावोद्घाटक होते हैं। क्रमनियमित पर्यायें और अक्रमविवर्तिगुण (?) अन्योन्यविरोधिस्वभाववाले होनेसे आत्मस्वभाव सुरक्षित कैसे हो सकता है ? दोनोंमें यदि विरोध न होता तो सहभाविगुणोंके समान क्रमनियमित पर्यायें भी आत्मस्वभावको सुरक्षित रख सकती थी। अत: आत्मस्वभावका संरक्षण हो इसलिए क्रमनियमित पर्यायोंको भी सहभाविगुणरूप मानना पडेगा; किंतु क्रमनियमित पर्यायें कदापि सहभाविगुणरूप नहीं हो सकती। अत: अक्रमविवर्तिविवर्तशब्दका अर्थ युगपद्भाविपर्याय ही मानना होगा। आत्माका शुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव क्रमाक्रमविवर्तिपर्यायोंके कारण अदृश्य बना हुआ है। अत: क्रमाक्रमभाविपर्यायोंका अभाव करके और उनको गौण करके शुद्ध आत्मद्रव्यका या उसके स्वभावका अनुभव करना पड़ता है। क्रमनियमित पर्यायोंमें रागद्वेषादिभावोंका अभाव करके और शरीरादिको गौण करके ही आत्मानुभव किया

जाता है। आत्मानुभवनावस्थामें ज्ञानगुणकी ही प्रधानता होती है। इन क्रमाक्रमविवर्तिपर्यायोंमें शुद्ध आत्माका स्वरूप गूढ अर्थात् अदृश्य हुआ होता है। इन पर्यायोंके अभावके विना शुद्ध आत्माके स्वभावका दर्शन नहीं होता। अतः 'गूढ' शब्दका अर्थ 'गुप्त, अदृश्य' ऐसा ही करना पड़ता है। इस प्रमाणसे 'अक्रमविवर्ति-विवर्त' इस शब्दका अर्थ 'युगपद्भाविपर्यायें' ऐसा ही लेना आवश्यक है। इसका अर्थ 'सहभाविगुण' ऐसा होता ही नहीं।

आचार्य अकलंकदेवने राजवार्तिक अ. ४ के अंतमें लिखा है कि –

"स च पर्यायो युगपद्वृत्तः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तः गतीन्द्रियकाययोगवेद-कषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादिदेवादिबाल्यावस्थादि-लक्षणः॥"

स्वर्गीय पं. महेन्द्रकुमारजीने इस उपरितन गद्यका अर्थ करते हुए लिखा है कि–

"पर्यायें दो प्रकारकी हैं – एक सहभाविनी और दूसरी क्रम-भाविनी। गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम आदि सहभाविनी तथा क्रोध, (मान आदि), देव (आदि) बाल्य, यौवन आदि क्रमभाविनी पर्यायें हैं।"

राजवार्तिकके इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि पर्यायें अक्रम-भाविनी–सहभाविनी–युगपद्भाविनी भी हैं। इस आर्षोक्त प्रमाणसे युगपद्भाविनी पर्यायोंकी सिद्धि होनेपर भी इसका

लेखक महोदयने यहां उल्लेख भी नहीं किया है और उसका परिहार भी नहीं किया है।

" एवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यं प्रत्येतव्यं, क्रम–यौगपद्यवृत्तिस्वपर्यायव्यापिजीवत्वविशेषणस्य सत्त्वस्य जीव–द्रव्यत्वात्, तादृक्पुद्गलत्वविशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यत्वात्, क्रमा–क्रमभाविधर्मपर्यायव्यापिधर्मत्वविशेषणस्य धर्मद्रव्यत्वात्, तथा–विधाधर्मद्रव्यत्वोपहितस्याधर्मद्रव्यत्वात्, तादृशाकाशत्वोपाधेरा–काशद्रव्यत्वात्, क्रमाक्रमभाविपर्यायव्यापिकालत्वविशिष्टस्य कालद्रव्यत्वात् । " [– तत्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार, अ ५, सू. २९, पृ. ४३३, नि. सा. संस्करण]

अर्थ– " इसप्रकार जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य जानना, क्योंकि क्रमसे और युगपत् उत्पत्ति होती है जिनकी ऐसी अपनी पर्यायोंको व्यापने–वाला जीवत्व है विशेषण जिसका ऐसा प्राणीका जीवद्रव्यत्व होता है, क्रमसे और युगपत् उत्पत्ति होती है जिनकी ऐसी अपनी पर्यायोंको व्यापनेवाले पुद्गलत्वसे जो विशिष्ट होता है उसका पुद्गलद्रव्यत्व होता है, क्रमसे और युगपत् उत्पत्ति होती है जिनकी ऐसी अपनी पर्यायोंको व्यापनेवाले पुद्गलत्वसे जो विशिष्ट होता है उसका पुद्गलद्रव्यत्व होता है, क्रमसे और युतपत् उत्पन्न होने-वाली धर्मपर्यायोंको व्यापनेवाला धर्मत्व विशेषण होता है जिसका उसका धर्मद्रव्यत्व होता है, उसप्रकारके अधर्मद्रव्यत्वसे जो युक्त होता है उसका अधर्मद्रव्यत्व होता है, उस प्रकारका आकाशद्रव्यत्व उपाधि–विशेषण होता है जिसका वह आकाशद्रव्यत्व होता है,

क्रमसे और अक्रमसे अर्थात् युगपत् उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंको व्यापनेवाले कालत्वसे जो युक्त होता है उसका कालद्रव्यत्व होता है।"

'क्रमयौगपद्यवृत्ति' यह 'स्वपर्याय' इसका विशेषण होनेसे **'अवान्यार्थेऽनेकं बम्'** इस सूत्रके अनुसार यह बहुव्रीहिसमासका रूप है। इसका विग्रह **'क्रमयौगपद्याभ्यां वृत्तिरुत्पत्तिर्येषां ते क्रमयौगपद्यवृत्तयः'** इसप्रकार है। इसका अर्थ 'क्रमसे और युगपत् उत्पत्ति होती है जिनकी' ऐसा है। 'स्वपर्याय' इस शब्दका अर्थ 'अपनी पर्यायें' ऐसा है। 'पर्याय' शब्दका अर्थ 'गुण' नहीं होता। यदि वार्तिकालंकारकार आचार्यमहाराजको 'गुण' का ग्रहण इष्ट होता तो 'स्वगुणपर्याय' इसप्रकार शब्दप्रयोग करते। 'पर्याय' शब्दका अर्थ 'गुण' नहीं है। **'उत्पद्यप्रध्वंसी पर्यायः'** इस लक्षणसे पर्यायकी गुणसे भिन्नता सिद्ध होती है; क्योंकि गुण यावद्द्रव्यभावी होनेसे द्रव्यके समान अनादिनिधन होता है। **'सहभाविनो गुणाः'** इस वचनसे गुण और पर्यायोंकी परस्परभिन्नता सिद्ध होती है। पर्यायें गुणके समान सहभाविनी नहीं होती। जीवत्वादि स्वस्वपर्यायव्यापक होते हैं या स्वस्वगुण-व्यापक होते हैं? वस्तुतः जीवत्वादि स्वस्वपर्यायव्यापक होते हैं। वस्तुतः इस उद्धरणसे भी पर्यायें क्रमभाविनी और अक्रमभाविनी अर्थात् युगपद्भाविनी भी होती हैं यह मन्तव्य सिद्ध हो जाता है।

'अक्रमप्रवृत्त' शब्दसे गुणोंका ग्रहण होता है यह सिद्ध करनेके लिये लेखक महोदयने समयसारकी द्वितीय गाथाकी आत्मख्यातिका एक अंश उद्धत किया है। देखिये—

" क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुण-पर्यायः । "

और वह समय (आत्मा और कोई भी द्रव्य) क्रमरूप (पर्याय) और अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तमान अनेक भाव जिसके स्वभाव होनेसे जिसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है-ऐसा है । " यहांपर वस्तुको गुणपर्यायात्मक कहा है तथा गुणोंका स्वभाव अक्रम व पर्यायोंका स्वभाव क्रमवर्ती कहा है ।

लेखक महोदयने ' क्रमाक्रमप्रवृत्त ' इस समासांशका ' क्रम-रूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान ' ऐसा जो अर्थ किया है वह ठीक समझमें नहीं आता । ' क्रमाक्रम ' शब्दके आगे ' प्रवृत्त ' यह भूतकालवाचक शब्द आया हुआ होनेसे ' **क्रमाक्रमाभ्यां प्रवृत्ताः** ' ऐसा उसका विग्रह होना चाहिये । 'प्रवृत्त' यह भूतकालका रूप होनेसे उसके अर्थका वाचक 'प्रवर्तमान' यह शब्द नहीं हो सकता। ' **क्रमाक्रमाभ्यां प्रवृत्ताः भावाः परिणामाः क्रमाक्रमप्रवृत्तभावाः । त एव स्वस्यात्मनो भावाः परिणामाः यस्य सः । तस्य भावः क्रमाक्रमप्रवृत्तभावस्वभावत्वम् । तस्मात् ।** ' इस विग्रहमें जो स्वभावशब्द का अर्थ ' अपने परिणाम ' ऐसा किया गया है इसका कारण है क्रमनियमित या क्रमप्रवृत्त पर्यायें हैं । ये पर्यायें विभावरूप भी होती हैं । ये पर्यायें जीवके या द्रव्यके स्वभाव नहीं बन सकते । लेखक महोदयकी दृष्टिसे अक्रमप्रवृत्त शब्दका अर्थ गुण है । इस अर्थको ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्यों कि गुण सहप्रवृत्त अर्थात् सहभावी होनेसे उत्पन्न नहीं होते, अपि तु व्यक्त होते हैं । अतः अक्रमप्रवृत्त शब्दसे भी सहभाविनी पर्या-

योंका ही ग्रहण हो जाता है। अब 'उत्संगितगुणपर्यायः' इस पदपर विचार किया जाता है। 'उत्संगितौ गुणपर्यायौ येन स उत्संगितगुणपर्यायः' इस समास विग्रहमें 'गुणपर्यायौ' इस द्वन्द्वसमासका ग्रहण किया है। द्वन्द्वसमास उभयपदप्रधान होता है। इस उभयपदप्रधानताके कारण गुणशब्दकी प्रधानता सिद्ध होती है। 'उत्संगितौ गुणपर्यायौ येन सः' इस बहुव्रीहि समासका अर्थ 'जिसने गुणों का और पर्यायोंका ग्रहण किया है' ऐसा होता है। इस अर्थके अनुसार 'जिसने गुण को ग्रहण किया है' ऐसा अर्थ होता है। अब यहांपर ऐसा प्रश्न उपस्थित है कि वैशेषिकों के मन्तव्यके समान प्रथम द्रव्य उत्पन्न होता है और बादमें वह गुणका ग्रहण करता है क्या ? जिनागमके अनुसार द्रव्यका गुण अनादिसे द्रव्यका सहभावी ही होता है। जब गुण द्रव्यका अनादिसे सहभावी भाव है तब उसका बादमें स्वीकार करना कैसे संभवनीय हो सकता है। अतः 'गुणपर्यायाः' इस का विग्रह 'गुणस्य गुणानां वा पर्यायाः गुणपर्यायाः' इस प्रकार उक्त समासको षष्ठीतत्पुरुष मानकर ही अर्थ करना पडता है। अतः 'उत्संगितगुणपर्यायाः' इसका विग्रह 'उत्संगिताः गुण-पर्यायाः येन सः' इसप्रकार ही करना चाहिये। इस विग्रहके अनुसार 'गुणपर्यायों की ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतः उस वचनका अर्थ 'क्रमसे और युगपत् उत्पन्न होनेवाले नानाविध परिणाम द्रव्यके (जीवके) अपने परिणामसे युक्त होनेके कारण जिसने गुणोंके पर्यायों को ग्रहण किया है' ऐसा होता है। अतः 'अक्रमप्रवृत्त' शब्द गुणोंका विशेषण नहीं माना जा सकता।

उपरितन उद्धरणमें जो भावशब्द है उसपर विचार करना आवश्यक है। भावशब्द सत्त्ववाच्य, पर्यायवाच्य, गुणवाच्य व द्रव्यवाच्य भी है। इस उद्धरणमें वह सत्त्ववाच्य नहीं होता; क्यों कि सत्ता उत्पन्न नहीं होती। वह गुणवाच्य भी नहीं है; क्यों कि गुण सहभावी होने से अनादि निधन होनेके कारण उत्पन्न नहीं होता। वह द्रव्यवाच्य भी नहीं हो सकता; क्यों कि द्रव्य स्व-भाव नहीं हो सकता। वह शब्द पर्यायवाच्य है; क्यों कि वह उत्पन्न होता है। जब भावशब्द पर्यायवाच्य है यह स्पष्ट है तब क्रमसे और युगपत् उत्पन्न हुई पर्यायें ही हैं यह स्पष्ट है। अतः उक्त प्रमाण लेखक महोदयके मन्तव्यका साधक नहीं है। लेखकमहोदयने उक्त प्रमाणका मनमाना अर्थ किया है। क्या इसप्रकार मन्तव्यकी सिद्धि हो सकती है ?

विद्वान लेखक महोदयने अपने ट्रेक्टके पृ १०५ पर लिखा है कि – "प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण है और प्रत्येक गुणकी प्रतिसमय एक पर्याय होती है; इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात् एक साथ अनन्त पर्यायें हो जाती हैं। तथा एक गुणकी अनंत समयोंमें अनंत पर्यायें होती हैं, वे क्रमशः एक एक समयमें एक एक ही होती है।"

इसपर मेरा कहना है कि एक द्रव्य और उसके अनेक गुण इनमें तादात्म्य होनेसे एक द्रव्यकी एक समयमें अनेक पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा क्यों न माना जाय ? यदि 'प्रत्येक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात् एक साथ अनन्तपर्यायें हो जाती है' ऐसा आपका अभिप्राय है और वह ठीक भी है तब उपरितन

उद्धरणमें पाये जानेवाले ' अक्रमप्रवृत्तविचित्रभाव ' इस सामासिक शब्द का अर्थ ' युगपत् उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारकी पर्यायें ' ऐसा होनेपर भी ' अक्रमप्रवृत्त ' शब्दका अर्थ ' गुण ' ऐसा ही क्यों किया जा रहा है ? प्रवृत्त आदि प्रकरणगत समीपस्थित अन्य शब्दों की ओर दृष्टि न रखकर अर्थ क्यों किया गया है ? इसीप्रकार ' इत्याद्यनेक निजशक्तिसुनिर्भरोऽपि ' इस कलशपर विचार करना क्यों छोड दिया ? आपने समयसारको पढ भी लिया है । अत: आपकी यह कृति आपके कदाग्रहका ही फल है ऐसा लगता है। एक द्रव्यकी द्रव्यपर्याय और एक गुणकी गुणपर्याय एक समयमें एक ही होती है इस विषयमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

पृ. १८ पर लेखक महोदयने लिखा है कि–' प्रत्येक द्रव्य की वह परिणमन व्यवस्था व्यवस्थित ही नही, स्वाधीन भी है; किसी अन्यद्रव्यके आधीन नहीं । एक द्रव्य के परिणमनमें दूसरे द्रव्यका कोई भी हस्तक्षेप नहीं है । '

यह मन्तव्य युक्त्यागमविरूद्ध है। प्रत्येक द्रव्य की परिणमनव्यवस्था स्वाधीन भी है और पराधीन भी है। परिणमन उपादानके अधीन होनेसे वह उपादानके स्वाधीन और निमित्तके–सहकारिकारण के मिलनेपर ही उपादानका उपादेयके रूपसे परिणमन होनेसे और उसके अभावमें न होनेसे द्रव्यकी परिणमनव्यवस्था निमित्ताधीन होनेसे पराधीन भी है। निमित्त हाजिर रहनेसे ही कार्यकी–परिणामकी उत्पत्ति नहीं होती। निमित्त जब उपादानकी स्वयं कार्यरूपसे परिणत होनेकी असम–

र्थताको नष्ट करता है, उसमें बलाधान करता है तब ही वह निमित्तकारण कहा जा सकता है। कुम्हारकी योगोपयोगरूपसे होनेवाली सहकारितासे मिट्टी परिणत होकर घटाकार धारण कर सकती है। मिट्टीसे घट बनानेमें कुम्हारके योगोपयोग सहकारी न हो तो और मृत्पिडके पास कुम्हार सिर्फ खडा हो जाये तो घटाकाररूपसे परिणत होनेकी सामर्थ्य से संपन्न होनेपर भी मृत्पिण्ड घटाकारके रूपसे परिणत नहीं होता। वस्तुतः मिट्टी में और कुम्हारमें योग्यताका सद्भाव होनेपर ही कार्यकी–परिणामकी–पर्याय की उत्पत्ति हो सकती है। अतः उपादानकी पर्यायके रूपसे परिणति होनेके लिये निमितकारणके–सहकारिकारण के हस्तक्षेप की आवश्यकता है। उपादानके समान निमित्तकारण–सहकारिकारण कार्यरूपसे परिणमन नही करता। वह सिर्फ उपादानकी असमर्थता को खंडित करता है। अतः लेखक महोदयका उक्त कथन वस्तुस्वभावविरोधी, आगम विरोधी और प्रतीतिविरोधी है यह स्पष्ट हो जाता है।

इसी पृष्ठ १८ पर आगे लिखा है कि– " सर्वश्रेष्ठ दिगंबर आचार्य कुंदकुंदके प्रसिद्ध ग्रंथराज समयसार की गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति नामक टीकामें आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं–

" जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः। "

प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसप्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं॥" 'यहां समस्त जीवों और अजीवोंके परिणमनको क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगतमें और है ही क्या ? जीव और अजीव द्रव्योंके समूह का नाम ही तो विश्व अर्थात् जगत है। इसप्रकार समस्त जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गहा है।'

इस उद्धरणके द्वारा लेखक महोदयने क्रमनियमित और क्रमबद्ध इन शब्दोंको एकार्थवाचक बतानेका प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नके कारण यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगममें 'क्रमबद्ध' इस शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता। यह शब्द खास तौरसे निर्माण किया गया है। इस शब्दकी निर्मितिकी क्रमनियमित शब्दका आगममें सद्भाव होनेपर क्या आवश्यकता थी ? ये दोनों शब्द वस्तुतः भिन्नार्थक हैं यह और 'क्रमबद्ध' शब्द सिद्धान्तघातक है यह इसके पूर्व बता दिया गया है।

सहकारिसामग्रीके अभावमें लोह स्वयमेव लोहभस्मके रूपसे परिणत नहीं होता। लोहसे लेकर लोहभस्मतक बीचमें जो अनेक परिणतयां होती है वे भी सहकारिसामग्रीके द्वारा ही नियमित होती है। सहकारिसामग्रांके अभावमें वें परिणतियां नहीं हो सकतीं। इन परिणतियोंका क्रम भी निमित्ताधीन होता है।

इसके पूर्व ही बताया गया है कि एक द्रव्यकी एक द्रव्य-पर्याय और एक गुणकी एक गुणपर्याय ही एक समयमें उत्पन्न होती है। उसीप्रकार यह भी बताया गया है कि एक द्रव्यके अनेक गुणोंकी एकसाथ परिणतियां होती हैं।

पृष्ठ १९ पर कहा है कि– "'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' एकार्थवाची ही है। जैसा कि जैनतत्त्वमीमांसा में स्पष्ट किया गया है–

'प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें ही होता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें क्रमनियमित हैं। एकके बाद एक अपने अपने स्वकालमें निश्चय उपादानके अनुसार होती रहती हैं।'

यहांपर 'क्रम' शब्द पर्यायोंकी क्रमाभिव्यक्तिको दिख-लानेके लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्यायका स्वकाल अपने अपने निश्चय उपादानके अनुसार निय-मित है–यह दिखलानेके लिए दिया गया है।"

उपादानके निश्चय उपादान और व्यवहार उपादान ये दो भेद मेरे देखनेमें नहीं आये हैं। आगममें ये दो भेद आपके देखनेमें आये हो तो कृपया वह आगमका उद्धरण पेश कीजिये। अशुद्ध कार्यका उपादान निश्चयसे अशुद्ध द्रव्य ही होता है और शुद्ध-कार्यका उपादान निश्चयसे शुद्ध द्रव्य ही होता है। अशुद्ध द्रव्य अशुद्ध कार्यका उपादान उपचारसे होता है क्या ? अशुद्ध कार्यका उपादान निश्चयसे शुद्ध द्रव्य होता है क्या ? रागादिविभावभाव-रूप अशुद्ध कार्योंका उपादान निश्चयसे शुद्ध आत्मद्रव्य ही होता है

क्या ? प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें ही होता है यह कथन ठीक है; क्यों कि कार्यके कालकी निश्चिति निमित्तकारणके द्वारा की हुई होती है ? घटपर्यायकी उत्पत्तिके कालका निश्चय कुम्हारके अधीन है। कुम्हार यदि घटनिर्मितिके कार्य को बीचमें ही अर्थात् घटोत्पत्तिके पूर्व कालमें ही छोड़ बैठा तो घटकार्यकी उत्पत्तिका काल कैसे निश्चित होता है ? उसकी निर्मिति के कालका निश्चय न होना घटकार्यकी निष्पत्ति न होना है। रागादिरूप विभावभावोंकी उत्पत्तिके कालका निश्चय कर्मोदयरूप या कर्मरूप निमित्तके अधीन होता है। बद्धकर्मके उदयका काल स्थितिबंधके अधीन होता है। जब स्थितिबंध होता है तब ही कर्मबंधके उदयका काल निश्चित होता है। उस निश्चित कालमें ही उदयावस्थापन्न कर्म जीवकी विभावरूप परिणामकी-पर्यायकी-कार्यकी उत्पत्तिका कारण होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्योत्पत्तिकालका निश्चय निमित्ताधीन होता है। शुद्ध द्रव्यकी शुद्धपर्यायोंकी उत्पत्तिके कालका निश्चय भी कालद्रव्यरूपनिमित्तके अधीन ही होता है; क्यों कि कालद्रव्यके समय भी एकके बाद दूसरा इस-प्रकार आते हैं।

जैनतत्त्वमीमांसाके उक्त उद्धरणसे 'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' एकार्थवाची ही हैं यह जो निष्कर्ष निकाला गया है वह ठीक नहीं है; क्यों कि उक्त उद्धरणमें सिर्फ 'क्रमनियमित' शब्द पाया जाता है, 'क्रमबद्ध' शब्द नहीं पाया जाता। तत्त्व-मीमांसाकारका मन्तव्य यद्यपि आपकी दृष्टिमें प्रमाणभूत है तो भी सभी विद्वानोंकी दृष्टिमें प्रमाणभूत नहीं है। मेरी दृष्टिमें उनका कथन प्रमाणभूत इसलिये नहीं है कि वे शास्त्रीय प्रमाणोंको तोड

मरोड़कर उनसे स्वानुकूल अर्थ निकालनेका प्रयत्न किया करते हैं। इतना ही नहीं, अपि तु वे शास्त्रीय प्रमाणोंको ठुकरा भी देते हैं। अपनी 'वर्ण, जाति और धर्म' नामक कृतिमें 'वर्ण-नार्हद्रूपायोग्यानाम्' यह जैनेन्द्रसूत्र प. पू. आ. पूज्यपादस्वामीका नहीं है ऐसा सिर्फ कहा है, उस अपने मन्तव्यकी उन्होंने सिद्धि नहीं की है। अतः मैं ऐसे व्यक्तिके वक्तव्यको प्रमाणभूत नहीं मान सकता। प्रकृत उद्धरणमें उन्होंने जो 'क्रमनियमित' यह शब्द प्रयुक्त किया है उसका स्पष्टीकरण उन्होंने अपनी 'जैनतत्त्वमीमांसा' इस अपनी कृतिमें किया नहीं है। अतः इस उद्धरणके अनुसार 'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' इन शब्दोंकी एकार्थता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि लेखक महोदय शास्त्रीय प्रमाणके द्वारा और इस शब्दके स्पष्टीकरणके द्वारा उक्त दोनों शब्दोंकी एकार्थता सिद्ध करते तो अच्छा हो जाता था। लेखक महोदयने "'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्यायका स्वकाल अपने निश्चय उपादानके नियमित है-यह दिखलानेके लिए दिया गया है' ऐसा लिखकर निमित्तको पूर्णरूपसे उड़ा देनेका प्रयत्न किया है। जैनतत्त्वमीमांसाकारने भी यही किया है। दोनोंने निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध नहीं की है। ऐसी स्वकपोलकल्पित और किसी भी प्रमाणके द्वारा सिद्ध न की हुई बातको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आगे लिखा है कि- "'वर्तमानमें जिस अर्थको 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमित-पर्याय' का वही अर्थ है।'

यह निष्कर्ष नितरां गलत है। इस वाक्यके द्वारा लेखक महोदय अप्रमाणभूत 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रामाणिकता को सिद्ध करना चाहते हैं। ये दोनों शब्द भिन्नार्थक तो है ही, किंतु 'क्रमबद्धपर्याय' शब्दसे सिद्धान्तविरोध भी हो जाता है। 'क्रमबद्धपर्याय' इस शब्दको स्वीकार करनेसे जो दोष अभिव्यक्त होते हैं उनको इसके पूर्वमें ही बता दिया गया है।

आगे लिखा है कि– ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहां मात्र यह नहीं कहा है कि पर्यायें क्रमसे होती हैं, अपि तु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रममें होती हैं। आशय यह है कि "जिस द्रव्यकी, जो पर्याय, जिस कालमें, जिस निमित्त, व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होती है; उसद्रव्यकी, वह पर्याय, उसी कालमें उसी निमित्त, उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है; अन्यथा नही"–यह नियम है।

इस उद्धरण में विद्वान् लेखकने पुरुषार्थका उल्लेख किया है उससे ऊपरका कथन जीवविषयक है यह स्पष्ट हो जाता है। पर्यायोत्पत्तिका, पर्यायोत्पत्तिकालका, नोकर्मरूप निमित्तका और पुरुषार्थका नियमन उदयावस्थापन्न पूर्वबद्ध कर्म ही करता है। उनका नियमन न उपादानभूत आत्मद्रव्य करता है और न जिनेन्द्र भी करते हैं। कर्मोदयका काल ही जीवकी पर्यायकी उत्पत्तिका काल होता है, कर्मोदयके समय नोकर्मरूप निमित्त मिल जानेसे कर्म ही नोकर्मरूप बाह्य निमित्तका नियमन करता है और कर्मोदयानुसारिणी बुद्धिके अनुसार जीव पुरुषार्थ करता है। कहा भी है कि– "तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहा–

यास्तादृशास्सन्ति यादृशी भवितव्यता ।। ' अर्थ- " जिसप्रकारके कर्मका उदय होता है उसप्रकार की बुद्धि होती है, व्यवसाय भी कर्मोदयानुसार मिलता है और मित्र भी उसीप्रकारके मिलते हैं। [इस श्लोकमें जो ' भवितव्यता ' यह शब्द है वह कर्मवाचक है; नियतिवाचक नहीं है] इसप्रकार पर्यायोंकी उत्पत्तिका क्रम कर्मनियमित होता है और उपादानके अनुसार नियमित नहीं होता।

पृष्ठ २० पर कहा है कि- जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा गया है:-

" जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।।३२१।।
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।।३२२।।
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ।।३२३।।

जिस जीवके, जिस देश में, जिस कालमें, जिस विधानसे जो जन्म अथवा मरण जिनदेवने नियतरूपसे जाना है; उस जीवके, उसी देशमें, उसी कालमें, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।

इसप्रकार निश्चयसे जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है; और जो उसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। "

ऊपर जो गाथाका अर्थ दिया है वह अर्थ पं. कैलाशचंद्र शास्त्रीजीने किया है। उसी अर्थको विद्वान् लेखकने ज्यों के त्यों उद्धृत किया है। इस अनुवाद में 'नियतं' शब्दका अन्वय 'जिणेण णादं' इन पदोंके साथ घटित किया गया है। यदि ऐसा अन्वय घटित न किया जाता तो जीवोंके जन्ममरणादि को जिनेन्द्रभगवान् नियत रूपसे-निश्चितरूपसे नहीं भी जानते ऐसा अर्थ होता है क्या ? ऐसा अर्थ करनेसे भगवान् की सर्वज्ञता बाधित हो जाती है। वस्तुतः जिनेन्द्र जो कुछ जानते हैं वह वे नियतरूपसे-निश्चितरूपसे ही जानते हैं। अतः 'नियतं' इस शब्दको अव्यय समझकर उसका 'णादं' के साथ अन्वय घटित करना उचित नहीं है। संस्कृत टीकामें 'नियतं निश्चितं यद् जन्म अवतरणं उत्पत्तिर्वा अथवा मरणं' इसप्रकार 'नियतं' शब्दका अन्वय 'जन्म' और 'मरणं' के साथ घटित किया है। भावार्थमें श्रीमान् पं. कैलाशचंद्रजीने जन्म और मरणके साथ ही अन्वय घटित किया है। देखिए- 'सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है।' अतः 'जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि नियत हैं' यह स्पष्ट हो जाता है। ये स्वयं नियत नहीं होते। उनकी नियतताका कारण प्रार्गजित उदयागत कर्म होता है। अतः जन्म, मरण आदिके काल आदिका नियामक कर्म ही होता है यह स्पष्ट हो जाता है। निमित्तके अभावमें जीवरूप उपादान अपने जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि पर्यायोंका स्वयं नियामक नहीं होता-उसका उदयापन्न कर्म ही उन पर्यायोंका नियामक होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्न गाथा देखिए-

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥३१९॥

अर्थ– न तो कोई जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार या अपकार करते हैं। (अनुवादक श्री. पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्री।) भावार्थमें पं. जीने लिखा है कि–जीव जो अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका उदय ही जीवको सुख, दुःख, आरोग्य अथवा रोग आदि करता है। इसीसे आचार्य अमितगतिने सामायिकपाठमें कहा है– ' इस आत्माने पूर्व जन्ममें जो कर्म किये हैं उसका शुभाशुभ फल उसे इस जन्ममें मिलता है। यदि कोई देवी देवता शुभाशुभ कर सकता तो स्वयं किये हुए कर्म निरर्थक हो जाते हैं। अतः अपने किये हुए कर्मोंके सिवा प्राणीको कोई भी कुछ नहीं देता, ऐसा विचार कर कोई देवी देवता कुछ देता है इस बुद्धिको छोड दो ' ॥

इससे स्पष्ट होता है कि सुखदुःखात्मक परिणामरूप पर्यायोंका नियामक प्राग्बद्ध कर्म ही होता है, उन पर्यायोंका नियामक स्वयं उपादानकर्तृभूत जीव नहीं होता। रागादिपर्यायों की निमित्तता उपादानभूत जीव की नहीं होती। उन भावोंकी उत्पत्तिमें उदयापन्न कर्म ही निमित्तकारण–सहकारिकारण होता है। विभावपर्यायोंके रूपसे परिणत होनेकी क्षमता–योग्यता जीवमें होती है तो भी वह स्वयं उन अपनी पर्यायोंके रूपसे परिणत होनेमें असमर्थ होता है। उसकी असमर्थताका खंडन सहकारिकारण जब करता है तब ही वह अपनी रागद्वेषादिरूप

पर्यायोंके रूपसे परिणत हो सकता है। वह सहकारिकारण पूर्व-बद्ध कर्म होता है। अतः जीवकी पर्यायोंका नियामक सहकारि-कारण होनेवाला कर्म ही होता है यह स्पष्ट हो जाता है। इस विषयके समर्थनमें समयसारजीका 'न जातु रागादिनिमित्तभावं आत्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। **तस्मिन्निमित्तं परसंग एव** वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥' यह कलश अवश्यमेव पठनीय है।

गाथा ३२१ का उत्तरार्थ कहता है कि जिनेन्द्रभगवान्ने जीवका निश्चित जन्म और निश्चित मरण जाना है। जिनेन्द्र-भगवान्ने जीवका निश्चित जन्म और निश्चित मरण जाना है इसलिये भगवान् ही जीवके जननमरणके नियामक है और जीव भी नियामक है ऐसा नहीं हैं। जनन-मरणका नियामक पूर्व बद्ध आयुकर्म है। बद्धायुकर्म जब उदयमें आता है तब जीवका जन्म होता है और वह जब क्षीण हो जाता है तब उसका मरण होता है ऐसा आगमका कथन है। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यने समय-सारमें कहा है कि-

आऊदएण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ॥२५१॥
आउक्खएण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ॥२४८॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
जो मरइ जो य दुहिदो जायदि
कम्मोदएण सो सव्वो ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि कम्मोदएण चेअ
खलु ॥२५८॥

अर्थ– जीव आयुकर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं ॥२५१॥ आयुकर्मके क्षयसे जीवोंका मरण होता है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥२४८॥ यदि सभी जीव कर्मोदयसे सुखी और दुःखी होते हैं और जब हे जीव ! तू कर्म देता नहीं तब तेरे द्वारा वे सुखी और दुःखी किये गये यह कैसे (संभव है)? ॥२५४॥ जो जो मरता है और जो जो दुःखी होता है वे सभी कर्मोदयसे ही मरते हैं और दुःखी होते हैं ॥२५७॥ जो मरता नहीं और जो दुःखी होता नहीं वह भी वस्तुतः कर्मोदयसे ही ॥२५८॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जन्म, मरण, सुख, दुखः मरणाभाव और दुःखाभाव इत्यादि सभी पर्यायोंका नियामक कर्म है- दूसरा कोई भी उनका नियामक नहीं है और पर्यायोंके रूपसे परिणत होनेवाला स्वयं जीव भी उनका नियामक नहीं है ।

आचार्यप्रवर अमृतचंद्रसूरिने भी कहा है कि–

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय–
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

अर्थ– मरण, जीवित, सुख, दुःख आदि सर्व निश्चितरूपसे (जीवके) अपने कर्मोदयसे होता है । एक जीव दूसरे जीवके मरण, जीवित, सुख, दुःख कर सकता है ऐसा कहना अज्ञान है ।

प. पू. अमृतचंद्राचार्य के वचनसे भी कर्मकी ही पर्याय-नियामकता सिद्ध होती है। अतः उक्त गाथाओंके अनुसार भी कर्मकी जीवपर्यायनियामकताका परिहार नहीं हो सकता। गाथा में 'णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा' ये जो शब्द हैं उनमेंसे जन्म और मरण इन शब्दोंसे कर्मकी जीवपर्यायनियामकता की सिद्धि होती है; क्यों कि आयुकर्मके उदयके विना जीवका जन्म नहीं होता और उस बद्ध आयुकर्मके क्षयके विना मरण नहीं होता। अतः इन गाथाओं के आधार से कर्मकी सहकारिकारण-ताका और जीवपर्यायनियामकताका परिहार नहीं किया जा सकता।

आगे लिखा हैं कि-जिनागममें और भी अनेक स्थानोंपर इस प्रकारका भाव व्यक्त किया गया है-

" प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः
तत् परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः

जिसे, जहां, जिस कारणसे, जिस प्रकारसे, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे, वहां, उसी कारणसे, उसी प्रकार वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।"

मेरी दृष्टिमें उक्त श्लोकका अर्थ निम्नप्रकार है- पूर्वमें ही जो, जिसके द्वारा, जहां, जिसप्रकार और जिससे जो प्राप्त करने योग्य होता है वह, उसके द्वारा वहां, उसप्रकार, उससे अवश्य प्राप्त किया जाता है।

इस श्लोकमें जो 'प्राक्' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है उससे पूर्वबद्ध कर्मका बोध होता है। लेखकमहोदयने श्लोकके

'प्रागेव' इस अंशका अनुवाद और स्पष्टीकरण करना छोड दिया है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ में 'जम्मं' और 'मरणं ये शब्द पाये जाते हैं। भगवत्कुंदकुंदाचार्यने समयसारमें जीवका जन्म आयुकर्मके उदयसे होता है और मरण बद्धायु क्षीण हो जानेपर होता है ऐसा स्पष्टरूपसे कहा है। अतः 'जम्मं' और 'मरणं' इन शब्दोंसे जन्ममरणके कारणभूत आयुकर्मके उदयका और क्षयका ज्ञापन हो जाता है। जिस समय आयुकर्मका बंध होता है उस समय ही उसके निश्चित कालका, प्रकारका और प्रदेश का निर्णय हो जाता है। भगवान् जीवके जन्मके और मरण के निश्चित कालको, प्रकारको और प्रदेशको जानते हैं। जीवके कर्मनियमित निश्चित कालका, प्रकारका और प्रदेशका निवारण या परिहार इंद्र या जिनेंद्र भी नहीं कर सकते; क्यों कि उन दोनोंमें इसप्रकारकी सामर्थ्यका अभाव होता है। जो जीव कर्मकी इस विशेष सामर्थ्यको जानता है और जिनेंद्रदेवादिके इस प्रकारकी सामर्थ्यका अभाव मानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। जो एकान्ततः नियतिवादी होता है वह मिथ्या-दृष्टि होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ में जो 'नियत' यह शब्द है उससे नियतिवादका ग्रहण नहीं हो सकता; क्यों कि नियतिवादि कहता है कि जो होनेवाला होता है वही कारणके अभावमें ही होता है। नियतिवादका स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्ड में निम्नप्रकार दिया है। देखिए-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ– जो, जब, जिससे, जिसप्रकार; जिसकी नियमसे होनेवाला होता है वह उस समय, उससे, उसप्रकार, उसके नियमसे होता ही है ऐसा कहना नियतिवाद है।

को करदि कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं ।
विविहत्तं तु सहाओ, इदि सव्वं पि सहावो त्ति ॥८८३॥

अर्थ– कांटोंका तीक्ष्णत्व कौन करता है? मृग, पक्षी आदिकोंमें पाई जानेवाली अनेक प्रकारता कौन करता है? उत्तर– स्वभाव करता है। इसप्रकार सभीमें स्वभाव ही है। इसीका नाम नियतिवाद–स्वभाववाद है?

इसप्रकार जीवके जन्म और मरणके निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर अकर्महेतुक मानना और अन्यजीवहेतुक भी न मानना नियतिवादके विना नहीं बन सकता; क्योंकि ऐसी अवस्थामें जीवका जन्म और मरण स्वभावतः होता है ऐसा माननेका प्रसंग खड़ा हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे नियतिवादको माननेकी आपत्ति खडी हो जाती है। लेखकमहोदयने स्वयं समयसारके पाठी होनेपर भी समयसारकी २४८, २५१, २५४, २५७, २५८ क्रमांककी गाथाओंको और 'सर्वं सदैव नियतं…' और 'न जातु रागादिनिमित्तभावं…' इन कलशोंको स्पर्श क्यों नहीं किया? इसका कारण है जीवके पर्यायोंकी उत्पत्तिमें निमित्त कुछ भी नहीं करता, वे पर्यायें स्वभावतः उत्पन्न होती हैं यह बताना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखकमहोदय प्रच्छन्नरूपसे नियतिवादके पोषक हैं और वे इस नियतिवादको

लोगोंके गले उतारना चाहते हैं। 'क्रमनियमित' शब्दका प्रयोग न करके 'क्रमबद्ध, शब्दका जो प्रयोग किया जा रहा है उसका कारण प्रच्छन्नरूपसे नियतिवादका समर्थन करना ही है।

पृ. २० पर आगे भैय्या भगवतीदासका निम्नांकित पद्य उद्धृत किया गया है। देखिए –

"जो जो देखी वीतरागने, सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों हि, काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढ़ै नहीं घटसी, जो सुखदुखकी पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूडो, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥"

(भैय्या भगवतीदास)

पृ. २१ पर उद्धृत किया पद्य निम्नप्रकार है –
यथा

"जा करि जैसे जा हि समयमें, जो होतव जा द्वार।
सो बनि है टरि है कछु नाहीं, करि लीनों निरधार॥
हम को कछु भय ना रे, जान लियो संसार॥ टेक॥"

– बुधजन

"सम्यग्दृष्टिके ऐसा विचार होय है – जो वस्तुका स्वरूप सर्वज्ञने जैसा जान्या है, तैसा निरन्तर परिणमे हैं, सो होय है। इष्ट–अनिष्ट मान दुखी सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तै दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।" –

पं. जयचंदजी छावडा

" बहुरि सम्यग्दृष्टिके ऐसा निश्चय है– जिस जीवकै जिस कालमें जिस विधान करके जन्म वा मरण वा लाभ–अलाभ सुख-दुःख होना जिनेन्द्र भगवान् दिव्यज्ञानकरि जान्या है, तिस जीवके तिस देशमें तिस कालमें तिस विधान करके जन्म–मरण लाभ–अलाभ नियमसे होय ही, ताहि दूर करने कू कोऊ इन्द्र अहमिन्द्र जिनेद्र समर्थ नाहीं है।" – पं. सदासुखजी कासलीवाल

उक्त प्रकरणोंमें प्रायः सर्वत्र ही सर्वज्ञके ज्ञानको आधार मानकर भविष्यको निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होनेका और निर्भय रहनेका उपदेश दिया गया है। स्वामी कार्तिकेयने तो ऐसी श्रद्धावालेको ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इसप्रकार नहीं माननेवालेको मिथ्यादृष्टि कहनेमें भी उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं हुआ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि '**क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धिमें सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है।**

अब उक्त उद्धरणोंपर विचार किया जाता है– स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके उद्धरणसे लेकर पं. सदासुखजीके रत्नकरंडश्रावकाचारके उद्धरणतकके उद्धरणोंमें से किसी भी उद्धरणमें पर्यायोंकी क्रमबद्धताका निर्देश नहीं है। दूसरी बात यह है कि उनमें पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तताका–सहकारिताका प्रतिषेध भी नहीं किया गया है। सर्वज्ञ भगवान् जीवकी भूत, वर्तमान और भविष्यत् पर्यायोंको जानते हैं और उनके उपदेशके द्वारा जीव अपनी भविष्यत्पर्यायोंको जानते हैं। भगवान् जीवोंके भाविपर्यायोंके ज्ञाता होते हैं। उनके ज्ञातृमात्रत्वके कारण 'क्रमबद्धपर्याय'

की सिद्धि कैसे हो सकती है? यह सिद्धि प्रत्यक्षप्रमाणसे नहीं हो सकती है। यदि अनुमानसे होती हो तो प्रतिज्ञा, हेतु, उदारण बताईये अर्थात् पक्ष कौनसा, हेतु कौनसा और उदाहरण कौनसा, यह बताईये। जीवके द्वारा अपने परिणामके द्वारा किये जानेवाले स्थितिबंध और अनुभागबंधको जानकर बद्धकर्मके उदयकालको जाननेवाले होनेसे जीवकी पर्यायका काल, देश, स्वरूप और प्रकारको जानते हैं। वह उनका ज्ञान कदापि मिथ्या नहीं होता। अतः भगवान् जीवकी भाविपर्यायको यथार्थरूपसे जानते हैं इसमें संदेह नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि जीवकी जो भाविपर्याय उत्पन्न होती है वह कर्मोदयादिरूपनिमित्तकारणके अभावमें होती है क्या? यदि ऐसा ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान्ने कर्मसिद्धान्तका उपदेश ही क्यों दिया है? स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकार आचार्यमहाराजने 'उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि' इस वचनके द्वारा शुभाशुभकर्मको उपकारका और अपकारका कर्ता क्यों माना? क्या भगवान् कर्मोदयादिनिमित्तक पर्यायको नहीं जानते? यदि जानते है तो कर्मका विशिष्ट प्रकारसे प्रतिषेध क्यों किया जा रहा है? निमित्तका कार्योत्पत्तिके समय सिर्फ हाजिर रहना मानना उसका प्रकारान्तरसे प्रतिषेध करना नहीं है क्या?

समयसारजीकी २५१, २४८, २५४, २५७, २५८ इन क्रमांकोंकी गाथाएं कर्मकी निमित्तकारणताकी सिद्धि करती हैं। इन गाथाओंको लेखकमहोदय मानते नहीं क्या? भगवत्कुंदकुंदाचार्यके इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सर्वज्ञ जीवोंके जिन भाविपर्यायोंको जानते हैं उनकी उत्पत्ति कर्मनिमित्तक होती

है। अतः पर्यायोंकी क्रमिकताका नियमन कर्म करता है इस अभिप्रायको किसी भी प्रकारसे बाधा नहीं पहुंचती और लेखक-महाशयके द्वारा पेश किये गये प्रमाणोंसे पर्यायोंकी क्रमबद्धताकी सिद्धि भी नहीं होती। भैय्या भगवतीदास, बुधजन, पं. जयचंद्रजी और पं. सदासुखजी कासलीवाल इनके अभिप्रायोंसे भगवान्‌के सिर्फ सर्वज्ञत्वकी-सर्वज्ञताकी सिद्धि होती है। 'क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धिमें सर्वज्ञता प्रबल हेतु है' यह लेखकमहोदयका मनमाना अभिप्राय है, उससे सर्वज्ञताका हेतुत्व प्रमाणसिद्ध नहीं है।

सर्वज्ञत्व प्रमाणसिद्ध होनेसे उसके विषयमें संदेह न होनेके कारण लेखकमहोदयसे इस विषयमें चर्चा उठानेकी आवश्यकता नहीं जंची। फिर भी जहां मतभेद हुआ वहां मुझे अपनी लेखनी चलानी पडी है। अपने ट्रेक्टके पृ. ३१-३२ पर लेखकमहोदयने लिखा है कि- "भविष्यमें कहां क्या होगा उसे वर्तमानमें वर्तमानवत् स्पष्ट देखते-जानते थे। अतः उन्होंने उसी समय बारह वर्ष बाद द्वारका जलती हुई स्पष्ट देखी थी। उसमें बारह वर्ष बाद कैसी लपटे उठेंगी उन्हें उस समय स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उनकी वाणीमें तो सहज ही वह तथ्य उजागर हो रहा था।

उन्होंने तो उसे जलाया था ही नहीं, परंतु अन्य किसीने भी उसे नहीं जलाया था; क्योंकि उसमें स्वयं उपादानगत ऐसी योग्यता थी कि वह स्व समयमें जल जावेगी। तथा उसका निमित्त कौन होगा यह भी योग्यतामें शामिल था। उसमें पर का कोई कर्तृत्व नहीं था; क्योंकि जिन निमित्तोंसे वह जली वे स्वयं भी नहीं चाहते थे कि द्वारका जले। इस उपादानगत

ध्रौव्यांशकी ओर जगत् ध्यान नहीं देता। इसीकारण जगत्का सहज परिणमन उसकी समझमें नहीं आता।

यच्चान्यदुक्तम्—एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणात् द्वितीयक्षणेऽज्ञः स्यात् तदप्यसम्बद्धम्। यदि हि द्वितीयक्षणेऽर्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदायं दोषः। न चैवम्, अनन्तत्वात्तद्द्वयस्य। पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्नाः न वर्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा। साप्युत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना, न भूततया। उत्तरकालं तु तद्विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्नाः। यदा हि यद्धर्मविशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते, नाऽन्यथा, विभ्रमप्रसंगात् इति कथं गृहीतग्राहित्वेनाप्यस्याप्रामाण्यम्।" (प्र. मा. पृ. २६०, नि. सा. संस्करण)

"यह जो अन्य कथन किया है—एकक्षणमें ही सभी अर्थों-को ग्रहण करनेसे अर्थात् जाननेसे दूसरे क्षणमें (भगवान सर्वज्ञ) अज्ञ हो जावेंगे—वह भी असंबद्ध है। यदि द्वितीय क्षणमें अर्थोंका और उनके ज्ञानका अभाव हो गया तो यह अज्ञताका दोष उत्पन्न होगा। ऐसा नहीं है; क्योंकि ज्ञेय पदार्थ और उनका ज्ञान अनन्त-अविनश्वर होता है। पूर्वकालमें भावि अर्थ भाविरूपसे भविष्य-कालमें उत्पन्न होनेवालेके रूपसे जाने गये, वर्तमानरूपसे या उत्पन्नरूपसे नहीं जाने गये। उत्तरकालमें भवितव्यताके विपरीत-तासे अर्थात् भूतरूपसे वे भावी अर्थ जाने गये। जब वस्तु जिस धर्मसे युक्त होती है तब सर्वज्ञके ज्ञानमें भविष्यमें उत्पन्न होने-वाली आदिरूपसे सर्वज्ञके ज्ञानमें प्रतिभासित होती है, अन्य प्रकारसे नहीं; क्योंकि अन्यप्रकारसे विभ्रमका प्रसंग आता है। इसप्रकार गृहीतग्राहित्वके कारण इस सर्वज्ञके ज्ञानका

अप्रामाण्य कैसे हो सकता है? (सर्वज्ञका ज्ञान गृहीतका ही ग्रहण करता है यह उक्त प्रकारसे सिद्ध न होनेसे अप्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता।) "

इससे लेखकमहोदयका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। 'भविष्यमें कहां क्या होगा उसे वर्तमानमें वर्तमानवत् स्पष्ट देखते–जानते थे' इस वाक्यका अभिप्रेत अर्थ सर्वज्ञ भविष्यकी बातें सुतरां स्पष्टरूपसे देखते–जानते थे इसप्रकार होता है।

भगवान् नेमिनाथने भविष्यकालमें होनेवाले द्वारकादाहको स्पष्टरूपसे जान लिया था। लेखकमहोदयका 'उन्होंने तो उसे जलाया था ही नहीं; परंतु अन्य किसी ने भी नहीं जलाया था, क्योंकि उसमें स्वयं उपादानगत ऐसी योग्यता थी कि वह स्वसमयमें जल जावेगी' यह वाक्य चिन्त्य है। भगवान् नेमिनाथने द्वारकाको जलाया नहीं था यह बात सत्य है, ठीक है। द्वारकाका जल जाना भी ठीक है। द्वारकारूप उपादानमें जल जानेकी योग्यता थी यह भी ठीक है; परंतु 'उसमें परका कोई कर्तृत्व नहीं था, क्योंकि जिन निमित्तोंसे वह जली वे स्वयं भी नहीं चाहते थे कि द्वारका जले' यह कथन उचित नहीं मालूम होता। द्वारकादहन का वास्तविक निमित्तकारण द्वीपायनमुनिका उद्रिक्त क्रोधकषाय था अर्थात् द्वीपायन मुनि ही उसके निमित्त-कारण थे। वे भी द्वारकाको जलाना नहीं चाहते थे। निमित्त-कारण होनेके लिए इच्छाकी आवश्यकता होती है ऐसा नहीं है। जीवकी विभावपरिणतिका जो कर्मोदय निमित्तकारण होता है क्या वह इच्छापूर्वक निमित्तकारण होता है? पहाड़की चोटीसे गिरनेवाले पत्थरके कारण दूसरा पत्थर जब गिरता है तब दूसरे

पत्थरकी नीचे गिरनेकी क्रियाकी उत्पत्तिमें चोटीसे गिरनेवाला पत्थर इच्छापूर्वक निमित्तकारण होता है क्या ? अतः द्वीपायन मुनि द्वारका जलाना नहीं चाहते थे इतने मात्रसे उनका द्वारकादाहमें निमित्तकर्तृत्व नहीं था यह कथन निमित्तकी अकिंचित्करताकी सिद्धि करनेके विषयमें अकिंचित्कर सिद्ध होता है। द्वीपायन मुनिके क्रोधका निमित्तकारण कुत्ता था। वह भी मुनिकी क्रोधरूपसे परिणति करना नहीं चाहता था, जैसे उन्मत्त हुए यादव भी नहीं चाहते थे। ये यादव द्वारकादाहके परंपरासे निमित्त–कारण थे। अतः उनका निमित्तकारणत्व उपचरित था, मुख्य नहीं था। सिर्फ द्वारकारूप उपादानकी योग्यतासे द्वारका जल गयी थी यह कथन दुरभिनिवेषका फल है। 'द्वारका दाहका निमित्त कौन होगा उस योग्यतामें अर्थात् उपादानभूत योग्यतामें शामिल था' इस प्रतिपादनका अभिप्रेत अर्थ क्या है? भगवानने द्वारकादाहको जानते समय उसके निमित्तको भी जाना था। उन्होंने द्वारकादाहके मुख्य निमित्तकारण द्वीपायन होंगे यह भी जान लिया था। ऐसी स्थितिमें 'उसका निमित्त कौन होगा–यह भी उस योग्यतामें शामिल था' इस वाक्यका अर्थ क्या है यह समझना कठिन है। लेखक महोदय निमित्तकी अकिंचिरताकी सिद्धि करनेका प्रयत्न बार बार कर रहे हैं, कार्योत्पत्तिके समय जब वे निमित्तका उल्लेख करते हैं तब उनके अभिप्रायसे निमित्त सिर्फ हाजिर रहता है, उपादानके साथ सहकार्य नहीं करता। भगवान्‌ने यह भी जाना था की द्वीपायनमुनिने कौनकौनसे कर्मोंका बंध कर लिया था और कौन कौन निमित्तकारण होनेवाले थे। उसीप्रकार उस समयकी अन्य घटनाएं जान ली थी। दाहमें परका कोई कर्तृत्व नहीं था यह लेखकमहोदयका कथन मनमाना है।

पृष्ठ ३२ पर आगे उन्होंने लिखा है कि – "भगवान आदिनाथने मारीचके बारेमें एक कोड़ाकोडी सागर तक कब क्या घटित होनेवाला है – सब कुछ बता ही दिया था। क्या आप उसकी सत्यतामें शंकित हैं? क्या वह सब–कुछ पहिलेसे निश्चित नहीं था? असंख्य भव पहिले यह बता दिया था कि वे चोवीसवें तीर्थंकर होंगे। तब तो उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध भी नहीं हुआ था; क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति बंध हो जानेके बाद असंख्य भव नहीं हो सकते। तीर्थंकर प्रकृतिको बांधनेवाला तो उसी भवमें, या तीसरे भवमें अवश्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म बंध जानेसे उनका उतना भविष्य निश्चित हो गया था।

यह सब तो यही सिद्ध करता है कि आदिनाथके समयसे ही यह निश्चित था कि वे चोवीसवें तीर्थंकर होंगे। जब चोवी–सवें तीर्थंकर निश्चित था तो फिर बीचके भव भी निश्चित ही थे। निश्चित थे तभी तो जाने जा सके, और बताये भी जा सके।"

मरीचिके भवसे भगवान् महावीरके भवतक मरीचिका जीव कौनकौनसे कर्म बांध लेगा, कर्मोदयानुसार कौन-कौनसे भव धारण करेगा यह भगवानने अवश्य जाना था। अत: पहिलेसे ही अवश्य निश्चित था; क्योंकि सर्वज्ञ होनेके कारण मरीचिके द्वारा किये जानेवाले सभी कर्मबन्ध, कर्मोदयानुसार उसे प्राप्त होनेवाले सभी भव, उसके सभी परिणाम भगवानके द्वारा जाने गये थे। भगवान् जीवके भाविपर्यायोंको जानते ही नहीं ऐसा नहीं है। मरीचिके अनादिसे अन्ततक सभी पर्यायोंको भगवानने

जान लिया था। भगवानके ज्ञानकी अपेक्षासे मरीचिके विषयमें कर्मबन्धोदयादि निश्चित थे। इसमें संदेहको गुंजायश नहीं है; किंतु उसके सभी पर्यायोंके निश्चायक उसके बंधे हुए कर्म ही थे, न भगवान थे और न स्वयं मरीचिका जीव था। भगवान् तो उन कर्मोंके द्वारा निश्चित किये गये मरीचिके सभी पर्यायोंके सिर्फ ज्ञाता थे। मरीचिके सभी भवोंकी निश्चितताके विषयमें विवाद नहीं है। विवाद तो सर्वज्ञकी पर्यायोंकी क्रमबद्धताके विषयमें साधकहेतुता के विषयमें है। पर्यायोंकी क्रमबद्धता को जानना बात अलग है और उसका साधक हेतु बनना बात अलग है।

छह महीने आठ समयमें छहसो आठ जीवों का निकलना, उतने ही समयमें उतने ही जीवोंका मोक्षको जाना, अधिक जीवोंका उतने समयमें न निकलना और अधिक जीवोंका मोक्ष न जाना निश्चित है। निगोदसे न निकलनेवाले और मोक्षको न जानेवाले जीवोंकी स्वतंत्रता का खंडन कौन करता है? उन्होंने ही अपनी अपनी स्वतंत्रताका खंडन कर लिया है।

पृ. ३३ पर लिखा है कि– "लोगों को लगता है कि धर्म तो दूर, क्या पुण्य–पाप करना भी हमारे हाथमें नहीं है? हम तो एकदम बंध गये।

उनसे हमारा कहना है कि शुभ और अशुभ भाव तो क्रमश: अपने आप बदलते ही रहते हैं, क्यों कि दोनोमेंसे किसी का भी काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है, अत: प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी आप

अन्तर्मुहूर्तसे अधिक शुभभावमें नहीं ठहर सकते, यदि शुद्धमें नहीं गये तो फिर अशुभमें आना अनिवार्य है। यह परिवर्तन निगोद में भी हुआ करता है, वहां भी शुभभाव होते हैं; अन्यथा वहां से जीव निकले ही कैसे ? सैनी पंचेन्द्रिय होनेका पुण्य एकेन्द्रियसे लेकर असैनी पंचेंद्रियतकके जीव असंज्ञी दशामें ही बांधते हैं।"

इस अपने मन्तव्यके समर्थनमें पं. जीने शास्त्रीय प्रमाण पेश नहीं किया है। उक्त प्रक्रियाके अनुसार मिथ्यादृष्टि जीवका जितना काल अशुभपरिणाममें व्यतीत होता है उतना ही काल शुभपरिणाममें भी व्यतीत होता है ऐसा सिद्ध होता है। ब्रह्मदत्तचक्रीका आधा काल शुभपरिणाममें और आधा काल अशुभ परिणाममें व्यतीत हुआ होगा क्या ? सप्तमनरकगामी मिथ्यादृष्टी तन्दुलमत्स्य का काल तिर्यंच अवस्थामें शुभाशुभ-परिणाममें समानकालप्रमाणमें व्यतीत हुआ था क्या ? सप्तम नरकमें भी आधा काल शुभ परिणाममें और आधा काल अशुभ परिणाममें व्यतीत हो रहा है क्या ? सम्यग्दृष्टि नारकी भी आधा काल शुभ परिणाममें और आधा काल अशुभ परिणाममें व्यतीत करता है क्या ? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि नारकी और मिथ्यादृष्टि नारकी परिणामकी दृष्टीसे समान बन जायंगे और दुःख संवेदनकी दृष्टिसे भी समान बन जायेंगें। षष्ठगुणस्थान-वर्तिजीव के शास्त्रीयदृष्टया अधिकतर कालमें शुभ परिणाम ही होते हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ परिणामात्मक हैं। रौद्रध्यान षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतमुनिके होता ही नहीं। उसके निदानरूप आर्तध्यान होता ही नहीं; क्यों कि निदानरूप आर्तध्यानसे प्रमत्तसंयतत्वका विघात हो जाता है।

अवशिष्ट तीन आर्तध्यान प्रमत्तसंयतमुनिके कदाचित् ही होते हैं। इससे प्रमत्तसंयतगुणस्थानमें जीवका अधिकतमकाल शुभ परिणाममें ही व्यतीत होता है। जब तक वह जीव शुद्धोपयोगी नहीं बनता और जब तक अशुभपरिणामी भी नहीं बनता तब-तक अधिकतमकाल वह शुभपरिणामके रूपसे ही परिणत होता रहता है। इस विवेचनसे शुभपरिणाम अंतर्मुहूर्त के बाद शुद्धो-पयोगरूपसे परिणत न हुआ तो वह अशुभपरिणामके रूपसे परिणत होता ही है यह प्रतिपादन आगमविरुद्ध है। शुभपरि-णामवाले जीवका परिणाम अशुभ होता ही नहीं और अशुभ परिणामवाले जीवका परिणाम शुभ होता ही नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु शुभपरिणाम अन्तर्मुहूर्त के बाद अशुभ होता ही है और अशुभपरिणाम शुभ होता ही है यह कथन मनमाना है ऐसा लगता है। वस्तुतः ऐसा होता तो मोक्षमार्ग बंद हो जाता। एकद्रव्यकी या एक गुणकी जब अनेक पर्यायें उत्पन्न होती हैं तब क्रमसे ही होती हैं और एक द्रव्यके अनेक गुणोंकी अनेक पर्यायें अक्रमसे अर्थात् युगपत् भी होती हैं। यहां विवाद इस बातका है कि पर्यायें द्रव्यकर्मसे उदयादिकी सहकारिताके सद्भावमें उत्पन्न होती है या अभावमें उत्पन्न होती हैं? जिनागमके अनु-सार कार्यकी उत्पत्ति उपादान और निमित्त इनकी सहकारितामें होती है।

पृ ३६ पर लिखा है कि- "जब अपनेको प्रथमानुयोग और करणानुयोगका विशेषज्ञ कहनेवाले विद्वान भी संपूर्ण पर्यायों के क्रमनियमित होनेका विरोध करते हैं तब आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता; क्यों कि प्रथमानुयोग और करणानुयोगमें तो कदम कदम पर इसका प्रबल समर्थन किया है।"

यह मिथ्या आक्षेप है; क्योंकि पर्यायोंके क्रमनियमित होनेका विरोध नहीं किया जा रहा है, विरोध तो उनके क्रमबद्ध होनेका किया जा रहा है। इस विरोधका कारण है निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता।

इसी पृष्ठपर लिखा है कि– "प्रवचनसार गाथा १०२ की तत्त्वदीपिका टीकामें भी पर्यायके जन्मक्षण और नाशक्षणकी बात आती है उससे भी इस बातकी पुष्टि होती है।"

इस प्रमाणकी ओर केवल संकेत कर लेखक उसके बलपर पर्यायकी क्रमबद्धता सिद्ध करना चाहते हैं; किंतु पर्यायों की क्रमबद्धता सिद्ध नहीं हो सकती। भिन्नभिन्न समयवाली पर्यायों में क्रम बांधा जा सकता है। पर्यायका जन्मक्षण, नाशक्षण और स्थितिक्षण भिन्नभिन्न होते हैं ऐसा बौद्ध मानते हैं, जैन नहीं मानते। जैन नाशका समय, उत्पादका समय और स्थितिका समय एक ही होता है ऐसा मानते हैं और उसकी सिद्धि भी करते हैं। जब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके समय भिन्न भिन्न नहीं है और उसकारण उन में पौर्वापर्य नहीं है तब पर्यायोत्पत्तिके समय क्रम कैसे बांधा जा सकता है? इस विषयमें आचार्य अमृतचंद्रका अभिप्राय व्यक्त करनेके लिये तत्त्वदीपिका टीका नीचे दी जाती है। देखिए–

"इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थिति–

क्षणस्य न भवति । इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति । अवतरत्येवं, यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगम्यते । पर्यायाणामेवोत्पादादयः । कुतः क्षणभेदः ? तथाहि-यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ स एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः । तथा अन्तरङ्ग बहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः । यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते । यथैव च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव, न खल्वर्थान्तरम् । (प्र. सा. २।१०२)

अर्थ- यहां वस्तुका जो जन्मक्षण-उत्पादक्षण होता है वह (वस्तुके) जन्मसे ही व्याप्त हुआ होनेके कारण वह स्थिति-क्षण और नाशक्षण नहीं होता और जो स्थितिक्षण होता है वह जन्मक्षण और नाशक्षण इन दोनोंके बीचमें होनेवाला होनेसे जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं होता तथा जो नाशक्षण होता है वह उत्पन्न होकर और स्थित होकर नष्ट होनेवालेका होनेसे जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं होता। इसप्रकार विचारका विषय

बनाया जानेवाला उत्पादादिका क्षणभेद–समयभेद हृदयरूपी भूमिपर अवतीर्ण होता है। इसप्रकार वह क्षणभेद हृदयभूमिपर तब अवतीर्ण हो सकता है जब द्रव्य स्वयमेव उत्पन्न होता है स्वयमेव स्थित होता है और स्वयमेव नष्ट होता है ऐसा माना जाता है। वह तो नहीं माना जा रहा है। उत्पादादि पर्यायोंके ही होते हैं। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनके क्षण–समय भिन्नभिन्न कैसे हो सकते हैं? खुलासा– जिसप्रकार कुम्हारके द्वारा दण्ड, चक्र और पुराने वस्त्रसे किये जानेवाले संस्कारका सान्निध्य होनेपर जो ही घटकी उत्पत्तिका क्षण होता है वही मृत्पिण्ड के नाशका होता है और वही दोनों कोटियोंपर अर्थात् उत्तरपर्याय और पूर्वपर्याय इन विभागोंपर आरूढ हुए मृत्तिका–पनका अर्थात् मृत्तिकाके स्वरूपका स्थितिक्षण होता है, उस–प्रकार अंतरंग और बहिरंग साधनोंके द्वारा किये जानेवाले संस्कारका सान्निध्य होनेपर जो ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिका क्षण–समय होता है वही पूर्वपर्यायके नाशका क्षण होता है और वही दोनों कोटियोंपर अर्थात् उत्तर पर्याय और पूर्व पर्याय इन विभागोंपर आरूढ हुए द्रव्यपनका अर्थात् द्रव्यके स्वरूपका स्थितिक्षण होता है। जिसप्रकार घट, मृत्पिण्ड और मृत्तिका–स्वभाव इनमें से प्रत्येकमें रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अर्थात् घटमें होनेवाला उत्पाद, मृत्पिण्डमें होनेवाला व्यय–नाश और मृत्तिकात्वमें रहनेवाला ध्रौव्य ये (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन)तीनों स्वभावोंको स्पर्श करनेवाली मृत्तिकामें समस्त-तया एक समयमें ही देखे जाते हैं, उसप्रकार उत्तरपर्याय, पूर्व–पर्याय और द्रव्यत्वोंमेंसे प्रत्येकमें रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन) तीनों स्वभावोंको

स्पर्श करनेवाले द्रव्यमें समस्ततया एक समयमें ही देखे जाते हैं। जिसप्रकार घट, मृत्पिण्ड और मृत्तिकापन इनमें रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मृत्तिका ही है, अन्य वस्तु नहीं, उसी-प्रकार उत्तर और पूर्व पर्याय तथा द्रव्यत्व इनमें रहनेवाले उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं हैं।

यद्यपि उत्पाद और व्यय पर्याय कहे जाते हैं तो भी समयभेदके अभावके कारण उनमें पौर्वापर्य घटित नहीं हो सकता है। जिस पर्यायका नाश होता है और जिसका उत्पाद होता है उनमें समयभेद न होने पर भी पौर्वापर्य घटित होता है और पौर्वापर्य घटित होनेसे उनमें पूर्व पर्याय और उत्तरपर्यायों के रूपसे क्रम घटित होता है। एक द्रव्यकी एकसाथ दो पर्यायें उत्पन्न नहीं होती और एक गुणकी भी एकसाथ दो पर्यायें उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार से एक द्रव्यकी या गुणकी दो पर्यायोंमें पौर्वापर्य निसर्गतः होनेसे उनका क्रमवर्तित्व नैसर्गिक है। पूर्वपर्यायके नाशके विना उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होना असंभव होनेसे पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें सहकारिकारण-निमि-त्तकारण होती है, उपादानकारण नहीं होती। पूर्वपर्यायकी उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणता असंभव है; क्यों कि जिसप्रकार उपादानकारण होनेवाली मृत्तिका अपनी घटादिरूप कार्यमें—पर्यायमें अपने स्वरूपके साथ अन्वित होती है उसप्रकार पूर्व-पर्याय अपने स्वरूपके साथ उत्तरपर्यायमें अन्वित नहीं होती। वस्तुतः पूर्वोत्तरपर्यायोंमें जिस द्रव्यका या गुणका अपने स्वरूपके साथ अन्वय होता है वही द्रव्य या गुण उसकी पूर्वपर्यायका नाश होनेपर उत्तरपर्यायका उपादानकारण होती है। पूर्वपर्यायके नाशके साथ

उस पर्यायके स्वरूपका भी जब नाश हो जाता है तब अपने स्वरूपको छोडकर पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायमें कैसे अन्वित हो सकती है। पर्यायका नाश ही स्वरूपनाश है और स्वरूपनाश ही पर्यायका नाश है। मनुष्यपर्यायका नाश होकर जीवका जब तिर्यंच-पर्यायरूपसे उत्पाद होता है तब मनुष्यपर्याय अपने स्वरूपके साथ तिर्यंचपर्यायमें अन्वित नहीं होती। दोनों पर्यायोंका उपादान कारण जीव ही होता है। अतः दोनों पर्यायों में उपादानोपादे-यभाव नहीं होता, अपि तु निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। इस बातको भूलना नहीं चाहिये कि प्रत्येकपर्यायके उत्पाद और विनाश निमित्ताधीन होते हैं। आयुकर्मके उदयके अधीन जीवका उत्पाद और स्थिति होते हैं और बद्धायुका क्षय हो जानेपर जीवका मरण होता है। कालद्रव्यकी पर्यायोंको छोड़कर अन्य द्रव्योंकी सूक्ष्मपर्यायें कालद्रव्यरूप निमित्तके अधीन होती हैं।

अब प्रवचनसार गाथा ९९ की तत्त्वदीपिका टीका नीचे उद्धृत की जाती है। देखिये—

"इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात् सदिति द्रव्यम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः। यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्याऽपि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्याऽपि प्रवाह-क्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः। यथा च प्रदेशानां पर-स्परव्यतिरेकनिबन्धनः विष्कम्भक्रमः तथा परिणामानां परस्पर-व्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः। यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैक-वास्तुतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं

धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वकत्वाच्या-मुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयाऽनुत्पन्न-प्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति। तथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुत-याऽतदुभयात्मकः इति। तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्प-रानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति। एवमस्य स्वभा-वत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानति-क्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयं, मुक्ताफलदामवत्। यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ता-फलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्प-रानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनि वर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्व-पूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥

(द्रव्यवास्तु– 'वास्तु' यह शब्द 'वस निवासे' इस धातुसे 'वसेस्तुन्' इस औणादिकसूत्रके अनुसार लगनेवाली 'तुन्' प्रत्यय 'अगारे णिच्च' इस सूत्रके अनुसार णित् होनेसे गृहार्थमें बना है। इस 'द्रव्यवास्तु' शब्दका विग्रह 'द्रव्यमेतद्वास्त्विव द्रव्यवास्तु' ऐसा है। जिसप्रकार वास्तु–अगार–गृह निवास-स्थान होता है उसप्रकार द्रव्यभी अपने सूक्ष्मांशभूत प्रदेशोंका

निवासस्थान होता है। इसीकारण द्रव्यरूप उपमेयका वास्तुश-ब्दके साथ तत्पुरुषसमास बना हुआ है।

विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः-घनक्षेत्रप्रमाण आकाश ऐसा विष्कंभशब्दका अर्थ है। कोष्ठागार का क्षेत्र घनफलप्रमाण होता है। उसमें भरी हुई खसखसके कण परस्पर संयुक्त होकर क्रमसे रहते हैं। ये कण अलग अलग होते हैं तो भी परस्पर संयोगको प्राप्त होकर जिसप्रकार रहते हैं उस प्रकारको विष्कंभक्रम समझना। इस विष्कंभसंज्ञक घनफलप्रमाणक्षेत्रमें जिसप्रकार खसखसके कणोंका रचनाक्रम होता है उसप्रकार द्रव्य-के सूक्ष्मांशरूप प्रदेशोंका रचनाक्रम होता है इसलिए उन्हें 'विष्कंभक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः' यह विशेषण लगाया हुआ है। कहनेका भाव यह है कि द्रव्यके सूक्ष्मांश परस्परभिन्न होनेपर भी परस्परसंयुक्त होकर द्रव्यमें रहते हैं।

प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः– जिसप्रकार जलप्रवाहमें जलाणु एकके बाद दूसरा, दुसरेके बाद तीसरा इस क्रमसे बहते हैं उसप्रकार पर्यायें भी एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार पर्यायोंकी आनु-पूर्वी–अनुक्रम होती है। पर्यायोंकी इस आनुपूर्वीके–अनुक्रमके कारण सूक्ष्मांशभूत सूक्ष्म पर्यायोंको प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः यह विशेषण दिया हुआ है।

अर्थ – यहां स्वभावमें नित्य रहनेवाला होनेसे अर्थात् अपने स्वभावको छोडकर अन्यत्र रहनेवाला नहीं होनेसे सत् यह द्रव्य है। द्रव्यका स्वभाव तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंकी

एकतारूप परिणाम है। जिसप्रकार ही वस्तुतः (द्रव्यके सूक्ष्मांशभूत प्रदेशोंकी) समग्रताके कारण एकरूप होनेवाला होनेपर भी द्रव्यरूप अगारके–मकानके, विस्तारक्रमरचनाके रूपसे (द्रव्यरूप मकानमें) रहनेवाले सूक्ष्मांश प्रदेश होते हैं उसप्रकार ही वस्तुतः (द्रव्यपरिणामके सूक्ष्मांशभूत (सूक्ष्म) पर्यायोंकी) समग्रताके कारण एकरूपरूप होनेवाली भी द्रव्यपर्याय प्रवाहके क्रमके समान क्रमकी रचनाके रूपसे रहनेवाले सूक्ष्मांश परिणाम होते हैं। जिसप्रकार (प्रदेशोंके) परस्परभेदके कारण प्रदेशोंका विष्कंभक्रमके समान क्रम होता है उसप्रकार (परिणामोंके) परस्परभेदके कारण परिणामोंका प्रवाहक्रमके समान क्रम होता है। जैसे ही वे प्रदेश अपने अपने स्थानमें स्वरूपसे उत्पन्न हुए होनेके कारण और पूर्वरूपसे विनष्ट हुए होनेके कारण (द्रव्य–वास्तुमें) सर्वत्र परस्पर दृढ संयोगसे बनाई गई एक (द्रव्यरूप) वास्तुताके रूपसे उत्पन्न और विनष्ट हुए नहीं होनेके कारण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप स्वभावको धारण करते हैं उसीप्रकार वे परिणाम अपने अपने अवसरमें–समयमें स्वरूपसे उत्पन्न हुए होनेके कारण और पूर्वरूपसे विनष्ट हुए होनेके कारण (द्रव्य–वास्तुमें) सर्वत्र परस्पर दृढ संयोगसे बनाये गये एक प्रवाहके रूपसे उत्पन्न और विनष्ट हुए नहीं होनेके कारण उत्पादव्यय–ध्रौव्यरूप स्वभावको धारण करते हैं। और वैसे ही जो ही वस्तुतः पूर्वप्रदेशका उच्छेदनरूप–पर्यन्तरूप वास्तुसीमान्त–प्रदेशके स्थानकी मर्यादाका अन्त होता है वही उस प्रदेशके आगे-के प्रदेशका उत्पादकरूप होता है और वही (प्रदेशोंके) परस्पर दृढसंयोगसे रचित एकवास्तुताके कारण–एक आश्रयत्वके कारण व्ययोत्पादात्मक नहीं है। उसीप्रकार जो ही वस्तुतः पूर्वपरिणा–

मका विनाशस्वरूप प्रवाहसीमाका अन्त हुआ है वही वस्तुतः पूर्व-परिणामके (अनन्तर-) उत्तर परिणामका उत्पादस्वरूप होता है और वही प्रवाहसीमान्त परिणाम प्रवाहगत सभी पूर्वोत्तर सूक्ष्मपरिणामोंके परस्परदृढसंयोगके कारण बने हुए एकप्रवाह-रूपत्वके कारण तदुभयात्मक अर्थात् व्ययोत्पादात्मक नहीं है। इसप्रकार स्वभावतः ही–निसर्गतः ही (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप) तीन लक्षणवाली परिणामोंकी परंपरामें निमग्न हुए इस द्रव्यका अपने स्वभावका अतिक्रमण–उल्लंघन न करनेसे मोतियोंकी माला के समान उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूत तीन लक्षणवाला सत्त्व संमत करना चाहिए। जैसे ही जिसने लंबाई ग्रहण की हुई होती है ऐसे लटकनेवाली मोतियोंकी मालामें अपने अपने स्थानमें प्रकाशित होनेवाले मोतीयोंमें आगे–आगेके स्थानोंमें आगे–आगेके मोति-योंकी प्रकटताके कारण पहले–पहले मोतियोंकी अप्रकटताके कारण संपूर्ण मालामें भी परस्पर दृढ संयोग करनेवाले सूत्रका अस्तित्व होनेसे त्रिलक्षणत्वकी प्रसिद्धि अवतीर्ण होती है–सिद्धि होती है उसीप्रकार जिसने नित्य अस्तित्व ग्रहण किया हुआ है ऐसे परिणमनशील द्रव्यमें सभीके सभी परिणाम अपने अपने समयोंमें जब प्रकट–उत्पन्न होते हैं तब आगे आगेके समयोंमें आगे आगेके परिणामोंकी उत्पत्तियां होनेके कारण पूर्वपूर्व परि-णामोंकी उत्पत्तियां न होनेसे सभी परिणामोंमें भी एक परिणा-मका दूसरे परिणामके साथ दृढतरसंयोग घटित करनेवाले प्रवा-हका सद्भाव होनेसे त्रिलक्षणताकी सिद्धि होती है ॥

इस उद्धरणसे क्रमविवर्ति और अक्रमविवर्ति परिणामकी सिद्धि होती है। आत्मद्रव्यके जो असंख्येय प्रदेश होते हैं उनका

भी आत्मद्रव्यकी परिणति होते समय एकसाथ परिणमन होता है। आत्मद्रव्यकी तो परिणति होवे और उसके असंख्येय प्रदेशों-की परिणति नहीं होवे ऐसा कभी हो सकता है? जब अंशी परिणत होता है तब उसके सभी सूक्ष्म अंश भी युगपत् परिणत होते हैं। सूक्ष्म अंशोके युगपत् होनेवाले परिणामोंके अभावमें अंशीके भी परिणामका अभाव हो जायगा। कच्चा आमका जब पक्के आमके रूपसे परिणमन होने लगता है तब कच्चे आमके सूक्ष्म अंश और कच्चे आमके स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये गुण भी युगपत् परिवर्तित होने लगते हैं। यदि आमके सूक्ष्मांश और उसके गुण उसकी परिणतिके साथ युगपत् परिणत नहीं हुए तो आम पकेगा क्या? यह निश्चित है कि एकसाथ परिणत होने-वाले आमके प्रत्येक सूक्ष्मांशका और उसके प्रत्येक गुणका जो परिणमन होता है वह प्रवाहक्रमसे ही होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यका परिणमन एकसाथ विष्कंभक्रमसे और प्रवाहक्रमसे होता है। अतः 'क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं' इस सामासिक पदमें स्थित 'अक्रमविवर्तिविवर्त' इस सामासिक शब्दका अर्थ 'सहभाविगुण' ऐसा ही करना दुराग्रह करना है।

आचार्य अकलंकदेवने भी तत्त्वार्थराजवार्तिकमें लिखा है

"स च पर्यायो युगपत्प्रवृत्तः क्रमप्रवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रिय-काययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ति तु क्रोधादिवेदादि-बाल्याद्यवस्थालक्षणः।" (अध्याय ४, सूत्र ४२, पृष्ठ २५९)

इसका अर्थ लेखक महोदयने पृष्ठ १०७ पर निम्न प्रकार किया है-

" और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोधसे एकसाथ होनेवाली जीवकी पर्याय एक साथ होनेके कारण गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम आदि सहावस्थायी पर्याय हैं तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि–अवस्थालक्षण क्रमवर्तिपर्याय है।"

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि गुणपर्यायें ही है क्या ? ये पर्यायें एक साथ उत्पन्न होती हैं ऐसा अकलंकदेवने कहा है। यह कथन प्रमाणभूत है या नहीं ? आचार्यदेवने इन परिणामों की उत्पत्ति युगपत् बताई है। ये पर्यायें एक जीवद्रव्यकी हैं। लेखकमहोदयने इन पर्यायों की उत्पत्ति युगपत् बताकर उनका अक्रमविवर्तित्व स्वीकार किया है। उन्होंने पृ. १०५ पर लिखा है कि– " प्रत्येक द्रव्यमें अनंत गुण हैं और प्रत्येक गुणकी प्रतिसमय एक पर्याय होती है; इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात् एक साथ अनन्त पर्यायें हो जाती हैं। तथा एक गुणकी अनंत समयों में अनंत पर्यायें होती हैं, वे क्रमशः एक एक समयमें एक एक होती है।"

एक द्रव्यके अनंत गुणोंकी एक समयमें अनंत पर्यायें होती हैं इस कथनसे लेखक महोदयने पर्यायोंके अक्रमविवर्तित्व को स्वीकार किया है और एक गुणकी अनंत समयोंमें अनंत पर्यायें होती हैं इस कथनसे पर्यायों के क्रमविवर्तित्वको स्वीकार किया है। इस प्रकार पर्यायों के क्रमाक्रमविवर्तित्वको स्वीकार करने–पर भी उनकी क्रमबद्धताका एकान्तरूपसे प्रतिपादन लेखक

महोदय क्यों कर रहे हैं यह समझमें नहीं आता। पर्यायों की क्रमबद्धताका ऐकान्तिकरूपसे प्रतिपादन करनेसे स्वाभ्युपगमहानि हो आनेकी आपत्ति खडी हो जाती है। वस्तुतः पर्यायें क्रमाक्रमविवर्तिनी होती हैं।

पृ. ३८ पर भावार्थ लिखते हुए लिखा है कि– "प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपने रूपसे उत्पन्न होता है, पूर्वरूपसे नष्ट होता है, और सर्व परिणामों में एक प्रवाहपना होनेसे प्रत्येक परिणाम उत्पाद–विनाश से रहित एकरूप ध्रुव रहता है।"

'प्रत्येक परिणाम स्वकालमें अपने रूपसे उत्पन्न होता है' यह कहना ठीक है; किंतु 'पूर्वरूपसे नष्ट होता है' इस कथनका अर्थ समझमें नहीं आता। स्वकालमें उत्पन्न होनेवाला परिणाम पूर्वरूपसे नष्ट कैसे हो सकता है? पूर्व परिणामके नाशकी क्रिया ही उत्तरपरिणामकी उत्पत्तिकी क्रिया है। नष्ट होनेवाला परिणाम पूर्व परिणाम होता है, उत्तर परिणाम नष्ट होनेवाला नहीं हो सकता; क्यों कि उत्तर परिणाम उत्पद्यमान होनेसे–अनुत्पन्न होनेसे उत्पत्तिके पूर्व उसका नाश होना संभव नहीं है। जो उत्पन्न हुआ ही नहीं उसका नाश कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह है कि सभी परिणामोंके प्रवाहमें एक प्रवाहपना होता है यह निश्चित है; किंतु परिणामप्रवाहगत 'प्रत्येक परिणाम उत्पाद–विनाशसे रहित एकरूप ध्रुव रहता है' यह कैसे संभव हो सकता है? यदि प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्ययरहित हुआ तो परिणामोंका प्रवाह कैसे बन सकता है? प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्ययसहित होनेसे ही परिणाम–प्रवाह बन सकता है। जिस द्रव्यके परिणामोंका प्रवाह बनता

है वह द्रव्य ही परिणामोंके प्रवाहमें ध्रुव होता है। अथवा एक द्रव्यके अनेक परिणामोंके परस्पर दृढ संबंधको घटित करनेवाला प्रवाह ध्रुव होता है। यदि वह द्रव्य ध्रुव नहीं हो तो क्षणभंगवादकी आपत्ति खडी हो जायगी। क्षणभंगवादमें ध्रुव का अस्तित्व नहीं होता। वस्तुतः उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य प्रत्येक परिणामका स्वभाव है। इस स्वभावसे रहित परिणामका अस्तित्व-सत्त्व कैसे बन सकता है? स्वभावके अभावमें स्वभाववान्‌का अभाव हो जाता है। स्वभाववान् परिणामका अभाव होनेसे परिणामी का भी अभाव हो जायगा; क्यों कि पर्यायरूपसे परिणत होना पदार्थका–द्रव्यका शील होता है– स्वभाव होता है। द्रव्य परिणमनशील न हो तो उसको कूटस्थनित्य मानना पडेगा और कूटस्थनित्यता के कारण द्रव्य की अर्थक्रियाका अभाव हो जायगा और अर्थक्रियाके अभावके कारण द्रव्यका अभाव हो जायगा। इसप्रकार सभी द्रव्योंका अभाव हो जानेसे शून्यवादको स्वीकार करनेकी आपत्ति खडी हो जायगी।

छहों द्रव्य अनादिनिधन हैं। अतः उनकी पर्यायें भी अनन्त होती हैं। इन पर्यायोंकी परंपरा प्रवाहक्रमसे बनती है। प्रवाहगत प्रत्येक परिणाम को लेखकमहोदयने उत्पाद–विनाशरहित बताया है। परिणाम प्रवाहसे बाहर कदापि नहीं हो सकता। अतः आपके मन्तव्यके अनुसार परिणाम उत्पाद-व्ययरहित ही सिद्ध होता है। जब आपके मन्तव्यानुसार प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–रहित है तब आपका 'ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक परिणामोंकी परंपरामें द्रव्य स्वभावसे ही रहता है' यह कथन स्ववचनविरुद्ध है। प्रवाह और परंपरा इनका स्वरूप एक दूसरेसे भिन्न है क्या?

इसी पृष्ठपर 'जिसप्रकार द्रव्यको संपूर्ण विस्तारक्षेत्ररूपसे लक्ष्यमें लिया जाय तो उसका संपूर्ण क्षेत्र एक ही है; उसीप्रकार द्रव्यको-तीनों कालके परिणामोंको एक साथ लक्ष्यमें लेनेपर उसका काल त्रैकालिक एक है। फिर भी जिसप्रकार क्षेत्र में एक नियमित प्रदेशक्रम हैं; उसप्रकार काल (पर्याय) में भी पर्यायोंका एक नियमित प्रवाहक्रम है।" ऐसा जो कहा है वह चिन्त्य है। द्रव्य और उसके प्रदेश भिन्न न होनेसे जो प्रदेशोंका क्षेत्र होता है वही द्रव्यका क्षेत्र होनेसे उसका क्षेत्र एक ही है इसमें संदेह नहीं है। इस क्षेत्रके भूत क्षेत्र और भावी क्षेत्र इसप्रकार क्षेत्रके कालनिमित्तक भेद नहीं है। प्रवाहक्रमसे भूत पर्याय, भावी पर्याय और वर्तमान पर्याय ऐसे भेद हैं। वर्तमान पर्यायके समय भूत पर्याय और भावी पर्याय का सद्भाव नहीं होता। इन दोनों पर्यायों के अभावमें वर्तमान पर्यायके रूपसे परिणत हुए द्रव्यका अभाव नहीं होता। द्रव्य वर्तमानमें त्रैकालिक परिणामों से युक्त नहीं होता। द्रव्यका काल त्रैकालिक एक होता है इस अभिप्रायका अर्थ क्या है? इस अभिप्रायका समर्थक शास्त्रीय प्रमाण पेश करके सोदाहरण स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। विष्कम्भक्रम और प्रवाहक्रमके अभाव में द्रव्यका अस्तित्व बन ही नहीं सकता।

लेखकमहोदयने पृ. ४० पर कहा है कि- "इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय, जिस समय, जिस कारणसे होनी है, वह तदनुसार ही होती है।"

इससे स्पष्ट होता है कि- द्रव्यरूप उपादानसे निमित्त-कारण मिलनेपर पर्याय की उत्पत्ति होती है। उस पर्यायका

स्वरूप निमित्तके स्वरूपके अनुकूल होता है। उस पर्यायका समय स्थितिबंधके समयमें ही निश्चित हुआ होता है। पर्यायकी उत्पत्तीमें सहकारिकारणभूत कर्म अकिंचित्कर नहीं होता। यदि कर्मको अकिंचित्कर माना तो द्रव्य अपने आप पर्यायरूपसे परिणत होता है ऐसा माननेका प्रसंग खडा हो जायगा। ऐसी अवस्थामें सिद्धों के भी विभावभावरूपसे परिणत हो जानेका प्रसंग खडा हो जायेगा।

आगे इसी पृष्ठपर पंडितसाहबने लिखा है कि– " प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें लिखते हैं–

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति
साध्ववादीः ॥३३॥

यहां भगवान को सम्बोधित करते हुए आचार्य समन्त–भद्र कहते हैं कि हे जिनदेव ! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलंघ्य है अर्थात् उसकी शक्तिको उल्लंघन नहीं किया जा सकता है; **जो होना होता है, होके ही रहता है**। फिर भी यह निरीह संसारी प्राणी ' मैं इस कार्यको कर सकता हूं ' इस प्रकारके अहंकार से पीडित रहता है, जबकि भवितव्यता के विना अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्य संपन्न करनेमें समर्थ नहीं होता। "

यहां पंडितजीने ' भवितव्यता ' इस शब्दका अर्थ व्यक्त नहीं किया है। अर्थ व्यक्त न करनेमें पंडितजी का खास हेतु है

ऐसा मालुम होता है। वह हेतु निमित्तकारणकी सर्वथा अकिं-चित्करता की सिद्धि करनेका है। इसी हेतुको अंतःकरणमें रखकर हेतुद्वय इस शब्दका भी स्पष्टीकरण नहीं किया है। हेतुद्वय इस शब्दसे शुभाशुभकर्मरूप अथवा बाह्याभ्यंतररूप हेतुओंका ग्रहण होता है। शुभाशुभकर्मके उदयसे अथवा बाह्य और आभ्यंतर हेतुओंसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही भव्यतव्यताका ज्ञापक हेतु है अर्थात् शुभाशुभकर्मोदयजन्य सुखदुःखरूप कार्य भवितव्यताका ज्ञापक हेतु है; क्यों कि शुभाशुभकर्मोके उदयोंके विना सुखदुःखात्मक जीवपरिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत. सुखदुःखात्मकपरिणामरूपकार्यकी उत्पत्ति भवितव्यताकी-दैवकी-कर्मकी सत्ताकी ज्ञापक है। दूसरी बात यह है कि जब सुखदुःखपरिणामात्मक कार्य की उत्पत्ति शुभाशुभकर्मोदयके अधीन है तव कर्मरूप निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताकी सिद्धि नहीं होती। बाह्य हेतुसे द्रव्यकर्म और नोकर्मका तथा अभ्यंतर हेतुसे आत्मरूप उपादान का ग्रहण होता है। सुखदुःखात्मक कार्योंकी उत्पत्तिमें बाह्येतरोपाधिसमग्रताकी आचार्य समन्त-भद्रमहाराजने आवश्यकता बताई है। इस श्लोकके द्वारा भवि-तव्यताकी-दैवकी-कर्मकी शक्ति अलंघ्य-अनुल्लंघनीय बताई है अर्थात् कर्मोदय होनेपर जीवको कर्मोदयनिमित्तक आत्मपरि-णामको भोगना ही पडता है। भवितव्यताकी सहकारिताके अभावमें जीव किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-सहकारिकारण सर्वथा अकिंचित्कर नहीं होता। इस श्लोक के द्वारा दैव और पुरुषार्थ इन दोनोंसे अर्थसिद्धि होती है यह भी बताया गया है। न केवल दैवसे कार्यसिद्धि होती है और न केवल पुरुषार्थसे भी

कार्यसिद्धि होती है। दैवकी सहकारितामें ही पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि होती है।

देवागमस्तोत्रमें श्रीसमन्तभद्राचार्यने कहा है कि–

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ?
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात्, प्रतिज्ञाहानिप्रसंगात् ? " तद्धि पौरुषं विना दैवसम्पदा न स्यात् ' तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ' इति प्रसिद्धेः । तत्सर्वं बुद्धि–व्यवसायादिकं पौरुषं पौरुषापादितमिति चेत्, तर्ह्यमोघमेव सर्व–प्राणिषु पौरुषं भवेत्। तथैवेति चेत्, तद्व्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्दधीरन्। "

अर्थ– पुरुषार्थसे ही अर्थसिद्धि–कार्यसिद्धि होती हो तो पुरुषार्थ दैवसे कैसे होता है ? पौरुष–पुरुषार्थ पुरुषार्थसे ही होता हो तो सभी प्राणियोंमें होनेवाला पुरुषार्थ सफल होगा " ॥८९॥

अ. स.– " पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि होती है ऐसा कहने–वालेका भी पुरुषार्थ दैवसे कैसे होगा; क्यों कि दैवसे ही पुरुषार्थ होता है इस प्रतिज्ञा की हानि हो जानेका प्रसंग खडा हो जाता है ? वह पुरुषार्थ दैवसंपत्तिके विना नहीं होगा अर्थात् पुण्य–पापसामग्रीके विना नहीं होगा; क्यों कि ' जिस प्रकारकी भवि–तव्यता होती है उस प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न होती है, उस प्रका–रका व्यवसाय मिलता है और उस प्रकारके मित्र मिलते हैं '

यह प्रसिद्ध है। बुद्धि-व्यवसाय- आदि यह सर्व पुरुषार्थसे प्राप्त किया जाता है ऐसा कहना हो तो सभी प्राणियों में पुरुषार्थ सफल ही होगा। वैसा ही है ऐसा कहना हो तो पुरुषार्थके फलकी प्राप्तिका अभाव देखनेवाले विश्वास नहीं करेंगे अर्थात् सर्व प्राणियोंमें होनेवाला पुरुषार्थ सफल ही होता है इस बातका विश्वास नहीं कर सकेंगे।"

यह प्रकरण दैवका अर्थात् कर्मका होनेसे इसमें पाया जानेवाला भवितव्यताशब्द कर्मवाचक है यह स्पष्ट हो जाता है। अष्टसहस्री पृ. २५७, पं. ३।४ पर पाये जानेवाले 'मोक्षस्याऽपि परमपुण्यातिशय-चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सम्भवात्' इस हेतुवाक्यसे भी कर्म और पुरुषार्थ इन दोनोंका मिलान होनेपर ही कार्यसिद्धि होती है यह अभिप्राय व्यक्त होता है; क्यों कि उक्त वाक्यका परमपुण्यातिशय और चारित्रविशेषात्मक पुरुषार्थ इन दोनों से ही मोक्षका उद्भव-प्राप्ति होनेसे' यह अर्थ होता है। अतः 'भवितव्यता' इस शब्दका 'नियति' यह अर्थ ध्वनित भी नहीं होता। सुपार्श्वजिनस्तोत्रगत श्लोकका अर्थ-

"शुभ और अशुभ कर्मरूप दो हेतुओंके अथवा बाह्य और अभ्यंतर इन दो हेतुओंके द्वारा उत्पन्न किया गया कार्य जिसका (अविनाभावी) ज्ञापक हेतु है ऐसी भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है अर्थात् भवितव्यताकी-कर्मकी (फल देनेकी) शक्ति उल्लंघनीय नहीं है। कर्मके कारण 'जो होना होता है, हो के ही रहता है'।" फिर भी यह निरीह (?) संसारी प्राणी 'में इस कार्यको कर सकता हूं' इस प्रकारके अहंकारसे पीडित रहता है, जबकि भवितव्यता (कर्म) के विना अनेक सहकारी

कारणों को मिलाकर भी कार्य संपन्न करनेमें समर्थ नहीं होता" ऐसा जो आपने कहा है वह ठीक ही है।"

आगे डॉ. साहबने पद्मनंदिपंचविंशतिका अ. ३, श्लो. क्रमांक ५३ को पेश किया है। देखिये—

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते ॥
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥५३॥

अर्थ— लोक मनमें प्रतिदिन अपने कल्याणका ही चिंतन करते हैं। आयी हुई (उदयको प्राप्त हुआ) भवितव्यता (कर्म) लोगोंके विषयमें उसे जो रुचता है वह करती (करता) है। मोहनीय कर्मके उदयके कारण अतिशय विस्तारको प्राप्त होनेवाले अनेक विकल्पोंका त्याग कर जिन्होंने राग-द्वेषरूप विषका त्याग किया है ऐसे सज्जन पुरुष सदा सुखसे रहें।

यद्यपि लोक अपने मनमें अपने कल्याण-सुख की इच्छा करते हैं तो भी उनका कल्याण होता ही है ऐसा नहीं है; क्यों कि उनका जिसप्रकार का कर्म उदय में आता है वैसा ही होता है। साता वेदनीय कर्म उदयमें आया तो सुख मिलता है और असातवेदनीय कर्म उदयमें आया तो उनको दुःख भोगना पडता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवोंका सुख या दुःख भवितव्यताके अर्थात् कर्मके अधीन होता है। 'मोहोल्लासवशात् ....' यह पंक्ति उक्त अभिप्रायका समर्थन करती है। इस प्रमाणसे भी भवितव्यता यह शब्द नियत्यर्थवाचक सिद्ध नहीं होता है।

आगे पंडितप्रवर-आशाधरविरचित अध्यात्मरहस्यका एक श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। देखिये-

" भवितव्यतां भगवतीमाश्रियन्तु रहन्त्वहं करोमीति।
यदि सद्गुरूपदेशव्यवसितजिनशासनरहस्याः ॥६६॥

यदि सद्गुरूपदेशसे जिनशासनके रहस्यको आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है- तो ' मैं करता हूं ' इस अहंकार-पूर्ण कर्तृत्वकी भावनाको छोडो और भवितव्यताका आश्रय ग्रहण करो। "

" उक्त छंदमें भवितव्यताको भगवती कहा गया है। इस छन्द की व्याख्यामें पंडित श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं-

" भगवान सर्वज्ञके ज्ञानमें जो कार्य, जिस समय, जहां पर जिसके द्वारा, जिस प्रकारसे होना झलका है; वह उसी समय, वहीं पर, उसीके द्वारा और उसप्रकारसे सम्पन्न होगा। इस भविष्यविषयक कथनसे भवितव्यताके उक्त आशयमें कोई अन्तर नहीं पडता, क्यों कि सर्वज्ञके ज्ञानमें उस कार्यके साथ उसका कारणकलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता जो कि असम्भाव्य है, उस कथनका विषय ही नहीं है। इसके सिवाय सर्वज्ञके ज्ञानानुसार पदार्थों का परि-णमन नहीं होता, किंतु पदार्थोंके परिणमनानुसार सर्वज्ञके ज्ञानमें परिणमन अथवा झलकाव होता है। ज्ञान ज्ञेयाकार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार। "

' भगवती ' इस शब्दका अर्थ ' सामर्थ्यवती ' ऐसा है। असमर्थ जीवकी दृष्टिसे भवितव्यता-कर्म सामर्थ्यसंपन्न है। जीव

जब कुछ करना चाहता है तब विरोधी कर्म उसका विरोध करता है। कर्मके अनुकूल होनेपर ही कार्य संपन्न होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामर्थ्यवती होनेके कारण ही भवितव्यता भगवती कही गयी है। वह देवता नहीं है। इस विशेषणसे कर्मरूप निमित्तकी अकिंचित्करता का अभाव ही सिद्ध हो जाता है। अमरकोशमें 'भग' शब्दका अर्थ वीर्य बताया गया है। देखिये– 'भगं श्री–काम–माहात्म्य–वीर्य–यत्ना–र्ककीर्तिषु'। इस अर्थसे भिन्न दूसरा कौनसा अर्थ हो सकता है? क्या भवितव्यताका यह विशेषण व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है। यदि व्यर्थ है तो उसकी ओर संकेत क्यों किया गया?

पंडित श्री जुगोलकिशोरजी मुख्यारसाहबके "भगवान सर्वज्ञके ज्ञानमें जो कार्य, जिस समय, जहां पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकारसे होना झलका है; वह उसी समय, वहीं पर उसीके द्वारा और उस प्रकारसे संपन्न होगा।" इस कथनसे निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्ध नहीं होती; क्यों कि उन्होंने स्वयं आगे कहा है कि 'इस भविष्यविषयक कथनसे भवितव्यताके उक्त आशयमें कोई अन्तर नहीं पडता, क्यों कि सर्वज्ञके ज्ञानमें उक्त कार्यके साथ उसका कारणकलाप भी झलका है, सर्वथा नियति-वाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता जो कि असंभाव्य है, उस कथनका विषय ही नहीं है।' लेखक महोदय तो निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताकी सिद्धि करनेपर तुले हुए हैं। आगे उन्होंने ऐसा भी कहा है कि 'इसके सिवाय सर्वज्ञके ज्ञानानुसार पदार्थोंका परिणमन नहीं होता, किंतु पदार्थोंके परिणमनानुसार सर्वज्ञके ज्ञानमें परिणमन अथवा झलकाव होता है। ज्ञानज्ञेया-कार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार।'

पृ. ४२ पर मोक्षमार्गप्रकाशका उद्धरण पेश किया गया है। वह निम्नप्रकार है–

" इस प्रकार क्रोधसे बुरा चाहनेकी इच्छा तो हो, (पर) बुरा होना भवितव्यके आधीन है। ..... इसप्रकार माननेसे अपनी महंततकी इच्छा तो हो, (पर) महंतता होना भवितव्यके आधीन है। ..... इसप्रकार मायासे इष्टसिद्धिके अर्थ छल तो करे, परंतु इष्टसिद्धि होना भवितव्यके आधीन है। .... इसप्रकार लोभसे इष्टप्राप्तिकी इच्छा तो हो, परंतु इष्टप्राप्ति होना भवितव्य के आधीन है। "

' भवितव्यका अर्थ आगामिकालमें उदयमें आनेवाला कर्म ' यह अर्थ यहां पं. टोडरमलजीको अभिप्रेत है। इससे पं. भारिल्लजी को जो अर्थ अभिप्रेत है उसका पं. मुख्तारसाहबके अनंतरोक्त उद्धरणसे खंडन हो जाता है। जीव अच्छे बुरेकी इच्छा तो करता है, किंतु अच्छा बुरा वह कर नहीं कर सकता; क्यों कि जीवका अच्छा–बुरा होना कर्म के अधीन होता है। इसके पहले बताया गया है कि कार्यकी सिद्धि दैव और पुरुषार्थ के मेलके विना नहीं होती। पं. टोडरमलजीके उद्धरणसे सिर्फ कर्मकी बलवत्तरता की सिद्धि होती है, निर्हेतुकी नियतिकी सिद्धि नहीं होती, जो कि पं. भारिल्लजी सिद्ध करना चाहते हैं।

इसी पृष्ठपर आगे कषायपाहुड और धवल के अर्थका उद्धरण दिया है। देखिये–

" प्रश्न– इन (छ्यासठ) दिनों में दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति किसलिये नहीं हुई ?

उत्तर– गणधरका अभाव होनेके कारण ।

प्रश्न– सौधर्म इन्द्रने उसी समय गणधरको उपस्थित क्यों नहीं किया ?

उत्तर– नहीं किया, क्यों कि काललब्धिके विना असहाय सौधर्म इन्द्रके, उनको उपस्थित करनेकी शक्ति का उस समय अभाव था । "

इस उद्धरणसे भी सहकारिकारण का अभाव ही कार्य–सिद्धि न होनेका कारण है। गणधररूप सहकारिकारण का अभाव दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति न होनेका कारण है और काल–लब्धिरूप सहकारिकारण का अभाव इन्द्रकी असहायताका–अगतिकताका कारण है । यद्यपि भगवानको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी तो भी दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति होना कार्यरूप होनेसे और कार्यकी उत्पत्ति सहकारिकारणके विना होना असंभव होनेसे दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति गौतमगणधररूप सहकारिकारण के अभावके कारण छयासठ दिनोंतक नहीं हुई । गौतमगणधरको उपस्थित करनेकी शक्ति व्यक्त होनेका काल भी छयासठ दिनोंके बीत जानेके बाद आनेवाला था; क्यों कि उस शक्तिकी व्यक्तिको प्रतिबन्ध करनेवाले कारणका अभाव छयासठ दिनोंके बाद होनेवाला था । सारांश, इस प्रमाणसे भी निर्हेतुकी नियतिकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि–

" कार्तिकेयानुप्रेक्षाके उल्लिखित उद्धरणमें तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि जिसका जो परिणमन जिस

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार होना जिनेन्द्रदेवने देखा है, उसे इंद्र तो क्या जिनेंद्र नहीं टाल सकते हैं।"

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके उद्धरणपर विचार करते हुए मैंने बताया है कि स्वामिजीको निर्हेतुकी भवितव्यता अभिप्रेत नहीं थी। स्वामिमहाराजने जिस जीवके अपने कर्मके अनुसार जो परिणाम होनेवाले होते हैं उन परिणामोंका कर्ता-भोक्ता वही होता है और उन परिणामोंका कर्मनिर्जराके द्वारा अभाव करनेवाला वही होता है। परिणामोंका अपने उपादानके साथ तादात्म्य होता है। वे अपने उपादानको छोडकर इन्द्र और जिनेन्द्र जैसे अन्य जीवोंके साथ तादात्म्यको कैसे प्राप्त हो सकते हैं? जब वे परिणाम इन्द्र और जिनेंद्रके साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं हो सकते तो उनका परिहार इन्द्र और जिनेन्द्र कैसे कर सकते हैं। यदि उस जीव ने अपने उन परिणामोंका परिहार उसके निमित्तभूत कर्मोंकी निर्जरा करके न किया हो तो उस जीवको उन परिणामों का अनुभव करना ही होगा। अतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गाथाएं निर्हेतुकी नियति की सिद्धि नहीं कर सकती।

पृ. ४२-४३ पर लिखा है कि-

"इसपर कई लोक कहते हैं कि यह तो बिलकुल ठीक है कि जिनेन्द्र देव नहीं टाल सकते, क्योंकि जैनमान्यतानुसार जिनेन्द्रभगवान् जगत के मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्ता-धर्ता नहीं; पर भगवान् नहीं टाल सकते तो क्या हम भी नहीं टाल सकते हैं? यदि हम भी नहीं टाल सकते तो फिर तो हम भगवानके

ज्ञानके आधीन हो गये। जैसा प्रभुने जान लिया, हमें वैसा ही करना होगा; अथवा हमारा परिणमन वैसा ही होगा, जैसा कि भगवानने जाना है।"

"उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वस्तुका परिण-मन भगवानके ज्ञानके आधीन नहीं है। जिसरूपमें वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी; भगवानने उसको उसरूपमें मात्र जाना है। ज्ञान तो परको मात्र जानता है, परिणमाता नहीं।"

"जिसप्रकार ज्ञानके आधीन वस्तु नहीं, उसीप्रकार वस्तुके आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनोंका स्वतंत्र परिणमन अपने अपने कारणसे होता है।"

"मेरी समझमें नहीं आता कि ज्ञानके द्वारा जान लेने मात्रसे वस्तुकी स्वतंत्रता किसप्रकार खंडित हो जाती है। स्वतंत्रता ज्ञानसे नहीं, अपने अज्ञानसे खंडित होती है। ज्ञान तो वस्तुके परिणमनमें किसी भी प्रकारका हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जानता है।"

जब निर्हेतुकी नियतिका समर्थन किया जा रहा है तब ऊपरकी शंका उपस्थित होना स्वाभाविक है। जिनेन्द्रभगवान् भी जब निश्चितरूपसे होनेवाले जन्म और मरणको जानते हैं, किंतु उनका निवारण भी नहीं कर सकते और जब जन्म और मरण बिना हेतुके होता है तब जीव अशरण बन जाता है। जो जनम-मरण बिना हेतुके होते हैं, तब मोक्षमार्ग भी बंद हो जाने-की संभावना होती है। जीव भी यदि नहीं टाल सका तो भी वह

भगवानके ज्ञानके अधीन हो जानेकी जो आपत्ति बताई गयी है वह आपत्ति उसका संभव न होनेपर भी निर्हेतुक नियतिका विरोध न हो इसलिये बताई गई है। जो जनन और मरण हेतुके अभावमें होता है उसको कोई भी टाल नहीं सकता। भगवान् तो जीवके सहेतुक जनन और मरण नहीं टाल सकते। जनन और मरण अहेतुक हो तो उनके कारणका ज्ञान न होनेसे जनन-मरणका अभाव नहीं किया जा सकता। जनन-मरण निर्हेतुक होनेसे वे प्रतिसमय क्यों नहीं होते रहेंगे? यदि जनन अहेतुक हो तो वह प्रतिसमय होता रहेगा और मरण कभी नहीं होगा और मरण अहेतुक हो तो वह भी प्रतिसमय होता रहेगा। इसप्रकार तो जनन और मरणका अभाव हो जायगा। जनन और मरण एकसाथ नहीं हो सकते। जनन और मरण इनमें वध्यघातकविरोध है।अतः अहेतुक जनन और मरण हो ही नहीं सकते। वस्तुतः सुख और दुःख तथा जन्म और मरण अहेतुक नहीं हो सकते।

दूसरी बात यह है कि उदयप्राप्तकर्मनिमित्तक परिणामको और क्षयप्राप्तकर्मनिमित्तक परिणामको टाला नहीं जा सकता। यदि जीव किसी भी हालतमें विशिष्ट परिणमनको टाल नहीं सकेगा तो वह मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं कर ले सकेगा। भगवान् जब अन्य जीवके कर्मबंधका निमित्तकारण नहीं हो सकते तब वह उसका हर्ता भी नहीं हो सकते। जो स्वयं परिणामोंका उपादानकर्ता होता है वही परिणामोंकी उत्पत्तिको टाल सकता है। जीव आत्मसामर्थ्यसंपन्न हो तो वह निमित्तको अकिंचित्कर बना देता है। निमित्त स्वभावतः अकिंचित्कर नहीं होता। जीव जब कर्मरूप निमित्तको अकिंचित्कर बना सकता है तब वह उसको छूटा भी सकता है।

'भगवानने जैसा जान लिया वैसा ही करना पड़ता है' ऐसा नहीं है; किंतु जीवने जैसा कर्मबंध कर लिया होता है उस कर्मका उदय होनेपर ही वैसा ही करना पड़ता है। भगवान तो सिर्फ जानते हैं। जीवके कौनसे कर्मका उदय कब होनेवाला है, कहां होनेवाला है, उसका फल किस प्रकारसे प्राप्त होनेवाला है इत्यादि बातोंको भगवान जानते हैं। सारांश, जीव ही अपने परिणामोंका कर्ता, धर्ता और हर्ता होता है। जीव और कर्मका संबंध अनादिकालसे बीजवृक्षन्यायसे चला आया है। भवितव्यता निर्हेतुकी नियतिरूप नहीं है इस बातको भूलना नहीं चाहिये।

ज्ञान जीवद्रव्यका स्वभाव होनेसे और जीवद्रव्य अनादि-निधन होनेसे ज्ञान भी अनादिनिधन है। अतः ज्ञानकी उत्पत्ति असंभव होनेसे उत्पत्तिकी अपेक्षासे पराधीन नहीं हो सकता। ज्ञेयाकारज्ञानकी अपेक्षासे वह कथंचित् पराधीन भी होता है। केवली भगवानका ज्ञान ज्ञायक होनेसे अर्थात् सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला होनेसे वह अर्थाधीन होता है ऐसा नहीं है। लेखकमहोदयने 'दोनोंका परिणमन (अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंका परिणमन) अपने अपने कारणसे होता है' ऐसा जो लिखा है इससे पं. जीको कौनसा कारण अभिप्रेत है इस बातका उन्होंने खुलासा नहीं किया है। 'अपने अपने कारणसे' इस शब्दसमूहका अर्थ (१) स्वयमेव और (२) अपने अपने निमित्त कारणसे' इस प्रकार दो होते हैं। लेखकमहोदय तो निमित्तकारणको सर्वथा अकिंचित्कर अर्थात् अकार्यकारी मानते हैं निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानना उसका अभाव माननेके समान है। अतः 'अपने अपने कारणसे'

इस शब्दसमूहका 'स्वयमेव' यह अर्थ ही उन्हें अभिप्रेत है। पं. जी निर्हेतुकी नियतिके प्रचारक हैं यह स्पष्ट हो जाता है। छद्मस्थ जीवकी अपेक्षासे ज्ञेयोंका ज्ञान ज्ञेयाधीन है अर्थात् ज्ञेयका सद्भाव होनेपर ही उसका ज्ञान होता है। ज्ञानके स्वभाव-की दृष्टीसे ज्ञान ज्ञेयाधीन नहीं होता। वस्तुतः ज्ञानकी और ज्ञेय की पर्यायें, जो की सूक्ष्म होती हैं, निमित्ताधीन ही होती हैं।

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा जाना गया जीवका भवितव्य जैसा होता है उसमें न जिनेन्द्र परिवर्तन कर सकते हैं और न इंद्र। जिसका भवितव्य जिनेन्द्रने जाना है वह जीव भवितव्यका परिवर्तन नहीं कर सकता है। जिनेन्द्रके द्वारा जाने गये अपने भवितव्यमें जीव परिवर्तन कर सकता है ऐसा माना तो जिनेन्द्रभगवानकी सर्वज्ञता बाधित हो जायगी। वस्तुतः जिनेन्द्रभगवानने जैसा जाना है वैसा ही होकर रहता है।

पृ. ४३ पर आगे लिखा है कि – "इस पर यदि कोई कहे कि भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; वीतरागी होनेसे उन्हें कुछ भी करनेकी आकांक्षा नहीं है और सर्वज्ञ होनेसे जो कुछ जैसा होना है वह सब वे जानते हैं; उन्हें कुछ फेर-फार करनेका विकल्प नहीं उठता। पर हम तो रागी-द्वेषी और अल्पज्ञ हैं; न तो हम भविष्यकी (बातें) जानते ही हैं, और हमें कुछ कर दिखानेकी तमन्ना भी है, अतः हमारी तुलना वीतरागी-सर्वज्ञ भगवानसे क्यों करते हो?"

"उससे कहते हैं कि यहां आचार्यदेवने 'भगवान परके कर्ता नहीं हैं' मात्र इतनी बात नहीं कही, अपि तु 'इच्छो मा'

शब्द द्वारा इन्द्र भी नहीं कर सकता अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है वाली बात भी कही है।"

पं. जीने जो किसीका कहना पेश किया है उसपर अपने विचार पेश करता हूं। सराग-वीतरागकी दृष्टिसे भगवान और सामान्य जीव इनमें भेद होनेपर भी भगवानके द्वारा जाने गये सामान्य जीवके भवितव्यके विषयमें फेरफार न करनेकी दृष्टिसे भगवान और सामान्य जीव समान हैं।

जीव अपने जनन-मरणका कर्ता है इसमें संदेह नहीं; किंतु भगवान जीवके जनन-मरणका स्थल, काल, संख्या और प्रकारको जाननेवाले होनेसे जीवका जनन-मरण आदि जिनेन्द्रके द्वारा जाने गये स्थानपर, कालमें और प्रकारसे उतने बार ही होते हैं। भगवान और सामान्य जीव उन स्थल, काल, प्रकार और संख्यामें फेर-फार नहीं कर सकते यही बात स्वामिकार्तिके-यानुप्रेक्षाकी गाथाओंसे ज्ञात होती है। इससे ऐसा नहीं समझना कि जीव मुक्तिकी प्राप्ति नहीं कर ले सकता; वह जिनेन्द्रने जैसा जाना है वैसा ही करता है ऐसा इन गाथाओंका अभिप्राय समझना। निमित्तके अभावमें जीवके जनन, मरण, सुख, दुःख आदि होते हैं ऐसा भी नहीं समझना। ये सब परिणाम क्रमनियमित हैं।

पृष्ठ ४४ पर लिखा है कि – "क्रमबद्धपर्यायके पोषक उक्त कथनका उद्देश्य ही परकर्तृत्व का निषेध है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं है – यह मान्यता ही जैन-दर्शनका मूलाधार (रीढ) है।"

उक्त कथन क्रमनियमितपर्यायका पोषक है इसमें संदेह नहीं; किन्तु 'उक्त कथनका उद्देश ही परकर्तृत्वका निषेध है' यह कथन मान्य नहीं हो सकता। आयुरुदय जन्मका, बद्धायुःक्षय मरणका, सातवेदनीयोदय सुखका और असातवेदनीयोदय दुःखका निमित्तकर्ता होता ही नहीं क्या? स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उक्त गाथाएं पररूप निमित्तके कर्तृत्वका निषेध करती है क्या? उक्त गाथाओंके द्वारा एक जीव दूसरे जीवका कर्ता नहीं, हर्ता नहीं और धर्ता नहीं यह जो निष्कर्ष निकाला गया है उसका आधार क्या है? एक जीव दूसरे जीवके परिणामोंका कर्ता नहीं यही अभिप्राय उक्त गाथाओंका है। इसका अर्थ 'जीवके परिणामोंकी उत्पत्तिमें कर्मरूप अन्य द्रव्य निमित्तकारण नहीं होता' ऐसा नहीं है। अतः 'क्रमबद्धपर्यायके पोषक उक्त कथनका उद्देश्य ही परकर्तृत्वका निषेध है' यह कथन परद्रव्यके निमित्तकर्तृत्वका भी निषेध करनेवाला होनेसे ग्राह्य नहीं है। उक्त गाथाओंका यह निष्कर्ष कैसे प्रतीत हो सकता है? इस निष्कर्षके द्वारा लेखकमहोदय निमित्तकारणकी अनावश्यकताकी सिद्धि करना चाहते हैं। 'एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता–हर्ता–धर्ता नहीं है' यह जैन सिद्धान्त है इसमें संदेह नहीं; किन्तु इस सिद्धान्तका उक्त गाथाओंके साथ संबंध कैसे घटित किया गया है इसका खुलासा नहीं किया गया है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – "प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमनमें उसे परद्रव्यकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यताकी भांति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्यायका

कर्ता स्वयं पर्याय है। इसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है। अर्थात् कुछ भी करनेकी चिन्ता नहीं करना है। अजीव द्रव्य परमें तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायोंको करनेकी भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं; तो फिर जीव भी क्यों परिणमनकी चिन्तामें व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो रहा है? "

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वयं उपादानकर्ता होता है इसमें संदेह नहीं, किंतु सहकारिकारणके अभावमें उपादानत्व व्यक्त नहीं होता; क्योंकि निमित्तकारण मिलनेपर ही अपने उपादेयके रूपसे परिणत होनेका द्रव्यका स्वभाव है। आचार्य-समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रके 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं…' इस श्लोक के द्वारा और आचार्य अमृतचंद्रसूरिने 'न जातु रागादिनिमित्त-भावं…' इस कलशके द्वारा सहकारिकारणके अभावमें उपादान उपादेयके रूपसे परिणत नहीं होता ऐसा कहा है। क्या यह कथन पं. जीको प्रमाण नहीं है? जब उन्हें निमित्तका सर्वथा परिहार करना इष्ट है तब वे शास्त्रीय प्रमाणोंको कैसे स्वीकार कर सकते हैं? अपने पूज्य गुरुदेवका ही वचन ग्राह्य है, आचार्योंके वचन ग्राह्य नहीं हैं। परिणमन यद्यपि द्रव्यका स्वभाव है तो भी निमित्तके अभावमें वह स्वभाव स्वयं व्यक्त होनेमें असमर्थ है। आचार्य अकलंकदेवने कहा है कि 'तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं कथं सहकारिकारणं स्यात्' (अ. स., पृ. १०५, नि. सा. सं.) अर्थ:—'उपादानकी असमर्थताका खंडन न करनेवाला (अत एव) जो अकिंचित्कर होता है वह सहकारिकारण कैसे हो सकता है?' इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य परिणमनशील होनेपर

भी कार्यरूपसे स्वयं परिणत होनेमें असमर्थ होता है। अब उपादान होनेवाला द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी निमित्त या सहकारिकारणके अभावमें अपने पर्यायरूपसे परिणत होनेमें असमर्थ है तब उसका अपने परिणामके रूपसे परिणत होनेका सामर्थ्य व्यक्त होनेके लिये सहकारिकारणके मेलकी आवश्यकता होनेपर भी सहकारिकारणका परिहार क्यों किया जा रहा है? अतः (प्रत्येक द्रव्यको) 'अपने परिणमनमें उसे परद्रव्यकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है' यह अभिप्राय युक्ति, आगम और दैनिक प्रतीतिके विरुद्ध होनेसे मनमाना है। 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायके कर्तृत्वमें पूर्ण समर्थ है' इस कथनका परिहार ऊपर किये गये विवेचनसे हो जाता है। 'पर्याय ही अपने परिणमनमें पूर्ण समर्थ है' यह कथन आश्चर्यजनक है। जो पर्याय अनुत्पन्न होती है—उत्पन्न हुई नहीं होती है उसकी सामर्थ्यका सद्भाव कैसे हो सकता है? जिसप्रकार वन्ध्यापुत्रकी जननशक्तिका सद्भाव नहीं हो सकता उसप्रकार अनुत्पन्न पर्यायकी सामर्थ्य भी सद्भूत नहीं हो सकती। यदि जीवद्रव्य स्वयमेव परिणत होता है ऐसा कहना हो तो हम भी कहते हैं कि निमित्त मिलनेपर ही उपादानभूत जीवद्रव्य परिणत होता है, अन्य द्रव्य परिणत नहीं होता। मेरा कहना इतना ही है कि सहकारिकारणके अभावमें द्रव्य परिणत नहीं होता। यदि जीवद्रव्य सहकारिकारणकी अपेक्षा न रखते हुए परिणत होता हो तो संसारी जीव मुक्त जीवके रूपसे परिणत नहीं होता ऐसा माननेकी आपत्ति खडी हो जायगी। ऐसी परिणतियोंके प्रतिबंधक कारणोंका भी आपके मन्तव्यके अनुसार अकिंचित्करत्व या अभाव मानना होगा। आप ही बताईये कि आपने यह जो पुस्तिका लिखी है वह इच्छापूर्वक नहीं लिखी है क्या?

यदि इच्छापूर्वक लिखी है तो इच्छा उत्पन्न होनेका कोई कारण होना ही चाहिये; क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते।' यदि मैंने ऐसा कहा कि 'पं. जीके इच्छाका अभाव था तो भी उनसे इस पुस्तिकाका उत्पाद हुआ है' तो लोग मेरी हंसी उडायेंगे। अतः आपके द्वारा व्यक्त किया गया अभिप्राय लोकविरुद्ध (प्रतीतिविरुद्ध) युक्तिविरुद्ध और आगमविरुद्ध है।

पृ. ४५ पर लिखा है कि– "वस्तुस्वरूप तुझे विश्वास दिलाता है कि तू जगत की ओरसे निश्चिन्त रह, पर पर–कर्तृत्वके अहंकारसे ग्रस्त यह कहता है कि बेटा दुकान संभाल ले तो मैं निश्चिन्त हो सकता हूं। जबतक जो काम मैं करता हूं वह काम दूसरा न करने लग जाय, तब तक मैं कैसे निश्चित हो सकता हूं? पर मैं कहता हूं कि 'क्रमबद्धपर्याय' को छोडकर आज तक कोई ऐसा बेटा पैदा नहीं हुआ है जो कर्तृत्वके अहंकारसे ग्रस्त बापको पूरा निश्चिन्त कर दे। क्रमबद्धपर्याय ही एक ऐसी है कि जो उसे समझे, उसपर श्रद्धा करे, तो निश्चिन्त हो सकता है।"

'जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है वह नियमसे जब होनेवाली है, टलनेवाली नहीं है ऐसी जो श्रद्धा–विश्वास करता है वही निश्चित हो सकता है' यह कथन विचारणीय है लेखकमहोदय जिसप्रकार कर्मरूप निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं उस प्रकार पुरुषार्थ को भी अकिंचित्कर मान रहे हैं यह ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट हो रहा है। अहंकारसे ग्रस्त मनुष्य अपने बेटेके पुरुषार्थ की अपेक्षा करता है। वह भी पुरुषार्थ कर रहा है। किंतु वह विश्राम चाहता है। वह अपने शुभ या अशुभ कार्योंके

उसको बाधकता नहीं है। उसका पुरुषार्थ अनुकूल कर्मोंका उदय हुआ तो सफल होगा और प्रतिकूल कर्मका उदय हुआ तो निष्फल होगा। उससे पुरुषार्थकी सफलता अनुकूल कर्मके उदय-पर अवलंबित है। अनुकूल कर्मका उदय होनेपर भी यदि पुरु-षार्थ किया नहीं गया तो इष्टफलकी प्राप्ति कैसे होगी ? केवल भवितव्यता भी पुरुषार्थ के अभावमें फलदायिनी नहीं हो सकती। जिस प्रकारकी भवितव्यता होती है उस प्रकारकी बुद्धि होती है और व्यवसाय भी उसी प्रकारका होता है तथा सहायक भी उसी प्रकारके होते हैं। उक्त दृष्टान्तमें पिताकी इच्छा उसकी भवितव्यताके अनुसार नहीं है क्या ? यदि क्रमबद्धपर्याय और भवितव्यता एक है तो बापकी इच्छा निष्फल होगी ही ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी इच्छाकी पूर्ति उसकी भवितव्यतापर अवलंबित है। पुरुषार्थके अभावमें किसी की भी इच्छाकी पूर्ति नहीं होती। कर्मरूप निमित्तको सर्वथा अकिंचि-त्कर मानना और पुरुषार्थका भी परिहार करना निर्हेतुकी नियतिका आश्रय करना नहीं है तो क्या है ? दैव और पुरुषा-र्थके मेलसे ही कार्यसिद्धि होती है; किंतु कभी दैवकी प्रधानता होती है तो कभी पुरुषार्थकी प्रधानता होती है। आचार्य समन्त-भद्रने कहा है कि—

> अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
> बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतं, बुद्धि-पूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीतं पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात्, तत्र दैवस्य

गुणभावात् दैवस्य प्रधानभावात्, न पुरुष[illegible] अपेक्षाकृतत्वादिह व्यवस्थायाः। तदपेक्षाभावे [illegible]-नैव दैवपौरुषयोरन्यतराभावेऽर्थसिद्धिः। इति स्यात्तत्वं दैवकृतं, अबुद्धिपूर्वा-पेक्षातः। स्यात्पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षातः।”

अर्थ–इष्टप्राप्तिकी और अनिष्ट परिहारकी इच्छा न होनेपर भी जो इष्टकी प्राप्ति होती है और अनिष्ठका परिहार होता है वह जीवके अपने दैवके–कर्मके कारण होता है (और) इष्ट प्राप्तिकी और अनिष्टपरिहारकी इच्छा उत्पन्न होनेपर जो इष्ट की प्राप्ति होती है और अनिष्टका परिहार होता है वह जीवके अपने पुरुषार्थके कारण होता है।

उस कारण जिसका मनमें विचार नहीं होता ऐसा जो इष्ट या अनिष्ट उपस्थित होता है वह दैवकृत होता है; क्यों कि इष्ट प्राप्तिकी और अनिष्टपरिहारकी इच्छाका अभाव होनेसे वहां–उस विषयमें पुरुषार्थका प्राधान्य न होनेसे–गौणत्व होनेसे दैवकी प्रधानता होती है। जिसकी प्राप्तिका और जिसके परिहारका मनमें विचार करनेपर जिस इष्टकी प्राप्ति होती है, जिस अनिष्टका परिहार होता है वह पुरुषार्थ के द्वारा सम्पादित किया हुआ होता है; क्यों कि इष्ट प्राप्तिकी और अनिष्टपरि-हारकी इच्छाका अभाव न होनेसे उस विषयमें दैवका गौणत्व होनेके कारण पुरुषार्थकी प्रधानता होती है। दैव और पुरुषार्थ इन दोनोंमें से किसी एकका अभाव होनेपर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्टका परिहार नहीं हो सकते, क्योंकि दैव और पौरुषकी व्यवस्था अन्योन्यकृत होती है। दैव और पौरुष इनमेंसे किसी एक का अभाव होनेपर कार्यकी सिद्धि वैसे नहीं होती [illegible]

एक दूसरेकी अपेक्षाका अभाव न होनेपर एक दूसरे की सहाय्यतासे ही दैव और पौरुष इन दोनोंसे ही इष्टानिष्टकार्यसिद्धि होती है। इसप्रकार बुद्धिपूर्व-अपेक्षाका अभाव होनेसे सर्व कथंचित् दैवकृत होता है, बुद्धिपूर्व-अपेक्षाका सद्भाव होनेसे (सर्व) कथंचित् पौरुषकृत होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि सब कुछ दैव और पौरुष इनका मेल होनेपर होता है।

पृ. ४५, परिच्छेद तीसरा लिखते हुए लिखा है कि-

" कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके परिणमनका भी कर्ता-हर्ता नहीं है। ज्ञानी आत्मा तो अपने विकार का भी कर्ता नहीं होता।"

कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके परिणमनका उपादान-कर्ता नहीं होता यह ठीक है; किंतु उपादानकी अपने परिणामके रूपसे होनेवाली परिणतिक्रियामें निमित्तकर्ता भी नहीं होता यह कथन युक्त्यागमप्रतीतिविरुद्ध है। कर्ताकर्माधिकारमें और सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें उपादानभूत द्रव्यकी अपनी पर्यायके रूपसे होनेवाली परिणतिमें अनुकूलरूपसे परिणत होकर निमित्तकर्ता होता है यह (गाथा ८४-८६) स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह अन्य द्रव्य कदापि सहकारिकारण होनेवाला नहीं होता तो निमित्तनैमित्तिकभाव कदापि कदापि नहीं बन पाता। आत्मख्यातिमें अनेक स्थलोंपर निमित्तनैमित्तिकभावका उल्लेख आचार्य अमृतचंद्रसूरिके द्वारा किया गया हुआ पाया जाता है। निम्नोक्त कलशमें रागादिभाव और परसंग इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव बताया है-

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥

इस कलशके द्वारा यह भी बताया गया है कि निमित्त या सहकारिकारण मिलनेपर ही अपने कार्यके–पर्यायके–परिणामके रूपसे परिणत होना वस्तुका स्वभाव है। अतः "कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके परिणमनका कर्ता नहीं होता" यह कथन और 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इस वचनको न मान–कर निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका सद्भाव होता है यह कथन लेखकके दुरभिनिवेशका फल है।

इसी पृ. ४५ पर आगे कहा है कि– "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारकी जिन गाथाओं की टीकामें क्रमनियमितपर्याय का उल्लेख आया है, उनमें अन्ततः अकर्तृत्व ही सिद्ध किया है। जैसा कि निम्नपंक्तियोंसे स्पष्ट है–

"एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पा–द्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्या–जीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।"

"इसप्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्योंका अन्य द्रव्योंके साथ उत्पाद्य–उत्पादकभावका अभाव है; उसके (कार्यकारणभावके) सिद्ध न होनेपर, अजी–

थके जीवका कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (अजीवके) जीवका कर्मत्व सिद्ध न होनेपर, कर्ता–कर्म की अन्य निरपेक्षतया (अन्य द्रव्यसे निरपेक्षतया स्वद्रव्यमें ही) सिद्धि होनेसे जीव के अजीवका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलियें जीव अकर्ता सिद्ध होता है। ''

'' भावार्थ– सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसीका किसीके साथ कर्ता–कर्मबंध नहीं है। इसलिए जीव अपने ही परिणामोंका कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म है। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार जीव दूसरेके परिणामोंका अकर्ता है। ''

' इस प्रकार जीव अपने परिणामोंके रूपसे उत्पन्न होने· वाला होनेपर भी उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता; क्यों कि सभी द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य–उत्पादकभावका अभाव होता है। ' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि जीव और उसके परिणामों में उत्पाद्य–उत्पादकभावरूप कार्यकारण भाव होता है, अजीवके साथ उपादान-उपादेयभावरूप-संबंध न होनेसे उसके साथ कार्यकारणभाव नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवद्रव्यका अन्यद्रव्योंके साथ उपादान-उपादेय–भावरूप कार्यकारणभावका प्रतिषेध किया है, न कि निमित्त–नैमित्तिकभावका। अन्य द्रव्योंके साथ जीवद्रव्यके कार्यकारणभाव की सिद्धि न होनेपर अजीवका जीवोपादानक कर्मत्व सिद्ध नहीं होता और अजीवके जीवकर्मत्वकी सिद्धि न होनेपर कर्ता और

कर्म ये दोनों अन्यकी अपेक्षाके अभावमें सिद्ध हो जानेसे जीवके अजीवका कर्तापन सिद्ध नहीं होता। इसकारण जीवका कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता सिद्ध नहीं होता।

इस उद्धृत किये गये शास्त्रीय प्रमाणसे एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यका उपादानकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता इसका 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी अपने परिणामके रूपसे होनेवाली परिणतिमें सहकारि-कारण भी नहीं होता' ऐसा अर्थ नहीं होता है। अतः यह प्रमाण निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभावका प्रतिषेधक नहीं है।

पृ. ४६-४७ पर लिखा है कि-"स्वकर्तृत्व कहो, सहज-कर्तृत्व कहो, अकर्तृत्व कहो-सबका एकही अर्थ है। जैन दर्शन अकर्तावादी दर्शन है-इसका भाव ही यही है कि सहजकर्तावादी या स्वकर्तावादी हैं, परकर्तावादी या फेरफारकर्तावादी नहीं है। सहज होना या करना एक ही बात है। भविष्यमें हमारा जो होना है, वही होगा अर्थात् हम पुरुषार्थपूर्वक वही करेंगे। इसमें पुरुषार्थकी कहीं कोई उपेक्षा नहीं है, कहीं कोई पराधीनता नहीं है, सर्वत्र स्वाधीनताका साम्राज्य है। इसमें सभी कुछ है-स्वभाव है, पुरुषार्थ है, भवितव्य है काललब्धि है और निमित्त भी है-पांचों ही समवाय उपस्थित हैं।"

स्वकर्तृत्व, सहजकर्तृत्व और अकर्तृत्व इनका अर्थ एक ही है ऐसा जो कहा है उसकी सिद्धि नहीं की है। अकर्तृत्वशब्दसे कर्तृत्वका अभाव इस अर्थका बोध होता है और स्वकर्तृत्व तथा-सहजकर्तृत्व इन शब्दोंसे कर्तृत्वके सद्भावका बोध होता है। इस-प्रकार अकर्तृत्व व स्वकर्तृत्व और सहजकर्तृत्व ये शब्द विरुद्धा-

र्थक हैं। जैनदर्शन अकर्तावादी है इसका अर्थ जैनदर्शनमें जीव स्वभाव-विभाव परिणामोंका भी कर्ता नहीं है क्या? विभाव-परिणामोंका कर्ता नहीं माना तो जीव कूटस्थनित्य है क्या? उसीप्रकार और एक दृष्टिसे विचार करना क्रमप्राप्त हो जाता है। जीवको अकर्ता माननेसे उसकी सर्वथा नित्यताकी सिद्धि हो जानेसे उसकी युक्त्यागमप्रतीतिसिद्ध कथंचित् अनित्यताकी सिद्धि नहीं होगी। इसप्रकार तो युक्त्यागमप्रतीतिसिद्ध जीवकी नित्या-नित्यात्मकता बाधित हो जायगी और एकान्त नित्यताकी सिद्धि हो जायगी। शुद्ध आत्मा यद्यपि विभावभावोंका कर्ता नहीं है तो भी वह शुद्ध सूक्ष्म पर्यायोंका उपादानकर्ता है। अतः जीवका जब कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है तब जैनदर्शनको अकर्तावादी नहीं कहा जा सकता है। उसको जो अकर्तावादी कहा जाता है वह सिर्फ ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेसे कहा जाता है। अतः जैनदर्शन सर्वथा अकर्तावादी नहीं है। उसको पं. जीने सहजकर्तावादी कहा है। जैनदर्शनके सहजकर्तावादित्वकी सिद्धि करनेवाला पं. जीके पास कौनसा शास्त्रीय प्रमाण है? सहजकर्तावादी इस शब्दका अर्थ क्या है? सहजशब्दका अर्थ स्वाभाविक ऐसा है। अतः सहजकर्ता इसका अर्थ स्वाभाविककर्ता ऐसा होता है। कर्ताका सहज अर्थात् स्वाभाविक यह विशेषण वैभाविककर्तृत्वके परिहारके लिए है क्या? वैभाविक कर्तृत्वका स्वरूप क्या है? सहजकर्तृत्व यह शब्द नवनिर्मित है। वैभाविककर्तृत्वनामकी कोई चीज है ही नहीं। मान लीजिए कि सहजकर्तृत्व नामकी चीज है तो भी अकर्तृत्व और सहजकर्तृत्व अभिन्नार्थक कैसे हो सकते हैं? स्वकर्तृत्वशब्दका अर्थ क्या है? मेरी दृष्टिमें (१) जो अपना होता है उसका कर्तृत्व और (२) अपना कर्तृत्व' ऐसे दो अर्थ

स्वकर्तृत्वके होते। हैं 'स्वस्य कर्तृत्वं' इस विग्रहमें 'स्वस्य' इस पदकी जो षष्ठी विभक्ति है उसके (१) कर्तरि षष्ठी और (२) कर्मणि षष्ठी इसप्रकार षष्ठीके दो अर्थ होते हैं। इन अर्थोंके अनुसार '(१) अपना कर्तृत्व और (२) जो अपना होता है उसका कर्तृत्व' ये दो अर्थ होते हैं। इन दोनों अर्थोंकी दृष्टिसे स्वकर्तृत्वका और सहजकर्तृत्व और अकर्तृत्व इनका अभिन्नार्थकत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? इन तीनों शब्दोंके ऊपर बताये गये अर्थोंसे भिन्न अर्थ है क्या? ये भिन्न अर्थ कौनसे हैं जो कि अभिन्न हो सकते हैं? 'जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है—इसका भाव ही यही है कि सहजकर्तावादी या स्वकर्तावादी है' इस अपनी मान्यताको सिद्ध करनेकी जिम्मेदारी पं. जीकी है। केवल कहने-मात्रसे स्वाभिप्रायकी सिद्धि नहीं हो सकती। '(जैनदर्शन) परकर्तावादी या फेरफारकर्तावादी नहीं है' यह अभिमत भी चिन्त्य है। एकद्रव्य दूसरे द्रव्यके उपादेयका उपादानकर्ता नहीं हो सकता यह ठीक है; किन्तु निमित्तकर्ता भी नहीं होता यह पं. जीके अपनी घरकी मान्यता है। बद्धकर्म जबतक उदयमें आया हुआ नहीं होता तबतक उसमें फेरफार किया जा सकता है। जीव अपने बद्ध कर्ममें अपने परिणामोंके द्वारा फेरफार कर सकता है। अपने परिणामके द्वारा जीव अपनी बद्धायुको घटा सकता है। इसीका नाम फेर-फार करना है। इसीप्रकार सकामनिर्जराके द्वारा भी बद्ध कर्ममें फेर-फार कर सकता है। यह फेर-फार केवली भगवानके द्वारा जाना हुआ होता है इसमें संदेह नहीं। भगवानने जिसप्रकार जाना हुआ होता है वैसा ही फेरफार किया जाता है इसमें भी संदेह नहीं; किन्तु फेर-फार किया जाता ही नहीं ऐसा नहीं है। 'सहज होना और करना एक ही

बात है ' यह अभिमत भी ठीक नहीं है; क्योंकि ' सहज होना ' यह वैस्रसिकी क्रिया है और ' करना ' यह प्रायोगिकी है। ये दोनों क्रियाएँ एक कैसे हो सकती हैं? बताइये। ' भविष्यमें हमारा जो होना है, वही होगा अर्थात् पुरुषार्थपूर्वक वही करेंगे ' यह कथन भी मनमाना है। गिरनेवाली मोटरमें बैठे हुए जीवका जो अकालमरण होता है और विषसेवनके कारण जो अकाल-मरण होता है क्या दोनों मरण समान है? अकाल-मरणकी अपेक्षासे यद्यपि दोनों मरण समान है तो भी एक मरण आत्मघात कहा जाता है और दूसरा मरण अपघातमरण कहा जाता है। आत्मघात किया जाता है और अपघात होता है। अतः ' सहज होना ' और ' करना ' एक बात नहीं है। जो होता है उसमें पुरुषार्थ नहीं होता और जो किया जाता है वह पुरुषार्थ-पूर्वक ही किया जाता है। जो होता है उसमें पराधीनता नहीं होती और करनेकी क्रिया कर्त्रधीन होनेसे पराधीन होती है। अतः ' सर्वत्र स्वाधीनताका साम्राज्य होता है ' यह कथन मन-माना है, वास्तविक नहीं है। ' इसमें सभी कुछ है-स्वभाव है, पुरूषार्थ है, भवितव्य है, काललब्धि है और निमित्त भी है - पांचो ही समवाय उपस्थित हैं ' ये पांच समवाय कौनसे दिगंबराचार्यप्रणीत ग्रन्थमें निर्दिष्ट हैं? जब भवित-व्यता अर्थात् भाविकालमें उदयमें आनेवाला पूर्वबद्धकर्मरूप है और जब निमित्त भी पूर्वबद्धकर्मरूप है तब दोनोंका पृथग्रूपसे ग्रहण कैसे किया गया? जब सहज होना और करना एकरूप हैं तब पुरूषार्थके ग्रहणका प्रयोजन क्या है? इसप्रकार दो समवा-योंका ग्रहण अनावश्यक होनेसे समवाय तीन ही रहते हैं। समवाय शब्द समूहार्थवाचक होनेसे उन पांचोंमेंसे प्रत्येक समवाय नहीं

कहा जाना चाहिए। इस शब्दके कारण ऐसा लगता है कि ये पांच समवाय (?) कपोलकल्पित हैं। इन पांचोपर आगे सविस्तर विचार प्रकट किया जायगा।

पृ. ४७ पर प्रश्नका जो उत्तर प्रकट किया गया है उसमें जो '(जिसके) क्रमबद्धपर्यायका निर्णय हुआ है, वह जीव मिथ्यात्वादिभावोंरूपसे परिणमित (?) होता ही नहीं।' यह जो वाक्य है वह ऐकान्तिकताका ज्ञापक है; क्योंकि पर्यायें अक्रमविवर्ती होनेपर भी उनका परिहार किया गया है। आगे जो 'जो अल्परागादिविकार होता है, उसमें भी वह एकत्वरूपसे परिणमित नहीं होता' ऐसा लिखा है वह अनुचित है। राग आदि चाहे तीव्र हो या मंद हो जीवके सभी प्रदेश उनके रूपसे जब परिणत होते हैं तब जीव उसमें एकत्वरूपसे परिणमित्त नहीं होता ऐसा कहना वास्तवताके विरुद्ध है। यह परिणत होनेवाला जीव अशुद्धावस्थ होता है इसमें संदेह नहीं। जीवकी अशुद्धता जब नष्ट होती है तब यह एकीभाव भी नष्ट हो जाता है। अल्परागादिविकारमें जीव एकत्वरूपसे यदि परिणत नहीं होता तो क्या भिन्नत्वरूपसे परिणत होता है? जीव अल्परागादिरूपसे परिणत भी होता है और उन भावोंका कर्ता भी नहीं होता यह मन्तव्य विलक्षण है। जो परिणत होता है वह नियमसे कर्ता होता है। 'यः परिणमति स कर्ता' इस आचार्य अमृतचंद्रसूरिके वचनके अनुसार जो परिणत होता है वह नियमसे कर्ता होता है। जीवका सम्यक्त्वात्मक परिणाम भी सप्तकर्मप्रकृतिनियमित होता है, क्योंकि दर्शनमोहकी और चारित्रमोहकी प्रकृतियोंके अभावके विना वह प्रकट नहीं होता। इन प्रकृतियोंका अभाव

होनेपर ही जीव सम्यग्दर्शनज्ञानरूप परिणामोंके रूपसे परिणत होता है।

पृ. ४८ पर लिखा है कि – "इसी बातको यदि वस्तु-स्वरूपकी ओरसे विचार करें तब भी इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे; क्योंकि नित्यताके समान परिणमन भी प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है। जिस वस्तुका जो स्वभाव है उसके होनेमें परके सहयोगकी क्या आवश्यकता है? यदि द्रव्यको अपने परिणमनमें पर की अपेक्षा हो तो फिर वह उसका स्वभाव ही क्या रहा? द्रव्यशब्द ही द्रवणशीलता–परिणमनशीलताका द्योतक है। जो स्वयं द्रवे–परिणमे, उसे ही द्रव्य कहते हैं।"

प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक होनेसे वह नित्य–ध्रुव होता है उसप्रकार वह अध्रुव–अनित्य–परिणमनशील भी होता है इसमें संदेह नहीं है। ऐसा होते हुए भी उसका परिणत होनेका स्वभाव सहकारिकारणके अभावमें अपने परिणामके रूपसे परिणत नहीं हो सकता। वह स्वयं परिणत होनेमें असमर्थ होता है। निमित्तका-रणके–सहकारिकारणके मिलनेपर ही अपने परिणामके रूपसे परिणत होनेका द्रव्यका स्वभाव है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव और अमृतचंद्रसूरिके नीचेके वचन विचारणीय हैं।

(१) बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषि-र्बुधानाम्॥ (स्वयम्भूस्तोत्र)

(२) अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्य-लिङ्गा। (स्वयम्भूस्तोत्र)

(३) ततो न मीमांसकस्य सांख्यमतानुसरणं युक्तं, सर्वथा शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात्। तथा विनाशानभ्युपगमे तस्य किंकृतमश्रवणम्? स्वावरणकृतमिति चेत्, नैतत्सारं, तदात्मानमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वायोगात्। तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य शब्दात्मानं खण्डयत एवावरणत्वे स्वभावभेदप्रसङ्गः, आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः। तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वेत्येकान्तः प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तरं श्रुतिरिति विभागानुपपत्तेः। स्यान्मतं, यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमसस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति, तदसत्, तस्यापि तेनात्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात्तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः सर्वस्य परिणामित्वसाधनात्। ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डितस्वभावत्वेपि नैकान्ततः श्रुतिः, सहकारिकारणपेक्षत्वात् स्वविज्ञानोत्पादने तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये सम्भवात् इति चेत् तर्हि किमयं शब्दः स्वविषयसंवित्तिकरणे समर्थोऽसमर्थो वा? स्वसंवित्त्युत्पत्तौ कारणान्तरापेक्षा मा भूत् तत्करणसमर्थस्य। अन्यथा स्वयमसमर्थस्य सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जकव्यापारलक्षणं किमस्यासामर्थ्यं खण्डयत्याहोस्विन्नेति पक्षद्वितयम्। तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्? (अपि तु न स्यादेव।) (अ. स., पृ. १०५)

अर्थ – उसकारण मीमांसकको सांख्यमतका अनुसरण करना ठीक नहीं है; क्योंकि शब्दके प्रागभावको सर्वथा स्वीकार न करनेपर (शब्दके) अनादित्वका प्रसंग खड़ा हो जानेसे पुरुषव्यापारकी अनर्थताका–व्यर्थताका समर्थन हो जाता है। जिसप्रकार शब्दके

प्रागभावको नहीं माना जाता उसप्रकार (शब्दके) विनाशको-प्रध्वंसाभावको नहीं माना जानेपर शब्दका अश्रवण (न सुनना) किसके द्वारा किया गया होता है? शब्दके अपने आवारकके द्वारा (अश्रवण) किया गया होता है ऐसा कहना हो तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि शब्दके (श्रावणरूप) स्वरूपको खंडित न करनेवाले (वायुसदृश) किसीका आवारकत्व घटित नहीं होता। शब्दके स्वरूपको खंडित करनेवाले ही किसी आवारक वायुविशेषका आवारकत्व हो तो शब्दके स्वभावका (श्रावणत्व-स्वभाव और अश्रावणत्वस्वभाव इसप्रकार) भेद होनेका प्रसंग खड़ा हो जाता है; क्योंकि आवृतस्वभाव और अनावृतस्वभाव इन दोनों स्वभावोंका अभेद घटित नहीं होता अथवा आवृतस्वभाव और अनावृतस्वभाव इनमें अभेद होनेपर अर्थात् भेद न होनेपर श्रुत्येकान्त अथवा अश्रुत्येकान्तका प्रसंग खड़ा हो जाता है; क्योंकि पुरुषव्यापारके पूर्वकालमें अश्रुति और पुरुषव्यापारके अनन्तर श्रुति (श्रवण, सुनना) इसप्रकार विभाग घटित नहीं होता। जिसप्रकार घटादिके स्वरूपको खंडित न करनेवाला अन्धकार घटादिका आवारक होता है उसप्रकार शब्दके स्वरुपको खंडित न करनेवाला कोई पदार्थ शब्दका भी आवारक होगा ऐसा मत हो सकता है। यह मत ठीक नहीं है, क्यों कि उसका भी (घटादिका भी) उसके (अंधकारके) द्वारा जो स्वभाव होता है उसका खंडन होता है ऐसा माना जानेसे (घटमें) दिखाई देनेवाले स्वभावका खंडन करनेसे अंधकारका घटादिके आवारकत्वकी सिद्धी हो जानेसे सभीके पारिणामित्वकी सिद्धि हो जाती है। अंधकारके द्वारा भी घटादिका खंडन न किया जानेपर अंधकारके पूर्वकालमें जिसप्रकार घटादिकी उपलब्धि होती है उसप्रकार

उपलब्धि क्यों नहीं होती ; क्यों कि उस घटादिकी उस अंध-कारके द्वारा उपलभ्यरूपसे खंडन किया गया नहीं होता। (शंका) 'पुरुषव्यापारके पूर्वकालमें और बादमें शब्दका (श्रावणत्वरूप) स्वभाव खंडित हुआ न होनेपर भी उसकी श्रुति (श्रवण, सुनना) होती ही है ऐसा एकान्त नहीं है; क्यों कि सहकारिकारण की अपेक्षासहित होनेसे अपने ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें सहकारिकारणका अभाव होनेपर उसकी अश्रु-तिका भी संभव है' ऐसा कहना हो तो यह स्वविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें क्या वह समर्थ होता है या असमर्थ होता है? स्वविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेवाले शब्दको स्वविषयक ज्ञान उत्पन्न करनेमें ' (ताल्वादिरूप) अन्य कार-णोंकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। स्वविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ शब्दको स्वविषयक ज्ञानकी उत्पत्तिमें ताल्वादिरूप अन्य कारणोंकी अपेक्षा हो तो स्वविषयक ज्ञान की उत्पत्ति करनेमें असमर्थ इस शब्दकी असमर्थता इन्द्रिय और मन इनका अभिव्यंजक व्यापाररूप सहकारिकारण खंडन करता है या नहीं इस प्रकार दो पक्ष हैं। उस शब्दकी असमर्थताका खंडन न कर-नेवाला अकिंचत्कर कोई सहकारिकारण हो सकता है क्या? (हो ही नहीं सकता।)

(४) न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ (स. सा. कलश)

इनप्रमाणोंसे निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं। देखिये — (१) द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी स्वयं अर्थात् सहकारि-

कारणके अभावमें अपने कार्यके–पर्यायके–परिणामके–उपादेयके रूपसे परिणत होनेमें असमर्थ होता है। (२) उपादानभूत द्रव्यकी अपने उपादेयके रूपसे स्वयं परिणत होनेकी असमर्थताका खंडन–नाश– अभाव सहकारिकरण– निमित्तकारण ही करता है। उपादानभूत द्रव्यकी इस असमर्थताका खंडन करनेका नाम ही बलाधान करना है। (३) कार्यकी–पर्यायकी–परिणामकी उत्पति उपादान और उसका सहकारिकारण इन दोनोंसे ही होती है। इन दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। (४) जो उपादानकी असमर्थताका खंडन नहीं करता वह अकिंचित्कर होनेसे सहकारिकारण नहीं हो सकता। (५) सहकारिकारण के मिल जानेपर ही कार्यरूपसे परिणत होना वस्तुका स्वभाव है। ऐसा ही वस्तुका स्वभाव होनेसे सहकारि–कारण वस्तुस्वभाव को बाधित करता है ऐसा कहना कपोल–कल्पित है। सहकारिकारण वस्तुस्वभावको वस्तुतः प्रकट ही करता है।

यहां एक दृष्टान्तके द्वारा उक्त कथनका स्पष्टीकरण किया जाता है। बढईमें कुर्सीरूप कार्य करनेकी योग्यता–शक्ति–सामर्थ्य है। यह उसकी शक्ति हथियारों की प्राप्ति होनेपर ही व्यक्त होती है। हथियाररूप सहकारिकारण की प्राप्ति हो जानेपर ही वह बढई चाहे जिसप्रकार के कुर्सीरूप कार्यकी निर्मिति करनेके अपने परिणामके रूपसे परिणत हो जाता है। हथियाररूप सहकारिकारणकी प्राप्ति होनेपर बढईका अपना कार्य करने का स्वभाव–शक्ति और स्वतंत्रता व्यक्त नहीं होते? हथियाररूप सहकारिकारणोंकी प्राप्ति न होनेपर बढईकी कार्य–करनेकी शक्ति–स्वभाव और स्वतंत्रता व्यक्त होते हैं क्या?

वस्तुतः सहकारिकारणकी प्राप्ति होनेपर उपादानका स्वभाव और स्वातंत्र्य व्यक्त होते हैं, कदापि बाधित नहीं होते। सहकारिकारण का स्वीकार करनेसे वस्तुस्वभाव बाधित होता है ऐसा जो ध्वनित किया जाता है वह युक्त्यागमप्रतीतिसिद्ध सहकारिकारणका अपनी मान्यताको मनवानेके लिए परिहार करनेके लिए है। निमित्तकारणकी या सहकारिकारणकी प्राप्ति होनेपर उपादानकारणभूत द्रव्य अपने उपादेयभूत परिणामके रूपसे स्वयमेव परिणत होता है, दूसरा कोई परिणत नहीं होता है। कुम्हाररूप सहकारिकारण मिलनेपर मिट्टी ही घटरूपसे परिणत होती है, कुम्हार आदि घटरूपसे परिणत नहीं होते। अतः सहकारिकारणकी प्राप्ति होनेपर उपादानभूत द्रव्यकी द्रवणशीलता बाधित नहीं होती। सारांश, द्रवणशीलताको अबाधित रखनेके लिए सहकारिकारणका परिहार करनेकी किसी भी प्रकारसे आवश्यकता नहीं है।

इसी पृष्ठपर लिखा है कि– " प्रत्येक द्रव्यमें एक द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण है–शक्ति है। उसके कारण ही द्रव्य परिणमनशील है। परिणमनशीलता द्रव्यका सामान्यधर्म है, सहज स्वाभाविकधर्म है, परनिरपेक्षधर्म है। "

परिणमनशीलता यह द्रव्यका सामान्यधर्म है, सहजधर्म है, स्वाभाविकधर्म है इसमें संदेह नहीं; किंतु वह धर्म परनिरपेक्ष नहीं है; क्यों कि वह परिणमनक्रिया सहकारिकारणके अभावमें उत्पन्न होती ही नहीं। इस अभिप्रायका खुलासा ऊपर किया गया है। ऊपरका खुलासा जिन्हें मान्य नहीं वे अवश्य ही उसका खंडन करे।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि-" बदले भी कैसे ? जबकी प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्याय स्व-अवसरपर ही होती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जितने तीन कालके समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें हैं और एक-एक पर्याय एक एक समयमें खचित है। यदि एक पर्यायको अपने स्थान (समय) से हटाया जाएगा तो वह स्थान (समय) रिक्त हो जाएगा। उस स्थान (समय) की पूर्ति हेतु दूसरी पर्याय कहाँसे आवेगी? जिस इष्ट पर्याय को आप लाना चाहते हैं, यदि उसे अपने स्थान (समय) से हटाकर वहाँ लाएंगे तो क्या यहां की पर्याय वहाँ ले जावेंगे ? जो कि संभव नहीं ? "

क्या पर्यायें व्यंजनपर्यायके और अर्थपर्यायके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं यह बात विद्वद्वर पंडितजी जानते नहीं होंगे ? यदि जानते होंगे तो व्यंजनपर्यायके विषयमें उन्होंने अपने विचार क्यों व्यक्त नहीं किये ? केवल अर्थपर्यायोंको लेकर ही अपने मन्तव्यका समर्थन करनेका ही प्रयत्न क्यों किया है ? यह युक्तिवाद लोगोंकी प्रतारणा करनेके लिए नहीं किया गया है क्या ? मनुष्यपर्याय, देवपर्याय, तिर्यंचपर्याय और नारकपर्याय ये क्षणमात्र-समयमात्रवर्ती न होनेसे पर्याय ही नहीं हैं क्या ? ये जीवकी अवस्थाएं उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली नहीं है क्या ? यदि उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली है तो वे भी पर्यायरूप हैं। जिस-प्रकार प्रत्येक सूक्ष्मपर्याय कालके अविभागप्रतिच्छेदरूप एक-एक समयपर एक-एक सूक्ष्मपर्याय खचित है उसप्रकार एक-एक समय-पर एक-एक व्यंजनपर्याय खचित है क्या ? यदि नहीं तो उन व्यंजनपर्यायोंका काल एक समयसे दीर्घतर और दीर्घतम है यह सिद्ध

हो जाता है। ऐसी व्यंजनपर्यायोंको पं. जीमान्य आगममें स्थान ही नहीं है क्या ? सूक्ष्मपर्यायें प्रत्येक समयमें खचित हैं इस बातको मैं स्वीकार करता हूं। इस विषयमें मेरा प्रश्न है कि ये सूक्ष्म-पर्यायें नियमसे शुद्ध ही होती हैं क्या ? यदि शुद्ध ही होती हो तो जीवकी अशुद्ध अवस्थामें उनका अभाव ही मानना होगा। यदि अशुद्धअवस्थामें उनका अभाव माना तो बाल्यावस्थासे युवावस्थाके रूपसे और युवावस्थासे वृद्धावस्थाके रूपसे परिणमन कैसे होगा ? इसीप्रकार कर्मबद्ध अवस्थामें सूक्ष्मपर्यायोंका अभाव होनेसे कालके प्रत्येक समयपर समय खचित है इस मन्तव्यकी सिद्धि कैसे होगी ? यदि अशुद्ध अवस्थामें भी समयमात्रवर्ती पर्यायोंका सद्भाव माना जो उनकी जाति और अशुद्ध व्यंजनपर्यायोंकी जातियोंकी अभिन्नता सिद्ध हो जायेगी। पर्यायोंका जब प्रागभाव होता है तब सकामनिर्जराके द्वारा उनको हटाया जा सकता है और अन्य पर्यायके रूपसे पर्यायी द्रव्यका परिणमन होता है पूर्वपर्यायको हटानेपर उत्तर पर्याय बाहरसे कहांसे लानेकी आव-श्यकता नहीं होती। उपादानभूत द्रव्यमें उत्तरपर्याय प्रागभाव-रूपसे अर्थात् उपादानकी योग्यताके रूपसे उस द्रव्यमें विद्यमान रहती ही है। सूक्ष्मपर्याय हटायी नहीं जा सकती और उसका स्थान रिक्त नहीं रह सकता। अगर द्रव्यकी एक सूक्ष्मपर्यायको हटा दिया तो द्रव्यकी सभी पर्यायोंका अभाव हो जायगा ; क्योंकि पूर्वपर्यायका व्यय ही उत्तरपर्यायका उत्पाद होता है। जिस पर्यायको हटा दिया जायगा उसके पूर्वपर्यायके व्ययका तुच्छाभाव माननेका प्रसंग खड़ा हो जायगा। इसप्रकार सभी सूक्ष्मपर्यायोंका अभाव हो जायगा। सभी सूक्ष्मपर्यायोंका अभाव हो जानेपर द्रव्यको कूटस्थ माननेका प्रसंग खड़ा हो जायेगा। द्रव्य कूटस्थ नित्य बन

जानेपर जीवके चतुर्गतिभ्रमणका अभाव हो जायेगा। इसप्रकार जीवोंकि संसारि और मुक्त इस भेदका अभाव हो जायेगा और जीवोंको सदा शिव माननारूप अनिवार्य प्रसंग खड़ा हो जायेगा। और एक बात यह है कि द्रव्योंकी सूक्ष्मपर्यायोंका अभाव हो गया तो कालद्रव्यके वर्तना इस स्वभाव की सिद्धि नहीं होगी और कालद्रव्यका अभाव हो जायेगा। कालद्रव्यका अभाव श्वेतांबर मानते हैं। ' कालश्चेत्येके ' ऐसा उनके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र शास्त्रका सूत्र है।

ऊपर एक बातका उल्लेख करना रह गया है। वह बात निम्नरूप है। सिद्धावस्था अवस्थारूप होनेसे पर्यायरूप है। क्या यह पर्याय समयमात्रवर्तिनी है? यह अवस्था व्यंजनपर्यायरूप नहीं है क्या? क्या यह अर्थपर्यायरूप–सूक्ष्मपर्यायरूप है? यदि सूक्ष्मपर्यायरूप हो तो उसका अस्तित्व एक समयकाल प्रमाण ही रहेगा। आगम तो उसका काल अनन्त बताता है।

पृ. ४९ पर लिखा है कि -" द्रव्य और गुणके समान पर्याय भी सत् है। प्रवचनसार गाथा १०७ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। द्रव्य और गुण यदि त्रिकाली सत् है तो पर्याय स्वसमय अर्थात् एकसमय की सत् है। जिसप्रकार द्रव्य और गुणकी त्रिकालसत्ताको चुनौती (चेलेन्ज) नहीं दी जा सकती; उसी–प्रकार पर्यायकी भी स्वसमय सत्ताको चुनौती नहीं दी जा सकती।"

इस प्रकरणमें इस कथन की क्या आवश्यकता थी? यदि पर्याय सत् न होती तो उसका अभाव हो जाता और पर्यायका

अभाव होनेसे द्रव्य कूटस्थ नित्य बन जाता। जैनदर्शन द्रव्यको परिणामी सिद्ध करता है। अतः वह पर्यायको असत् नहीं बताता। जब पर्याय पर्यायीसे भिन्न नहीं है तब पर्यायी सत् होनेसे पर्यायका सत्त्व भी सिद्ध हो जाता है। पं. जी महोदयने ऊपरके उद्धरणमें केवल सूक्ष्मपर्यायका सत्त्व सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यंजनपर्यायके सत्त्वकी सिद्धि नहीं की। इस कृतिके द्वारा अपने मन्तव्य की सिद्धि करनेके लिए आगमोक्त व्यंजनपर्यायको पाठकोंसे छिपानेका अनुचित कार्य किया है। व्यंजनपर्याय दीर्घकालवर्तिनी होनेसे वह भी सद्रूप है। गाथा १०७की तत्त्वदीपिका टीकामें पर्यायका सामान्यतया ग्रहण किया है। अतः पर्यायशब्दसे पर्यायके दोनों भेदोंका ग्रहण हो जाता है। पंडितजीने केवल सूक्ष्मपर्यायको ग्रहण करके और व्यंजनपर्यायको छोडकरके आचार्य अमृतचद्रसूरिके अभिप्रायको अपने मन्तव्यके समर्थनार्थ परिवर्तित कर दिया है। क्या ऐसा करना उचित है ?

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – "द्रव्य और गुणोंसे बेखबर अज्ञानी की दृष्टि पर्यायपर रहती है, पर्यायके फेर–फार करनेके विकल्पमें ही उलझी रहती है। इसी उलझाव के कारण उसकी दृष्टि स्वद्रव्यपर नहीं जा पाती , वह द्रव्यदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नहीं बन पाता।

आगम में 'पज्जयमूढा हि परसमया' तथा 'जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा' कहकर पर्यायदृष्टिवंतको मिथ्यादृष्टि और द्रव्यदृष्टिको सम्यग्दृष्टिवंत कहा गया है।"

द्रव्य और गुणोंसे बेखबर अज्ञानी की दृष्टि पर्यायपर रहती

है, पर्यायके फेरफार करनेके विकल्पमें उलझी रहती है ' यह कथन चिन्त्य है। जो गुण और द्रव्यको जानता है उसकी भी दृष्टि अशुद्धपर्यायको नष्टकर शुद्ध पर्यायकी प्राप्ति कर लेनारूप फेर-फार करनेमें लगी रहती है। ऐसी अवस्थामें सम्यग्दृष्टिजीव मिथ्यादृष्टि कहा जायगा क्या ? सम्यग्दृष्टि उक्तप्रकारक फेरफार करनेमें लगता नहीं क्या ? सम्यग्दृष्टि महाव्रती जीव महाव्रतका पालन वीतराग अवस्थाकी-पर्यायकी प्राप्तिके लिए करता ही नहीं क्या ? ' रागादेर्विनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ' इस आचार्य समन्तभद्रके वचनके अनुसार महाव्रत सरागपर्यायका नाश करके वीतरागपर्यायरूपसे परिणत होनेके लिए साधुपुरुष प्रयत्न नहीं करते क्या ? सराग अवस्थाका अभाव करके वीतराग-अवस्थाकी प्राप्तिके लिए पुरूषार्थ करना फेर-फार करना नहीं है क्या ? इस प्रकारका फेर-फार करने के लिए पुरूषार्थ करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया है। वस्तुतः कर्मोदयजनित मनुष्यादिपर्यायोंमें निरत जीव मिथ्यादृष्टि कहा जाता है; क्योंकि वह ' मैं मनुष्य हूं। देव हूं ' इस प्रकार समझकर रागद्वेष करके कर्मसे युक्त होनेके कारण परसमय कहा जाता है। अतः जो पर्यायका फेर-फार करनेमें निरत होता है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि ही होता है ऐसा एकांत नहीं किया जा सकता। प्रवचनसार गाथा ९४ की तत्त्वदीपिकामें आचार्य अमृत-चंद्रसूरिनें कहा है कि-

" क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा सङ्गतत्वात्परसमया जायन्ते "

आचार्य श्री जयसेनजीने भी लिखा है कि – "ताभ्यां (अहंकाराममकाराभ्यां) परिणताः ममकाराहंकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात् परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते।"

इससे जो मिथ्यादृष्टि होते हैं वे ही परसमय होते हैं यह अभिप्राय व्यक्त होता है। यही अभिप्राय गाथा ९४ की तत्त्वदीपिकाटीका की पहली दो पंक्तियोंसे, विशेषत: 'ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टय:' इन पदोंसे व्यक्त होता है। ऐसे मिथ्यादृष्टियोंको आत्माके यथार्थस्वरूपका ज्ञान नहीं होता।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– "द्रव्यदृष्टि प्राप्त करनेके लिए पर्यायोंकी क्रमबद्धताकी प्रतीति आवश्यक है। पर्याय भी स्वकालकी सत् है, उसमें भी किसी प्रकारका फेर–फार सम्भव नहीं–ऐसी प्रतीति होते ही पर्यायकी ओरसे निश्चिन्त दृष्टि स्वभावकी ओर ढुल जाती है।

क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति विना दृष्टिका स्वभावसन्मुख होना सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्यायोंमें अपनी इच्छानुकूल फेर–फार करनेका भार उसपर बना रहता है। फेरफार करनेके भारसे बोझिल दृष्टिमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वभावकी ओर देख सके। दृष्टिके सम्पूर्णत: निर्भार हुए विना अन्तर–प्रवेश सम्भव नहीं।"

पं. जीने पर्यायसे समयमात्रवर्ती सूक्ष्म पर्यायका ग्रहण किया है और कर्मनिमित्तक व्यंजनपर्यायका नामोल्लेख भी नहीं

किया है। आगममें पर्यायको क्रमनियमित कहा है। ये जो क्रम-नियमित पर्यायें हैं उनको हटाये बिना आत्माका दर्शन नहीं होता। अतः उनको हटाना आवश्यक है। एकसमयमात्रवर्तिनी सूक्ष्म पर्यायें कालद्रव्यनिमित्तक स्वाभाविक परिणामरूप हैं। उनको कैसे हटाया जा सकता है? आत्माके परिणामित्व स्वीकार करनेवालेको यह ज्ञात होता है कि ये पर्यायें हटाये नहीं जा सकतीं। इनको हटानेसे द्रव्यका अस्तित्व ही मिट जानेकी आपत्ति खडी हो जायगी। इन सूक्ष्म पर्यायोंकी क्रमनियमितताका ज्ञान कैसे हो सकता है? कौनसी सूक्ष्म पर्याय कौनसी पर्यायके बाद उत्पन्न होनेवाली है और उसके बाद कौनसी पर्याय उत्पन्न होनेवाली है इस बातका ज्ञान कैसे हो सकता है? उस पर्यायका स्थल, काल, प्रकार आदिका ज्ञान जीवको कैसे हो सकता है? व्यंजनपर्यायें कर्मनिमित्तक होनेसे उनके स्थलकालादिका ज्ञान हो सकता है, फिर भले ही भगवानके होता हो। इन व्यंजनपर्यायोंको हटानेसे ही या उनके ज्ञानसे ही द्रव्यदृष्टि प्राप्त हो सकती है। सूक्ष्म पर्यायें जब हट नहीं सकती, जब वे ध्यानकालमें भी अर्थात् ध्यानके अन्तर्मुहूर्त कालमें भी नहीं हट सकती, जब वे द्रव्यदृष्टि प्रतिबन्धक नहीं होती और जब वह सिद्ध अवस्थामें भी सद्रूप होती है तब उसकी 'क्रमबद्धता' की प्रतीतिकी द्रव्यदृष्टिकी प्राप्तिके लिए आवश्यकता क्यों बताई जा रही है। पर्यायका एकसमयमात्रप्रमाण स्वकालका सत्त्व बतानेका क्या प्रयोजन है? पं. जी व्यंजनपर्यायको क्यो स्वीकार नहीं करते। वे सूक्ष्म पर्यायको स्वीकार करके उसके ऊपर व्यंजन पर्यायका स्वरूप क्यों आरोपित कर रहे हैं? कर्मोदयनिमित्तक पर्यायकी उत्पत्तिके पूर्वमें उसका अभाव करके दूसरी पर्यायका उत्पाद किया जा

सकता है। जो पर्यायें कर्मनिमित्तक नहीं होती और जो एक समयमात्रवर्तिनी होती हैं और जो स्वाभाविकी होती हैं उन पर्यायोंमें फेर-फार करनेकी आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। जिनपर्यायोंका अभाव जीवके द्वारा किया जानेवाला होता है और जिस नयी पर्यायका उत्पाद किया जानेवाला होता है उनका क्रमनियमितत्व भगवानको ज्ञात हुआ होता है। जिस श्रद्धालु जीवको आगमसे शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान हुआ होता है और विभावभावोंके स्वरूपका ज्ञान हुआ होता है, वह सामान्यतः सभी विभावभावोंका अभाव करनेके लिये पुरुषार्थ करनेमें लग जाता है; उसे क्रमके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं जंचती। विभाव-पर्यायोंके क्रमके ज्ञानके विना जीव विभावपर्यायोंका नाश करनेके लिए पुरुषार्थ नहीं कर सकता इस अभिप्रायका समर्थक शास्त्रीय प्रमाण पं. जीने क्यों नहीं पेश किया ? यदि उनके पास ऐसा प्रमाण न हो तो उनका यह मन्तव्य मनमाना है-कपोलकल्पित है यह स्पष्ट होता है। मैं यहां शिवभूति मुनि की कथा पेश करता हूं। वह निम्नप्रकार है। पढिये -

कोई एक शिवभूतिनामके अत्यन्त निकटभव्य जीव थे। परम वैराग्यसे युक्त होकर उन्होंने किसी गुरुके पादमूलमें दीक्षा ले ली और घोर तपश्चरण करने लगे। वे शास्त्रके सिर्फ 'तुष-माषभिन्न' इन छह अक्षरोंको जानते थे। इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था। वे आत्माको शरीर तथा कर्मोंके समूहसे भिन्न जानते थे। उन्हें आगमका वह वाक्य नहीं आता था, मात्र गुरुके द्वारा कहे हुए इस दृष्टांतको कि जिसप्रकार तुषसे माष-उडद भिन्न है, उसीप्रकार शरीरसे आत्मा भिन्न है, बार बार

उच्चारण कर रटा करते रहते थे। उस शब्दका उच्चारण करते रहनेपर भी वे किसी समय उसे भूल गये। अब वे अर्थको तो जानते थे परन्तु शब्द नहीं जानते थे। अकेले ही विहार करते थे। इसलिये किसीसे पूछनेका अवसर भी नहीं मिलता था। शब्दके भूल जानेका क्लेश उन्हें बार बार उठा करता था। उन्होंने एक बार किसी स्त्रीको बडे आदि बनानेके लिये दालरूपसे परिणत उडदोंको पानीके मध्य डुबाकर तुषोंसे पृथक् करती हुई देखा और देखकर पूछा कि आप यह क्या कर रही हैं? उस स्त्रीने उत्तर दिया कि मैं तुषों और उडदोंको अलग अलग कर रहीं हूं। मुनि बोले कि मैंने 'पा लिया' इतना कह कर वे कहीं चले गये। उतने मात्र द्रव्य और भाव श्रुतज्ञानके द्वारा वे आत्मामें इतनी तल्लीनताको प्राप्त हुए कि अन्तर्मूहुर्तमें केवलज्ञानको प्राप्त कर नौ केवल लब्धियोंसे युक्त हो गये तथा देशोंमें विहार कर भव्य जीवोंको मोक्षमार्ग दिखलाते हुए मोक्ष गये। (भाव-प्राभृत, गाथा ४३ की टीकाका पं. पन्नालालजी साहित्याचार्यकृत अनुवाद।)

ऊपरकी कथासे यह स्पष्ट हो जाता है कि–अत्यन्त निकट भव्य मुनिको सिर्फ 'तुषमाष भिन्न' इन छह अक्षरोंका ज्ञान था। इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था। उन्हें द्रव्यका, पर्यायका और पर्यायोंकि 'क्रमबद्धता' का ज्ञान नहीं था। फिर भी आत्मामें अत्यंत तल्लीन होकर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया था।

दूसरी एक कथा है। वह इसप्रकार है –

एक मुनि पलाशके पेड़के नीचे बैठे हुए थे। उससमय लोग केवली भगवानके दर्शनके लिये उसी रास्तेसे जा रहे थे। उनमेंसे कुछ लोगोंको अपने पास बुलाकर 'मेरा मोक्षप्राप्ति कर लेनेके लिए कितना काल शेष है' ऐसा केवली भगवानसे पूछनेको उनसे कहा था। लोग दर्शनके लिये चले जानेके बाद मुनिश्री पलाशके नीचेसे उठकर इमलीके पेड़के नीचे बैठ गये थे। भगवानका दर्शन कर लौटते हुए उन लोगोंने मुनिश्रीको बताया था कि 'आप जिस पेडके नीचे बैठे हों उस पेडके जितने पत्र हैं उतने भव बीत जानेपर आपको मोक्षकी प्राप्ति होनेवाली है।' इस बातको सुनकर निदान बांधकर वे मरणको प्राप्त हुए। निदानके अनुसार क्षुद्रभव धारण करकरके अपने भवोंकी संख्याको पूर्णकर मनुष्य-भव धारण कर, जिनलिंग धारण कर, घातिकर्मोंका क्षय कर और केवलज्ञानकी प्राप्ति कर मोक्षको चले गये थे।

इन दोनों मुनियोंको क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीति नहीं थी। क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीतिके अभावमें उन्होंने मोक्षकी प्राप्ति कर ली थी। क्या स्वभावसन्मुख हुए विना मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है? आपके मन्तव्यके अनुसार क्रमबद्धपर्यायकी प्रतीतिके अभावमें स्वभावसन्मुख होना असंभव है। उक्त दोनों मुनियोंको क्रमबद्ध-पर्यायका ज्ञान न होनेपर भी उन्होंने मोक्षकी प्राप्ति कर ली थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वभाव सन्मुख होनेके लिये क्रम-बद्धपर्यायकी प्रतीतिकी आवश्यकता बताना मनमानी करना है। आपके इस मन्तव्यके समर्थनके लिये आपने शास्त्रीय प्रमाण पेश नहीं किया है। इससे यह प्रतिपादन युक्त्यागमप्रतीतिके विरुद्ध है।

"पर्याय भी स्वकालकी सत् है, उसमें भी किसी प्रकारका फेर-फार संभव नहीं" यह कथन ठीक नहीं जंचता। उदयप्राप्त कर्मके कारण उत्पन्न हुई पर्याय अपरिवर्तनीय होती है इसमें संदेह नहीं; किन्तु भाविपर्याय परिवर्तनीय नहीं होती क्या? महाराजा श्रेणिकको सातवें नरकका बंध हुआ था। भगवान महावीरके समवसरणमें उन्हें क्षायिकसम्यक्त्वका परिणाम उत्पन्न होनेपर उसके सातवें नरकके बंधका च्छेद होकर उसके प्रथम नरकका बंध हुआ था। क्षायिकसम्यक्त्वके प्रभावसे उसके सातवें नरकको बंधका छेद होकर जो उनके प्रथमका बंध हुआ था वह उनके भावी पर्यायमें फेर-फार नहीं हुआ था क्या? अकालमरण भी बद्ध पर्यायके परिणतिका साधक है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि पर्यायसे-विभावपर्यायकी ओरसे निश्चित दृष्टि अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी ओर ढुल जाती है। उसकी दृष्टि अशुद्ध पर्यायोंको नष्ट करके शुद्ध पर्यायकी प्राप्तिके लिये शुद्ध स्वभावकी ओर ढुलती है और तद्भवमोक्षगामी जीव संसाररूप पर्याय का नाश करके मोक्षपर्यायकी प्राप्ति कर लेता है। क्या यह पर्यायमें फेरफार करना नहीं है? अपनी संसारपर्यायमें यह अपनी इच्छाके अनुकूल फेर-फार करना नहीं हैं? क्या भव्य जीव मोक्षमार्गकी ओर विना इच्छाके अग्रसर होता है?

पृ. ५० पर लिखा है कि– 'परद्रव्यमें फेर-फार करनेकी बुद्धिवाला व्यक्ति निजद्रव्यमें प्रवेश नहीं कर सकता।' बद्ध द्रव्यकर्म परद्रव्य है। उसकी जो बद्धपर्याय होती है उसमें फेर–फार करनेकी बुद्धिवाला जीव उसको बंधपर्यायसे हटाकर अर्थात् उसमें फेरफार करके निजद्रव्यमें प्रवेश नहीं करता

क्या ? आत्मासे बंधपर्यायप्राप्त द्रव्यकर्मोंको हटाकर निजद्रव्यमें जीव प्रवेश नहीं करता क्या ? चारित्रमोहको हटाकर वीतराग बना हुआ जीव शुद्धात्मस्वरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता क्या ?

इसी पृष्ठपर लिखा है कि– ' स्वयं परिणमनशील इस जगतके परिणामका रंचमात्र भी उत्तरदायित्व इसके माथेपर नहीं है । ' जगतमें जीव और कर्मयोग्यपुद्गलवर्गणाएं अंतर्भूत हैं– जगतके बाहर नहीं हैं । जीवके परिणामका उत्तरदायित्व, इस कथनके अनुसार, जीवके माथेपर नहीं है और पुद्गलरूप कर्मवर्गणाओं के परिणामका उत्तरदायित्व कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाओंके माथेपर नहीं है ऐसा उक्त उद्धृत वाक्यका अर्थ होता है । इसका मतलब यह है कि जीवकी अपने विभावरूपसे परिणति अपने आप होती है, फिर भले ही निर्मल हो और उसकी अपने स्वभावसे परिणति अपने आप होती है, फिर भले ही वह अशुद्ध हो । अशुद्ध जीवको शुद्ध रूपसे परिणत होनेके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है । शुद्ध जीव भी अशुद्धरूपसे अपने आप परिणत होगा । इसप्रकार शुद्ध अवस्थाकी प्राप्तिके लिये संसारी अशुद्ध जीवको धर्माचरण-आदिकी आवश्यकता नहीं रहेगी । यही निर्हेतुकी नियति है । इस निर्हेतुकी नियति के कारण जीवकी संसारावस्था और मुक्तावस्था इनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा । मुक्तावस्था तो अनंत है । वह सांत बन जायेगी । ये विशिष्ट परिणतियां निर्हेतुकी होनेसे स्वभावरूप बन जायेंगी । वस्तुका उत्पाद होना और विनाश होना स्वभावरूप बन जानेसे दोनों एकसाथ होनेका प्रसंग खडा हो जायेगा । दोनोंका एकसाथ होना कैसे रोका जायेगा ? दोनों एकसाथ हो

सकेंगे क्या ? इसप्रकार तो कार्योंकी-पर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं होती अतः यह नियतिवादका समर्थन सर्वविध्वंसक है और समीचीन धर्मव्यवस्थाको उध्वस्त करनेवाला है। निम्नलिखित 'पर में तो इसे कुछ करना नहीं है, अपनी पर्यायमें भी करना नहीं है। सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' इन वाक्योंसे निर्हेतुकनियतिवादका खुल्लमखुल्ला समर्थन हो जाता है। इसके विरोधमें श्लोकवार्तिकालंकारकार आचार्य विद्यानंद महाराज क्या कहते हैं यह देखनेयोग्य है। देखिये–

"द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः। तत्र विस्रसापरिणामोऽनादिरादिमांश्च। चेतनद्रव्यस्य तावत्स्वजातेश्चेतनद्रव्यत्वाख्याया अपरित्यागेन जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिरनादिः। औपशमिकादिः पूर्वाकारपरित्यागाज्जहद्वृत्तिरादिमान्। स तु कर्मोपशमाद्यपेक्षत्वादपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिकः। अचेतनद्रव्यस्य तु लोकसंस्थानमंदराकारादिरनादिरिति। द्रव्यतयादिमान् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वादेव वैस्रसिकः। प्रयोगजः पुनर्दानशीलभावनादिश्चेतनस्य आचार्योपदेशलक्षणपुरुषप्रयत्नापेक्षत्वात्, घटसंस्थानादिश्चेतनस्य कुलालादिपुरुषप्रयोगापेक्षत्वात्। (५।२२।२)

अर्थ–' अपनी जातिका त्याग न करके जो द्रव्यका प्रयोग और विस्रसा रूप विकार होता है वह परिणाम होता है। उन दोनोंमें जो विस्रसा परिणाम होता है वह अनादि और आदिमान् होता है। चेतनत्वस्वरूपात्मक अपनी जातिका परित्याग न कर चेतनद्रव्यका जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि (अनादि) परिणाम होता है। पूर्वाकारका त्याग करनेसे जहद्वृत्ति औपशमिकादि–

भावरूप परिणाम आदिमान्-सादि होता है। वह परिणाम कर्मोपशमादिकी अपेक्षा रखनेवाला और अपौरुषेय होनेसे वैस्रसिक है। लोकाकार, मंदराकार आदि अचेतन द्रव्यका अनादि परिणाम है। द्रव्यरूप होनेसे सादि वह पुरुषप्रयत्नकी अपेक्षा न होनेसे ही वैस्रसिक है। दान, शील, भावना आदिरूप चेतनका परिणाम आचार्योपदेशरूप पुरुषप्रयत्नकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे प्रयोगज है। अचेतनका घटाकारादि-रूप परिणाम कुम्हार आदि पुरुषके प्रयत्नकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे प्रयोगज है।'

राजवार्तिक ५।२२।१० देख लीजीये। वह भी इसी अर्थका अभिप्रायक है।

पारिणामिक भावों को छोडकर सभी परिणाम उपादानसे सहभाविपरिणामकी प्राप्ति होने पर ही होते हैं यह ऊपर उद्धृत किए हुए प्रमाणसे सिद्ध होता है। अतः 'सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' यह प्रतिपादन बेबुनियाद है, प्रमाण-सिद्ध नहीं है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– "इसपर कुछ लोग कहते हैं न सही परका, पर अपना काम तो करना ही होगा। यदि हम अपना ही काम न करेंगे तो कौन कर जायेगा हमारा काम? खाना, पीना, उठना–बैठना तो करना ही होगा, और यह सब सोच–समझकर करना होगा, नहीं तो सब कुछ गडबडा जायगा, स्वास्थ्य चौपट हो जायगा।

उससे कहते हैं कि जरा विचार तो कर जब तू माँ के पेटमें था, तब सोच–समझकर क्या करता था? इसी प्रकार

जब माह–दो माहका था तब भी सोच–समझकर क्या करता था ? फिर भी इतना बडा हो गया और अब बहुत समझदार हो गया है, खूब सोच-समझकर क्या खाता, पीता, उठता, बैठता है, फिर भी निरन्तर कमजोर क्यों होता जाता है ? अब सम्हाल ले न इस शरीर को अच्छी तरह कहीं यह यहीं न छूट जाये और तू इसे यहीं छोडकर चलता बने। पूरी तरह संभाल रखते रखते भी एक दिन यही होगा कि यह कहीं पडा रहेगा और तुझे इसे छोडकर जाना होगा। फिर भी इसमें तुझसे कर्तृत्वका अभिमान नहीं छूटता। ”

‘ सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा ’ इस कथन के कारण कुछ लोगोंने अपना जो आक्षेप व्यक्त किया है उसका जो परिहार करनेका प्रयत्न किया गया है उसपर विचार व्यक्त किया जाता है। ‘ न सही परका का काम , पर अपना काम तो करना ही होगा ’ इस कथनका पंडितजीने परिहार किया नहीं है। इसपर मेरा प्रश्न है कि दुनियामें सब लोगोंका काम अपने आप क्यों नहीं होता ? रोटीके लिये लोगोंको खूब कष्ट क्यों उठाने पड़ रहे हैं। दुनियामें जो संशोधन का काम संशोधकोंको करना पडता है वह सहज क्यों नहीं होता ? एंजिन–ड्रायव्हरका काम अपने आप क्यों नहीं होता ? यदि लोगोंका काम सहज ही होने लगा तो लोगोंको रोटी सहज ही मिल जायगी ; किंतु लोगों को रोटीके लिये पसीना बहाना पड़ता है। पं . जीके कथनके अनुसार लोगों के अच्छे–बूरे काम अपने आप होने लगेंगे जो कि असंभव है। लोगोंके द्वारा किये गये आक्षेपका समाधान करनेमें पं. जी असमर्थ रहे हैं। उस आक्षेपका

समाधान करने में असमर्थ रहनेके कारण उन्होंने जो समाधान करनेका प्रयत्न किया है उसपर विचार करना आवश्यक है।

माँ के पेट में जीव जब होता है तब उसकी अपर्याप्त अवस्था होती है और अपर्याप्त अवस्थाके कारण द्रव्यमनका अभाव होता है। द्रव्यमनके अभावके कारण वह विचार करनेमें असमर्थ होता है। यदि सब कुछ सहज होता है तो गर्भमें ही जीवकी सहज ही पर्याप्त अवस्था क्यों नहीं होती ? गर्भ में, वहाँ अपर्याप्त होना ये बातें सहजही होती हैं क्या ? इसका कारण शुभाशुभपरिणामनिमित्तक नामकर्म उदयमें आनेपर कारण नहीं होता क्या ? जब बच्चा माह-दो-माहका होता है स्तन्यपानका विचार उसके मनमें आता ही नहीं क्या ? स्तनपान के बाद ही वह रोना बंद कैसे करता है और पहले क्यों रोता है ? उस बच्चेका पेट सहज ही में क्यों नहीं भरता ? माताको उसको क्यों पिलाना पडता है ?

शरीरस्वास्थ्य और जनन—मरण कर्माधीन है। कर्मके साथ नोकर्म भी उनका कारण है, शरीरस्वास्थ्यके लिये पुरुषार्थकी भी आवश्यकता होती है। 'सबकुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' इस वाक्यसे पुरुषार्थकी भी आवश्यकता नहीं है यह अभिप्राय व्यक्त होता है। कार्यसिद्धिके लिये जिन पांच[१] कार्यों की पं. जीने आवश्यकता बताई है उनमें निमित्त और पुरुषार्थ का निर्देश किया है। कार्योंका सहज होना और कार्योत्पत्तिके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता बताना इनमें परस्पर

१- पृ. ४७

विरोध नहीं है क्या ? पं. जीने ' इसपर कुछ लोग कहते हैं..... इस परिच्छेदके द्वारा लोगों के द्वारा किये गये जिस आक्षेपका उल्लेख किया है उसका समाधान पुरुषार्थका स्वीकार करनेवाले पं. जी महोदय किसप्रकार कर सकते हैं ? वे अपने वचनका ही विरोध कर रहे हैं। इनके दोनों उक्त वचनोंमेंसे कौनसा बचन ठीक माना जाय ? निर्हेतुकी नियतिका समर्थन करनेके लिये वे ' सब कुछ सहज होता है ' ऐसा कहते हैं और कार्यसिद्धिके लिये पुरुषार्थका निर्देश करते हैं। यह पुरुषार्थका उल्लेख वास्तविक नहीं है; क्योंकि वे निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं। पुरुषार्थ तो निमित्तका कार्य है अथवा पुरुषार्थ पुरुषका योगरूप होनेसे पुरुष ही निमित्तभूत है। कार्योत्पत्तिमें पुरुषार्थकी आवश्यकता बताना और निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर कहना यह भी परस्परविरोधी नहीं है क्या ? यदि किसीने ' पं. जीके द्वारा किया गया पुरुषार्थका उल्लेख लोगोंकी प्रतारणा करनेके लिये किया गया है ' ऐसा कहा तो उसमें अनुचितता किसप्रकार हो सकती है ?

पृष्ठ ५१ पर उन्होंने लिखा है कि—' इस शरीरपर तेरा रंचमात्र भी तो बश नहीं चलता। ये तेरे बाल कालेसे सफेद तेरे से पूछकर हुए होंगे, चेहरेपर जो झुरियां दिखाई दे रही हैं, वे भी तेरी स्वीकृतिसे पडी होंगी।'

इस युक्तिके द्वारा पं. जी सभी कार्योंकी उत्पत्ति सहज होती हैं इस अपने अभिप्रायकी सिद्धि करना चाहते हैं। इस विषयमें में पूछना चाहता हूं कि यदि ' सभी कार्योंकी उत्पत्ति सहज होती है ' ऐसा आप मानते हों तो फिर पुरुषार्थकी आवश्यकता कार्यों

त्पत्तिके लिए आप क्यों बता रहे हों? इस मान्यताका क्या कारण है? वस्तुतः द्रव्यकी परिणतिके साथ द्रव्यावयवोंका भी परिवर्तन होता है। द्रव्योंके परिणमनोंमें कालद्रव्य भी कारण होता है। द्रव्योंकी नव-जीर्णत्वव्यवस्था कालद्रव्यनिमित्तक होती है। जो निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं उनको नियति-वादको स्वीकार करना ही पड़ता है। नियतिके समर्थकको निमित्तको सर्वथा अकिंचित्करता और पुरुषार्थका अभाव मानना आवश्यक हो जाता है और जो निमित्तको-सहकारिकारणको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं वे पुरुषार्थको स्वीकार नहीं करते और नियतिवादका समर्थन-पोषण करते हैं। अनादिकालसे चले आये बंधके कारण आत्मा और शरीरमें कथंचित् अभेद नहीं है क्या? खाना-पीना, चलना-बैठना, सोना-जागना आदि क्रियाएं शरीररहित आत्मा ही करता है क्या? वस्तुतः ये क्रियाएँ न अकेला आत्मा करता है और न अकेला शरीर करता है। वे क्रियाएं दोनों मिलकर करते हैं। ये क्रियाएं संसारावस्थामें ही जीवके द्वारा शरीरकी सहाय्यसे की जाती हैं, मुक्तावस्थामें नहीं। जो सब कुछ सहज हो रहा है क्या वह शुद्ध आत्मामें हो रहा है? तपश्चरणादि क्रियाएं शरीरके अभावमें की जा सकती हैं? श्री कानजीभाईने जो प्रवचन किये थे क्या वे शरीरके अभा-वमें किये थे? क्या उनकी खाना-पीना, उठना-बैठना आदि क्रियाएं शरीरके अभावमें की जाती थी? क्या उनके सभी कार्य पुरुषार्थके अभावमें सहज ही होते थे? जो कार्य सहज ही होते हैं वे निद्रावस्थामें क्यों नहीं होते? खाना-पीना आदि क्रियारूप कार्यों की उत्पत्तिके लिए जागृत अवस्थाकी ही आवश्यकता क्यों होती है? यदि सबकुछ सहज होता है तो आपने ट्रेक्ट क्यों

लिखा ? लोगों के परिणाम उपदेशके अभावमें अपने आप क्यों नहीं होते ? उन्हें आपके ट्रेक्ट की क्यों आवश्यकता जंचती है ?

इसी पृष्ठपर कहा है कि–" इसपर कुछ लोग कहते हैं कि जानना–देखना तो आत्माका स्वभाव है, वह तो करना ही पडेगा । उनसे हमारा कहना है कि उसमें करना क्या पडेगा ? वह भी तो सहज होता है।"

देखना अर्थात् दर्शन अवग्रहके पूर्व होता है। जाननेके अनन्तर अवग्रह होता है, अवग्रहके बाद ईहा होती है और ईहा के बाद अवाय या अपाय होता है। क्या ये अवग्रहादिकी क्रियाएं करनेके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता ? शारीरिकी क्रियाएं जिसप्रकार पुरुषार्थमें अन्तर्भूत होती हैं, उसप्रकार अवग्रहादि–क्रियाएं प्रयत्नपूर्वक होनेपर भी पुरुषार्थमें अन्तर्भूत नहीं हो सकतीं ? क्या बाह्यार्थों को जानने–देखनेके लिए प्रयत्न की अर्थात् पुरुषार्थकी आवश्यकता ही नहीं होती ? वे क्रियाएं यदि सहज होती हो तो आगममें अवग्रहादिका निर्देश क्यों किया गया है ? क्या आप अवग्रहादिकी आवश्यकता को स्वीकार करते नहीं ? 'दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं' इस आगमवचनको आप अग्राह्य समझते हैं क्या ? यदि जानने-देखने की क्रिया सहज होती है तो मोतिबिंदुवाला क्यों जानने-देखनेमें असमर्थ होता है ? ऑपरेशन करके देखनेके लिए प्रयत्न क्यों करता है ? अंधेरा होने–पर देखनेका प्रयत्न न करनेपर भी दिखाई देता है क्या ? अतः 'देखना–जानना–करना भी पडेगा' यह आक्षेपकारके द्वारा किये गये आक्षेपमें ध्वनित होता है और वह ठिक भी है।

इसी पृष्ठपर आगे कहा है कि– " क्या जाने और क्या न जाने- इसका विवेक तो करना ही पडेगा ? ऐसा थोडे ही चलेगा कि चाहे जो जानते–देखते रहो। कुछ तो मर्यादित होना ही पडेगा, कुछ तो नक्की करना होगा। क्या हम अपने ज्ञानदर्शन को ऐसा ही छुट्टा छोड दें–सॉड जैसा; जो चाहे जहां मुंह मारता फिरे; कमसे कम उसे तो स्वभाव–सन्मुख करना ही पडेगा। यह सब कैसे चलेगा कि कुछ नहीं करना है, कुछ नहीं करना है ? 'ज्ञानको स्वभावसन्मुख करो' कमसे कम इतनी बात तो रहने दो।

यदि ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं – भाई! ज्ञानको स्वभाव सन्मुख करनेके विकल्पसे ज्ञान स्वभाव–सन्मुख नहीं होता, अपि तु इस विकल्पके भी भारसे निर्भार होनेपर ज्ञान स्वभाव–सन्मुख ढलता है।

ज्ञानकी प्रत्येक पर्याय स्वकार्य करनेमें परमुखापेक्षी नहीं है। वह अपनेमें परिपूर्ण है, स्वकार्य करनेमें पूर्ण सक्षम है, पूर्ण सुयोग्य है। उसकी योग्यतामें उसका ज्ञेय भी निश्चित है। ज्ञान की जिस पर्यायमें जिस ज्ञेयको जानने की योग्यता है, वह पर्याय उसी ज्ञेय को अपना विषय बनायेगी, उसमें किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं चलता।"

'ज्ञानको स्वभाव–सन्मुख करने का विकल्प नहीं किया तो ज्ञानी महाव्रतके पालनके द्वारा रागादिरूप विभावभावोंका अभाव करके अपने ज्ञानको स्वभावसन्मुख करनेका प्रयत्न क्यों करेगा ? प्रयत्नके–पुरुषार्थके अभावमें रागादिभावोंका अभाव

कैसे होगा ? तीर्थंकरोंने भी महाव्रत धारण करके रागादिभावों का नाश करके अपने आत्माको-ज्ञानको स्वभावसन्मुख किया था। यदि ज्ञान विना पुरुषार्थके स्वभावसन्मुख किया जा सकता था तो तीर्थंकरोंने महाव्रत धारण करके बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण क्यों किया था ? ज्ञान अपने आप पुरुषार्थके अभावमें स्वभाव-सन्मुख होता है इस आपके मन्तव्य का समर्थक आपके पास शास्त्रीय प्रमाण है क्या ? यह बात आगमोक्त है कि जब तक संकल्प-विकल्पों का नाश नहीं होता, वे बने ही रहते हैं तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। विकल्प साक्षात् स्वभावानुभूतिका प्रतिबंधक होता है यह निश्चित है; किंतु महाव्रतादिपालनरूप पुरुषार्थके द्वारा रागादिभावों का नाश करके अपने ज्ञानको स्वभाव-सन्मुख करनेवाले जीवको अपने ज्ञानको स्वभाव-सन्मुख करनेमें प्रतिबंध नहीं कर सकता। 'ज्ञानकी प्रत्येक पर्यायें स्वकार्य करनेमें परमुखापेक्षी नही हैं, वह अपनेमें परिपूर्ण हैं, स्वकार्य करनेमें पूर्ण सक्षम हैं, पूर्ण सुयोग्य हैं।' यह कथन भी चिन्त्य है। मतिज्ञान की पर्याय अपने विषयको जाननेमें पूर्ण सक्षम है, पूर्ण सुयोग्य है क्या ? मतिज्ञानरूप ज्ञानपर्याय अंधेरेमें स्थित अपने ज्ञेय को जाननेमें पूर्ण समर्थ है क्या ? बाह्यार्थ मतिज्ञानका विषय होनेपर भी उसको वह अंधेरेमें स्थित होनेपर भी जान सकता है क्या ? अंधेरेमें स्थित पदार्थको जाननेके लिए वह परमुखापेक्षी होता है। उसको सहकारिकारणभूत द्रव्य नेत्रेंद्रियको, प्रकाशको, योग्यदेशस्थिति की आवश्यकता होती है। यह उसकी परमुखापेक्षिता नहीं है क्या ? वह मति-ज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होनेसे पूर्णरूपसे समर्थ न होनेके कारण परमुखापेक्षी होता है। श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक होनेसे

परमुखापेक्षी होता है। मतिज्ञान भी विशिष्ट देश और कालकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे परमुखापेक्षी होता है। यही अवस्था मन:पर्यय ज्ञानकी भी है। एक केवलज्ञान ही परिपूर्ण होनेसे परमुखापेक्षी नहीं होता। केवलज्ञानीकी अपेक्षासे उक्त ज्ञानीका विषय निश्चित होता है किंतु छद्मस्थ की अपेक्षा वह निश्चित नहीं है। ज्ञेयके स्थल—काल का ज्ञान होनेपर ही ज्ञेयकी निश्चिति हो सकती है। छद्मस्थ अपने दूरवर्ती ज्ञेयका स्थल, काल, प्रकार आदि नहीं जान सकता। क्या आत्माके ज्ञानरूप स्वभावका आविर्भाव पुरुषार्थके अभावमें हो सकता है क्या? यदि ऐसा है तो आप पुरुषार्थको क्यों मानते हैं? विना पुरुषार्थ के मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा क्यों स्पष्टरूपसे नहीं कहते? रागादि विभावभावोंका अभाव पुरुषार्थके अभावमें होता है क्या? यदि ऐसा है तो आपको निर्हेतुकी नियतिके समर्थक क्यों न माना जाय? निर्विकल्पक अवस्था तो पुरुषार्थके द्वारा रागभावका अभाव करनेपर ही प्रादुर्भूत होती है। क्या इस शास्त्रीय युक्ति-पूर्ण अभिप्रायको आप स्वीकार नहीं करते? वस्तुत: आपके उक्त कथनसे आपकी निर्हेतुक नियतिवादिता की सिद्धि होती है। पुरुषार्थका और निमित्तका आपका उल्लेख लोगों की आंखोंमें धूल झोकनेवाला है।

'सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' इस कथनपर आक्षेपकारने 'क्या जाने और क्या न जाने ····' इत्यादि जो आक्षेप किया है उसका पं. जी ने समाधान नहीं किया है। इस संसार में किये बिना कुछ नहीं होता अर्थात् पुरुषार्थ और दैव इन दोनों के मेलके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। मुमुक्षु जीव

को भी अपने ज्ञानको सन्मुख करनेके लिये पुरुषार्थ करना ही पडता है; विना पुरुषार्थ के उसका ज्ञान स्वभाव–सन्मुख होता ही नहीं। विना पुरुषार्थके ज्ञान स्वभाव-सन्मुख हुआ होता तो चारित्रादिविषयक ग्रंथोंकी रचना आचार्यों के द्वारा क्यों की जाती और तीर्थंकरोंके द्वारा तपश्चरण क्यों किया जाता ? वे अपने आप अर्थात् तपश्चरणादिके अवलंबनके अभावमें केवल–ज्ञानके धारक क्यों नहीं बने ? वस्तुतः पुरुषार्थके विना अर्थात् सहज कुछ भी नहीं होता; 'सब कुछ सहज होता है और होता रहेगा' यह कथन स्वगृहमान्य है

पृ. ५१–५२ पर लिखा है कि "यह एक ध्रुव सत्य है कि ज्ञेयके अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपि तु ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है; अन्यथा ऐसा क्यों होता है कि जो ज्ञेय सामने है, उसका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने नहीं है– क्षेत्र–कालसे दूर है, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है। नवविवाहित ऑफिसरको सामने बैठा क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपि तु ऑफिससे दूर घरमें या पीहरमें बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है।

'पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्॥

कारागारमें बन्द कोई कामी कहता है कि यद्यपि कारा–गारका द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सुई के अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता है तथा मैंने अपने

दोनों नेत्र बन्द कर रखे हैं, तथापि मुझे अपनी प्रियाका मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है।'

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञेयके अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपि तु ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है' इसका तात्पर्य यह है कि क्षयोपशमज्ञानमें जिस समय जाननेकी योग्यता है, उस समय वही ज्ञेय ज्ञानका विषय बनता है अन्य नहीं।"

'ज्ञेयके अनुसार ज्ञान नहीं होता' यह कथन ठीक नहीं जंचता। इस वाक्यमें 'अनुसार' यह शब्द विचारणीय है। ज्ञेय जिसप्रकारका होता है उसप्रकार ज्ञेयका ज्ञान नहीं हुआ तो जाननेवाले का क्षायोपशमिक ज्ञान विसंवादी है ऐसा माननेका प्रसंग खडा हो जायेगा। जो ज्ञान किसी कारणवश विकृत हुआ होता है वह ज्ञान ज्ञेय को यथार्थरूपसे नहीं जान सकता। क्षायोपशमिक ज्ञान यदि अपने ज्ञेयको विकृतरूपसे जानेगा, यथार्थरूपसे नहीं जानेगा तो वह ज्ञान सविकार होता है ऐसा माननेकी आपत्ति खडी हो जायगी। वस्तुतः क्षायोपशमिक ज्ञान अपनी सामर्थ्यके अनुसार ज्ञेयपदार्थको उसके अनुसार ही जानता है। अत एव वह विसंवादी नहीं होता। क्षायोपशमिक ज्ञानमें ज्ञेयाकार प्रतिबिंबित हो जानेपर ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणाम होता है। ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन जब ज्ञेयके प्रतिबिंबके कारण होता है तब ज्ञेयके अनुसार ज्ञान होता है ऐसा कहनेमें कौनसी हानि है बताइये। यह बात ठीक ही है कि ज्ञान ज्ञेयको जानता है, ज्ञेय ज्ञानको नहीं जानता।

'ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है' इस वाक्यका अर्थ ठीक ठीक समझमें नहीं आता। इस वाक्यके अभिप्रायको समझानेके

लिये इन्होंने कहा है कि – 'अन्यथा (अर्थात् ज्ञानके अनुसार ज्ञेय न जाना तो) ऐसा क्यों होता है कि जो ज्ञेय सामने है, उसका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने नहीं है – क्षेत्र-कालसे दूर है उसका ज्ञान होता दिखाई देता है।' सामनेवाले ज्ञेयका ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञानीको न होनेका कारण उसके उपयोगका अभाव है। क्षायोपशमिकज्ञानी जब अपना उपयोग लगाता है तब ही वह विशिष्ट ज्ञेयको जानता है, अन्यथा नहीं। सामने जो पदार्थ होता है उसको क्षायोपशमिक ज्ञानी उसका उपयोग अन्यत्र लगा हुआ होनेसे नहीं जानता। इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है। अपने मन्तव्यके समर्थनार्थ एक नवविवाहित ऑफिसरको उन्होंने उदाहरणरूपसे पेश किया है। ऑफिसरको सामने बैठा हुआ क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपि तु ऑफिससे दूर घरमें या पीहरमें बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है' इसपर मेरा कहना है कि नवविवाहित कामांध ऑफि-सरका उपयोग अपने घरमें या पीहरमें बैठी हुई अपनी पत्नीकी ओर लगा हुआ है। उस उपयोगके कारण वह पासमें बैठे हुए क्लर्कको नहीं देखता। इस समय इस ऑफिसरका ज्ञान काम-वासनाके कारण विकृत भी हो गया है। जब उसका ज्ञान विकृत हो जानेसे उसका उपयोग सामने बैठे हुए क्लर्ककी ओर नहीं लगा हुआ है तब वह उस क्लर्कको कैसे जान सकता है?

यद्यपि कारागार बंद है, अंधकार अत्यंत सघन है और मैंने अपने दोनों नेत्र बंद कर रखे हैं तथापि मुझे अपनी प्रियाका मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है ऐसा जो कामांध पुरुष कह रहा है उसके मनपर उसकी पत्नीके रूपके संस्कार जब वह अपनी

पत्नीके पास था इतने दृढ हो गये हैं कि कारागारमें सघन अंधेरेमें आँखे बंद करनेपर भी उसे अपनी पत्नीका मुख जो दिखाई दे रहा है उसका कारण पूर्व संस्कार उद्बुद्ध होनेसे उत्पन्न हुआ स्मृतिज्ञान है। यह भी उपयोगका ही दृष्टांत है। यह कामी अपनी पत्नीको प्रत्यक्ष नहीं देख रहा है। यह नेत्रेंद्रियजन्य ज्ञान नहीं है। जिनागममें भी इस ज्ञानको निर्देशपूर्वक स्वीकार किया गया है। जब यह कामी अपनी पत्नीके पास था तब उसे पत्नीके रूपका जो ज्ञान हुआ था उसका कारण उसकी पत्नीका रूप नहीं था क्या? यह जो ज्ञान हुआ था कारागारमें उसका स्मरण हुआ है इतना ही। अतः 'ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है' यह कथन अविचारितरमणीय है। एक बात यह भी है कि क्षायोपशयिक ज्ञानकी शक्ती अपूर्ण अर्थात् विकल होनेसे वह ज्ञेयको विकल रूपसे जानता है-अंशतः जानता है यह सत्य है। इस दृष्टिसे 'ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है' यह कथन ठीक है; किंतु विकलरूपसे ज्ञेयको जाननेकी सामर्थ्य होनेपर भी ज्ञेयके अनुसार ज्ञान नहीं होता यह कथन ठीक नहीं है।

अपने उक्त मन्तव्यके समर्थनार्थ आचार्यमाणिक्यनंदिविर-चितपरीक्षामुखसूत्रका एक सूत्र उद्‌धृत किया है-

"स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ अ. २, सू. ९

स्वावरणक्षयोपशम है लक्षण जिसका—ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है कि ज्ञान किसको जाने।"

यहां क्षयोपशमज्ञान किसको जाने और किसको न जाने–इसकी चर्चा चल रही है। केवलज्ञानमें तो यह प्रश्न ही संभव नहीं है, क्योंकि वह तो एक समयमें ही लोकालोकको जानता है।

बौद्धोंका यह कहना है कि ज्ञान ज्ञेयसे उत्पन्न होता है, ज्ञेयाकार होता है, और ज्ञेयोंको जाननेवाला होता है; जिसे वे तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। जैनोंको उक्त बात स्वीकार नहीं है।

इस सन्दर्भमें जैनोंसे पूछते हैं कि यदि ज्ञान ज्ञेयसे उत्पन्न नहीं होता तो फिर तुम्हारे यहाँ ज्ञान अमुक ज्ञेयको ही क्यों जाने, अन्यको क्यों नहीं–इसका नियामक कौन होगा ? बौद्धोंके यहां तो जो ज्ञान जिस ज्ञेयसे उत्पन्न होता है उसीको जानता है-यह व्यवस्था है। जैनोंमें इस सन्दर्भमें क्या व्यवस्था है, इसके उत्तरमें उक्त सूत्र आया है। जिसका आशय है कि योग्यता ही नियामक है अर्थात् ज्ञानकी विवक्षित पर्यायमें जाननेकी क्षमताके साथ साथ यह भी निश्चित है कि वह किस ज्ञेयको जानेगी।

योग्यताको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तत्संबंधी आवरणका क्षयोपशम है लक्षण जिसका ऐसी योग्यता अर्थात् उस योग्यतामें जिस ज्ञेयको जानता है, तत्संबंधी आवरणका क्षयोपशम होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञानकी प्रत्येक पर्यायका ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यतामें सम्मिलित है। जब ज्ञानका ज्ञेय भी निश्चित है तो फिर यह बात कहां रह

जाती है कि क्या जाने और क्या न जाने—इसका विवेक तो करना ही होगा, इस दिशामें कुछ न कुछ तो करना ही होगा।

तुझे इतना भी भार अपने माथेपर नहीं रखना है तब निर्भार होगा और तभी ज्ञानकी पर्यायकी ज्ञेय आत्मस्वभाव बनेगा अर्थात् दृष्टि स्वभाव–सन्मुख होगी। दृष्टिके स्वभाव सन्मुख होनेका एकमात्र उपाय यही है।"

यहां उक्त सूत्रकी वृत्ति पेश की जाती है। देखिए–

तथाहि–यदर्थप्रकाशकं तत्स्वात्मन्यपेतप्रतिबन्धं, यथा प्रदीपादि, अर्थप्रकाशकं च ज्ञानमिति। प्रतिनियतस्वावरणक्षयोपशमस्य ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थोपलब्धेरेव प्रसिद्धः। न चान्योन्याश्रयः; अस्याः प्रतीतिसिद्धत्वात्। तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्ग, नार्थोत्प–त्यादिः, तस्य निषिद्धत्वादन्यत्रादर्शनाच्च। न खलु प्रदीपः प्रकाश्यार्थैर्जन्यस्तेषां प्रकाशको दृष्टः। किञ्च, प्रदीपोपि प्रकाश्यार्थाजन्यो यावत्काण्डपटाद्यनावृतमेवार्थं प्रकाशयति तावत्तदावृतमपि किन्न प्रकाशयेदिति चोद्ये भवतोऽप्यतो योग्यतातो न किंचिदुत्तरम्।

अर्थ–खुलासा–जो अर्थको प्रकाशित करनेवाला होता है वह अपनेमें प्रतिबन्धरहित होता है, जैसे प्रदीप आदि, ज्ञान अर्थको प्रकाशित करनेवाला है। ज्ञानका प्रतिनियत (निश्चित) अपने आवरण का क्षयोपशम प्रतिनियत (निश्चित) अर्थोपलब्धिसे ही प्रकृष्ट रूपसे सिद्ध है। अन्योन्याश्रयदोष नहीं है; क्योंकि यह प्रतिनियतार्थोपलब्धि प्रतीतिसिद्ध है। स्वावरण–

क्षयोपशमरूप योग्यता शक्ति ही है। वह योग्यता ही ज्ञानकी प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्थाका (निर्णय का) अंग है, अर्थोत्पत्यादि नहीं; क्यों कि वह निषिद्ध किया गया है और अन्यत्र-प्रकाशकप्रदीप आदिमें पाया नहीं जाता। प्रकाशित किये जानेवाले पदार्थों से उत्पन्न हुआ प्रदीप उन पदार्थोंका प्रकाशक होता हुआ देखा नहीं गया है। प्रकाशित किये जानेवाले अर्थोंसे अनुत्पन्न प्रदीप भी जब आवरण-वस्त्रके द्वारा अप्रच्छादित ही अर्थको प्रकाशित करता है तब प्रच्छादित अर्थ को भी क्यों नही प्रकाशित करता? ऐसा प्रश्न हो तो आपका भी इस योग्यता को छोडकर दूसरा उत्तर नहीं है।

निश्चित अर्थकी उपलब्धिसे ही ज्ञानके अपने निश्चित आवरणके क्षयोपशमकी सिद्धि होती है इस वाक्य से क्षायोपशमिक ज्ञानके अनेक भेद हैं यह स्पष्ट हो जाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यज्ञान ये क्षायोपशमिक ज्ञानके भेद हैं। मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की सहकारितासे बाह्य अर्थ को जानता है। अतः इस ज्ञानसे मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम निश्चित है। चिंतन श्रुतज्ञानका निश्चित विषय होनेसे श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम निश्चित है। अवधिज्ञान पूर्वोत्तर द्रव्यों को या पर्यायों को मर्यादित रूपसे जानता है इसकारण अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम निश्चित है और इसप्रकार मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भी निश्चित है। सर्वज्ञ के ज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञानका प्रत्येक विषय निश्चित होनेपर भी, छद्मस्थकी अपेक्षासे अनिश्चित है। छद्मस्थ जीव अपने इतस्ततः दौडनेवाले चंचल मनको अपने पुरुषार्थ के द्वारा एकाग्र करता

है यह बात 'एकाग्रचिन्तानिरोध' इस सूत्रगत पदसे स्पष्ट हो जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्षायोपशमिकभावरूप मतिज्ञानके अनेक बाह्यार्थ ग्राह्य होते हैं, केवल एकही पदार्थ नहीं। इस प्रमाणमें कौनसा ऐसा वाक्य है जो कि 'ज्ञानके अनुसार ज्ञेय जाना जाता है' इस कथनका समर्थन करता हो।

उक्त परीक्षामुखसूत्रका अर्थ " (ज्ञानके) अपने आव–रणका क्षयोपशम है जिसका ऐसी योग्यतासे (अर्थात् ज्ञानकी शक्ति से) ज्ञान प्रतिनियत (अपने निश्चित) अर्थको जानता है " ऐसा है।

सूत्रमें 'स्वावरणक्षयोपशमयोग्यतया' यह तृतीयान्त पद होनेसे और 'व्यवस्थापयति' यह कर्तरि रूप होनेसे उक्त तृती–यान्त पद सूत्रवाक्यमें कर्तृपद न होनेपर ही 'ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है' इसप्रकार अर्थ कर उक्त तृतीयान्तपदको ही कर्ता वनाया है। वस्तुत: 'ज्ञान अपनी शक्तिसे ही निश्चित अर्थको जानता है' यही अर्थ इस प्रकृत सूत्रका है। ज्ञान–किसको जाने यह व्यवस्था योग्यता करती है ऐसा अर्थ सूत्रका नहीं है। यहां 'क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने' इसकी चर्चा भी नहीं चल रही है। इस सूत्रमें 'ज्ञानं' यह अध्याहृत पद कर्तृपद है। प्रमेयकमलमार्तण्डकार आचार्य प्रभा–चंद्रजीने भी इस सूत्रकी वृत्तिमें 'क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने' इस बातका विवेचन नहीं किया है। 'अर्थ और आलोकसे उत्पन्न हुआ ज्ञान उस अर्थको और आलोक को जानता है' इस पूर्वपक्ष का परिहार करते हुए आचार्य श्रीने ज्ञान अपनी शक्तिसे अर्थको जानता है यह सिद्ध किया है।

पृ. ५३ पर लिखा है कि– ' योग्यता ही इसकी नियामक है अर्थात् ज्ञानकी विवक्षित पर्यायमें जाननेकी क्षमताके साथ साथ यह भी निश्चित है कि वह किस ज्ञेयको जानेगी । '

यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिबिंबित ज्ञेयके ज्ञानगत आकारके कारण ज्ञानकी विशिष्ट पर्यायके रूपसे परि– णति होती है या विवक्षित पर्यायरूपसे परिणत हुआ ज्ञान अपने विषयको अपनी शक्तिसे ग्रहण करता है ? वस्तुतः क्षायोपश– मिकभावरूप ज्ञानमें ज्ञेयार्थ प्रतिबिंबित हो जानेपर ही ज्ञानकी पर्याय उत्पन्न होती है । उस ज्ञेयाकारसहित परिणामके पूर्ववर्ती परिणाममें अन्य अर्थात् जो आगेकी पर्यायका विषय बना हुआ होता है प्रतिबिंबित नहीं हो सकता । ऊपर उद्धृत किया हुआ वाक्य ही विलक्षण मालूम होता है; क्यों कि मतिज्ञानमें बाह्यार्थ प्रतिबिंबित होनेपर ही बाह्यार्थ जाना जाता है ।

आगे लिखा है कि ' योग्यतामें जिस ज्ञेयको जानना होता है, तत्संबंधी आवरण का क्षयोपशम होता है । ' पं. जीने यहां प्रत्येक ज्ञेयको जानते समय उस प्रत्येक ज्ञेयसंबंधी आवरणका क्षयोपशम होना माना है । जिस ज्ञानमें ज्ञेयार्थ प्रतिबिंबित होता है वह ज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप नहीं होता क्या ? यदि वह क्षायोपशमिकभावरूप नहीं होता तो क्या वह क्षायिकभावरूप होता है ? यदि क्षायोपशमिकभावरूप मतिज्ञानरूप होता है ऐसा मानलिया तो क्षायोपशमिक ज्ञान की सभी इंद्रियग्राहय विषयों को जाननेकी क्षायोपशमिकी शक्ति विद्यमान होनेसे प्रत्येक इंद्रियग्राहय पदार्थको जानते समय इस पदार्थ संबंधी आवरणके क्षयोपशम की क्यों आवश्यकता जंचती है? दूसरा प्रश्न यह है कि-

'जिस योग्यतामें जिस ज्ञेयको जानना होता है वह योग्यता उसको आवृत करनेवाले कर्मके क्षयोपशमरूप नहीं है क्या? स्वावरणकर्मके अर्थात् योग्यताको आवृत करनेवाले कर्मके उदयके कारण अव्यक्त योग्यता में ज्ञेयार्थ प्रतिबिंबित होता है क्या ? यदि ऐसा होता हो तो जिसमें केवलज्ञानकी शक्ति व्यक्त नहीं हुई है ऐसे भव्यके ज्ञानमें निखिल ज्ञेयार्थोंका युगपत् प्रतिफलन होकर उस भव्यकी सर्वज्ञता प्रकट होनी चाहिये; किंतु ऐसा नहीं होता । अतः जब ज्ञानके अपने आवरण का क्षयोपशम हुआ होता है तब उससे अभिन्न शक्तिके योग्यताके आवरणका भी क्षयोपशम हुआ होता है । अतः प्रत्येक ज्ञेयको जानते समय तत्संबंधी आवरणका क्षयोपशम होता है यह कथन बेबुनियाद है । इसके विषयमें पं. जी शास्त्रीय प्रमाण पेश करते तो अच्छा हो जाता ।

इसके बाद इसी पृष्ठपर लिखा है कि– "इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञानकी प्रत्येक पर्यायका ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यतामें ही सम्मिलित है । जब ज्ञानका ज्ञेय भी निश्चित है तो फिर यह बात कहां रह जाती है कि क्या जाने और क्या न जाने–इसका विवेक तो करना ही होगा, इस दिशामें कुछ न कुछ तो करना ही होगा" ।

'ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय भी निश्चित है' इस कथनका परिहार इसके पूर्व ही किया गया है । ज्ञानकी प्रत्येक पर्यायकी उत्पत्तिमें ज्ञेयरूप बाह्यार्थ सहकारिकारण होता है; उसके बिना ज्ञानकी विशिष्ट पर्यायकी उत्पत्ति होना असंभव है । ज्ञेय प्रकाश्य है और ज्ञान प्रकाशक है अथवा ज्ञेय ग्राह्य है और ज्ञान ग्राहक है । ज्ञान और ज्ञेय परस्परसापेक्ष होते

है। ज्ञेयके अभावमें ज्ञान ग्राहक (ज्ञातृ) नहीं होता और ज्ञानके अभावमें बाह्यार्थ ग्राह्य (ज्ञेय) नहीं होता। ज्ञानकी प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय तीर्थंकर भगवानके ज्ञानकी दृष्टिसे निश्चित है, छद्मस्थ जीवकी दृष्टिसे निश्चित नहीं है। यदि छद्मस्थकी दृष्टिसे भी निश्चित होता तो ध्यानी का ध्येय भी निश्चित होता और यदि वह भी निश्चित होता तो ध्यानीको उस ध्येयकी ही निश्चित रूपसे प्राप्ति हो जाती। यदि ध्यानी को निश्चित ध्येयकी प्राप्ति हो जाती तो 'एकाग्रचिन्तानिरोध' की आवश्यकता क्यों बताई जाती ? अतः यह कथन ठीक नहीं है। इसीप्रकार 'वह निश्चित ज्ञेय योग्यतामें सम्मिलित है' यह कथन भी विलक्षण जंचता है। योग्यता ज्ञानकी शक्ति होनेसे ज्ञानसे भिन्न नहीं है और ज्ञेय ज्ञानशून्य है। ऐसी अवस्थामें उक्त कथन क्या ठीक माना जावे? अतः 'क्या जाने और क्या न जाने' इसका विवेक करना ही होगा। युक्त्याभास और आगमविपर्यायसे पं. जी के मन्तव्यव्यकी सिद्धि होना असंभव है।

इसी पृष्ठपर जो 'यदि ऐसी बात है तो फिर यह उपदेश क्यों दिया जाता है कि दृष्टिको आत्मसन्मुख करो, आत्माको जानो आदि' यह प्रश्न है वह वस्तुतः पं. जीको निरुत्तर करनेवाला है। इस प्रश्नका उत्तर न देकर पं. जीने 'इसप्रकारके प्रश्न तो अनेक उठते हैं। उन सब पर आगे चलकर पृथक् से विचार किया जायगा' ऐसा कहकर इस समय प्रसंगको टाल दिया है। यदि सब कुछ सहज होनेवाला है तब दृष्टि भी सहज आत्माभिमुख हो जानी ही चाहिये। ऐसी अवस्थामें उपदेशकी क्यों आवश्यकता जंची और जंच रही है ?

पृ. ५४ पर लिखा है कि 'जिसप्रकार अचल द्रव्यको चलायमान नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार अचला पर्यायको भी स्वकालसे चलायमान करना संभव नहीं है।'

भुज्यमान पर्यायको अपने कालसे च्युत नहीं किया जा सकता यह ठीक है, किन्तु अनुत्पन्न पर्यायका नाश नहीं किया जा सकता है यह कैसे ? अकालमरण और श्रेणिक के दृष्टान्त इस विषयके साधक है। जिस समय जिस आयुका बंध होता है उस आयुके कालका निश्चय भी होता है। अकाल मरणके कारण उस कालमें परिवर्तन हो जाता है। महाराजा श्रेणिकने सप्तम नरक की आयुका बंध किया था। बादमें प्रथम नरक की आयुका बंध किया था। यह पर्यायके उत्पादके कालका परिवर्तन न होनेपर भी पर्यायका परिवर्तन अवश्य है। यह श्रेणिककी अनन्तरोत्तर पर्यायकी उत्पत्तिका काल कर्मने निश्चित किया था। श्रेणिककी पर्याय का नाश उसकी बद्धायुके क्षयपर अवलंबित था और नरकायुका काल भी नरकायुके उदयपर ही अवलंबित था।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस भेदसे बंधके चार भेद हैं। जब कर्मबन्ध होता है उस समय स्थितिबन्ध होता है। इस बद्धकर्मका विपाककाल आनेके पूर्व तपश्चरणादिक्रिया-विशेषोंकी सामर्थ्यसे उसको जबरन उदयावलिमें लाकर उसका अनुभव करना अविपाक निर्जरा है। कर्मोंकी यह अविपाक-निर्जरा होती है इस शास्त्रीय कथनको मानना ही होगा। जब स्थितिबन्ध होता है तब कर्म की स्थितिके कालकी मर्यादा भी निश्चित होती है अर्थात् उसका विपाककाल भी निश्चित होता

है। यह कर्म जब उदयमें आता है तब जीवसे विभावपर्यायकी उत्पत्ति होती है। तपश्चरणादिके द्वारा उदयावलीमें प्रविष्ट होनेके पूर्व उस कर्मकी आत्मसामर्थ्यके बलपर जबरन उदया- वलिमें लाकर निर्जरा की जा सकती है। इस प्रकार कर्मकी निर्जरा की जानेपर विभावपर्यायकी उत्पत्ति होती ही नहीं। क्या यह पर्यायका अभाव करना नहीं है? विभावपर्यायका अभाव करना नहीं है? विभावपर्यायका अभाव होनेपर अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। एक विभावपर्यायका अभाव होनेपर उसका स्थान रिक्त रहता ही नहीं। अतः उसके स्थानकी रिक्तताका भय नहीं रहता और कहींसे दूसरी पर्याय लानेकी आवश्यकता भी नहीं होती। स्थानकी रिक्तताका जो भय बताया जाता है वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है।

पृ ५५ पर लिखा है कि– 'पर्यायोंमें फेरफार करनेकी मिथ्याबुद्धि ही अज्ञान है, कर्तावाद है। इसी कर्तावादी अज्ञान का निषेध समयसारके कर्ताकर्म अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें पूरी शक्तिसे किया गया है। जैनदर्शनके अकर्तावाद का यही मर्म है।'

पर्यायोंकी क्रमनियमितता जब कर्मोंके अधीन है और जब कर्मोंकी अविपाक निर्जरा की जाती है तब पर्यायोंकी अपरिव- र्तनीयता कैसे बन सकती है? संसारपर्यायका नाश कर मुक्त पर्यायकी प्राप्ति कर लेनेकी बुद्धि मिथ्याबुद्धि है क्या? विभाव- पर्यायोंका नाश करके स्वभावपर्यायोंकी प्राप्ति कर लेनेकी बुद्धि मिथ्याबुद्धि है क्या? भुज्यमान पर्यायमें फेर-फार नहीं किया जा सकता यह ठीक है। उसीप्रकार भावी पर्यायोंमें फेर-

फार किया जा सकता है यह भी ठीक है। यह फेर-फार भी केवली भगवानके द्वारा जाना गया होता है इसकारण केवली भगवान की दृष्टिसे यह फेरफार भी निश्चित है। वह पर्यायकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें जाना जाता है। क्षायिकसम्यक्त्वी महा-राजा श्रेणिकने भावी पर्यायमें फेरफार किया था तो क्या उसकी बुद्धि मिथ्या थी ? बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका मिथ्यात्व मिथ्यात्व-कर्मोदयके कारण, व्यक्त होता है। सम्यग्दृष्टि अपने परिणामका उपादानकर्ता नहीं हो सकता क्या ? समयसारमें विभावभावोंके कर्तृत्व का निषेध किया गया है। 'प्राप्तिपूर्वको निषेधः' इस वचनके अनुसार जब विभावभावोंके कर्तृत्वका निषेध किया गया है तब विभावभावोंका अशुद्धजीवकर्तृकत्व सिद्ध होता है। सम्यग्दृष्टि भी रागादिविभावभावोंका कर्ता होता है। इन विभाव-भावोंके कर्तृत्वका निषेध करना आवश्यक है। मिथ्यात्वका नाश करके सम्यक्त्वके रूपसे परिणत होना परिणामपरिवर्तन नहीं हैं क्या ?

पृष्ठ ५६ पर लिखा है कि– 'कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि गोम्मटसारमें नियतिवादी को मिथ्यादृष्टि कहा हैं, यह क्रमबद्धपर्याय भी कुछ वैसी ही है, अतः इसमें भी एकान्त का दोष आता है। पर गोम्मटसारके नियतवाद और क्रमबद्धपर्याय में बहुत अन्तर है। एकान्तनियतवादी तो पुरुषार्थादि अन्य सम-वायोंकी उपेक्षा कर एकान्तनियतवादका आश्रय लेकर स्वच्छन्द-ताका पोषण करता है, जब कि क्रमबद्धपर्यायका सिद्धान्त तो पुरुषार्थादि अन्य तथ्यों को साथ लेकर चलता है।'

जब कानजीभाई निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं और प्रयत्नरूप पुरुषार्थ निमित्तरूप है तब उसका एकान्तनियतिवादसे भेद कैसे हो सकता है ? दिगंबर जैन दर्शन तो कार्यकी उत्पत्ति कर्ता, पुरुषार्थ और सहकारिकारण इनके मेलसे होती है ऐसा सिद्धान्त बताता है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से सहकारिकारणके दो भेद हैं। कानजीभाई दोनों सहकारिकारणोंको अकिंचित्कर बताते हैं। पं. जी की भी यही मान्यता है। पुरुषार्थ भी सहकारिकारणरूप या निमित्तकारणरूप होनेसे वे पुरुषार्थको नहीं मानते। जब कानजीभाई और उनके पक्षपाती निमित्त और पुरुषार्थ को नहीं मानते हैं तब उनकी मान्यतामें और एकान्तनियतिवादमें भेद है ही नहीं। यदि निमित्तको किंचित्कर मानते तो उनकी मान्यता एकान्तनियतिवादरूप न होती। पृ. ८० पर पं. जीने जो 'परमें तो इसे कुछ करना ही नहीं है, अपनी पर्याय में भी कुछ नहीं करता है। सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' यह लिखा है इससे पं. जी निमित्त और पुरुषार्थ इन दोनोंको अस्वीकार कर रहे हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

अब गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथाएँ पेश करता हूं। देखिए-

कालो सव्वं जाणदि, कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि, ण सक्कदे वंचितुं कालो ॥८७९॥
अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं, सव्वं ईसरकवं होदि ॥८८०॥
एक्को चेव महप्पा, पुरिसो देवो य सव्ववावी य
सव्वंगणिगूढो वि य, संचेदणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥

जस्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तस्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥
को करदि कंटयाणं, तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ, इदि सव्वं पि सहाओ त्ति ॥८८३॥

अर्थ- सबको काल ही उत्पन्न करता है; सबका नाश ही करता है, सोए हुए प्राणियोंको काल ही जगाता है, कालको कोई ठगा नहीं सकता ॥२७९॥ आत्मा अज्ञानी है-ज्ञानरहित है, अनीश है-असमर्थ है, उसका सुख, दुःख, स्वर्ग-नरकमें गमन सब कुछ ईश्वरकृत है ॥८८०॥ (इस संसारमें) महान् आत्मा एक ही है, वही पुरुष है, वही देव है और वही सर्वव्यापक है, उसके सभी अवयव निगूढ-प्रच्छन्न होनेपर भी वह चेतनासहित है, उत्कृष्ट है ॥ ८८१ ॥ जो, जब, जिससे, जिसप्रकार और जिसके नियमसे होनेवाला होता है वह उससमय, उसमे, उसी प्रकार उसके होता है इस प्रकारका कथन नियतिवाद है ॥८८२॥ काटोंका तीक्ष्णत्व कौन करता है? मृग, पक्षी आदिकों की अनेक-प्रकारता कौन करता है। इसप्रकार सब कुछ स्वभाव करता है ॥ ८८३ ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव ये सब एकान्तवाद हैं और इस एकान्तवादको ग्रहण करनेसे क्रियावाद होता है। ये पांच वाद कार्योत्पत्तिमें सामूहि-करूपसे कारण नहीं हैं।

आगेकी गाथाएं देख लीजिये-

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।

थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि॥८९०॥
दइवमेव परं मण्णे, धिप्पउरुसमणत्थयं।
एसो सालसमुत्तुंगो, कण्णो हण्णवि संगरे॥ ८९१ ॥
संजोगमेवेति वदंति तण्णा, णेवेक्कचक्केण रहो पयादि।
अंधो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता णयरं पविट्ठा
॥ ८९२ ॥

अर्थ– जो आलस्यसहित होता है और उत्साहरहित होता है वह कुछ भी फल भोग नहीं सकता। जैसे–स्तनोंका दूध पीना आदि पुरुषार्थके विना नहीं बन सकता ॥८९०॥ मैं केवल दैवको (भाग्यको) उत्तम मानता हूं। निरर्थक पुरुषार्थको धिक्कार हो। सालके समान ऊंचा कर्णराजा युद्धमें मारा गया ॥ ८९१ ॥ ज्ञानी पुरुष संयोगको ही कहते है, कार्यसिद्धिमें दो के संयोग को ही आवश्यक बताते हैं। एक पहियेसे रथ चलता नहीं। एक अंधा और एक पंगु वनमें प्रविष्ट हुए; वे दोनों मिलकर नगर में प्रविष्ट हुए ॥

इन तीन गाथाओंके द्वारा क्रमसे पौरुषवाद, दैववाद और संयोग–वादका स्वरूप बताया गया है। इसी पृष्ठपर आगे जैनेन्द्र–सिद्धान्तकोशका उद्धरण पेश किया है। देखिए–

"जो कार्य या पर्याय जिस निमित्तके द्वारा जिस द्रव्यमें जिस क्षेत्र वा कालमें जिसप्रकारसे होना होता है, वह कार्य उसी निमित्तके द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व कालमें उसी प्रकारसे होता है। ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टयसे समुदित नियत

कार्यव्यवस्थाको 'नियति' कहते हैं। नियत कर्मोदयरूप निमित्त की अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियतकालकी अपेक्षा इसे ही 'काललब्धि' और होनेयोग्य नियतभाव या कार्यकी अपेक्षा इसे ही भवितव्य कहते हैं।

अपने अपने समयोंमें क्रमपूर्वक नंबरवार पर्यायोंके प्रगट होनेकी अपेक्षा श्री कानजी स्वामीने इसके लिए क्रमबद्धपर्याय-शब्दका प्रयोग किया है।

यद्यपि करने-धरने के विकल्पों पूर्ण रागी बुद्धिमें सब कुछ अनियत प्रतीत होता है, परन्तु निर्विकल्पसमाधिके साक्षीमात्र भावमें विश्वकी समस्त कार्यव्यवस्था उपरोक्त प्रकार नियत प्रतीत होती है। अतः वस्तुस्वभाव, निमित्त, (दैव) पुरुषार्थ, काललब्धि व भवितव्य इन पांचों समवायोंसे समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है; और इनसे निरपेक्ष वही मिथ्या है निरुद्यमी पुरुष मिथ्या नियतिके आश्रयसे पुरुषार्थका तिरस्कार करते हैं, पर अनेकान्तबुद्धि इस सिद्धान्तको जानकर सर्व बाह्य व्यापारसे विरक्त हो एक ज्ञाता-दृष्टा भावमें स्थिति पाती है।"

वर्णीजीकी दृष्टिमें नियति ही दैव है, नियति ही काल है और नियति ही भवितव्यता है। नियत कर्मोदयरूप निमित्तकी अपेक्षा नियति 'दैव' है इस वर्णीजीके अभिप्रायके अनुसार 'दैव' और 'कर्म' तथा 'नियति' और 'कर्म' भिन्नभिन्न मालुम होते हैं, जब कि देवागमस्तोत्रकी ८८ वी कारिकाकी अष्टशतीमें अकलंकदेव 'योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवं उभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्' इस वाक्यके द्वारा यह बता रहा

हैं कि 'योग्यता (भव्यता), पूर्व कर्म, दैव और अदृष्ट ये सब पर्यायनाम हैं और पौरुष, इह चेष्टित और दृष्ट ये पर्यायशब्द हैं' जब कर्म और दैव एक हैं तव नियतिको दैव ही क्यों कहा जाय ? पूर्व कर्म क्यों न कहा जाय ? सन्मतिसूत्र की तृतीय-काण्डकी गाथा ५३ में 'पूर्वकृत' और 'नियति' इनका पृथक् पृथक् ग्रहण किया है। अब वर्णीजी के द्वारा बताई गई 'नियति' और 'दैव' की अभिन्नता-एकता कैसी मानी जाय ? उसीप्रकार 'नियति' और 'भवितव्यता' इनकी भी अभिन्नता कैसी मानी जाय ? उन्हीं की दृष्टिमें श्री कानजीभाईके द्वारा प्रतिपादित 'क्रमबद्धपर्याय' यह 'नियति' का नामान्तर होनेसे इन दोनों में भेद नहीं है। अव प्रश्न उपस्थित होता है कि जब क्रमबद्धपर्याय कार्यरूप है और नियति तथा पूर्वकृत पर्यायरूप कार्यकी सिद्धी करनेवाले कारण हैं तब क्रमबद्धपर्याय और नियति इनमें अभेद कैसे हो सकता है ? कार्यकारणमें नियमसे पौर्वापर्य होता है और जिनमें पौर्वापर्य होता है वे परस्परभिन्न होते हैं। अतः क्रमबद्धपर्याय और नियति इनमें कार्यकारणभाव होनेसे पौर्वापर्य होनेके कारण भेद होनेसे अभिन्नता नहीं हो सकती। अतः वर्णीजीका कथन ग्राह्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि वर्णीजीने जो 'वस्तुस्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुषार्थ, काललब्धि व भवितव्य इन पांचों समवायों से समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है' ऐसा कहाहै वह चिन्त्य है। ऊपर वताया गया है कि कर्म, दैव और भाव्य अर्थात् भवितव्य एकार्थक होनेसे भिन्न भिन्न नहीं हैं। दैव और भवितव्य एक होनेसे समवायों की पांच यह संख्या घटती है। वर्णीजीके मन्तव्यानुसार दैव और भवितव्य से काललब्धि भिन्न

न होनेसे भी समवायों की तीन यह संख्या रह जाती है। पुरुषार्थका उल्लेख श्री कानजीभाईने जिस सन्मतिसूत्रके आधारसे किया है उस सूत्र में पुरुषार्थका उल्लेख नहीं है, अपि तु पुरुषका अर्थात् ईश्वरका उल्लेख है। अत:सन्मतिसूत्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो पांच समवायों में पुरुषार्थका उल्लेख न होनेसे वर्णीजीने श्री कानजीभाईके समर्थनार्थ जो पुरुषार्थ का उल्लेख किया है वह मात्र कल्पित है। दिगंबरजैनाचार्य कार्यसिद्धिके लिए पांच समवायोंकी आवश्यकता नहीं बताते। वे कार्यसिद्धि दैव और पुरुषार्थसे ही होती है ऐसा कहते हैं। देखिये–

"योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयदृष्टं, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात्" (अ. स. पृ. २५६)

"योग्यता (भाव्य) और पूर्वकर्मरूप, दैव ये दोनों अदृष्ट हैं; पौरुष, इह चेष्टित दृष्ट है। दैव (कर्म) और पौरुष इन दोनोंसे अर्थसिद्धि (कार्यसिद्धि) होती है; क्योंकि पौरुषमात्रसे अर्थ का दर्शन नहीं होनेसे और दैवमात्रसे इच्छाकी विफलताका प्रसंग खडा हो जानेसे उन दोनोंमेंसे एकके अभावमें कार्यसिद्धि नहीं होती।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्यसिद्धिके लिए दैव और पौरुष इन दोनोंकी ही आवश्यकता होती है। यहां शेष तीनोंका उल्लेख भी नहीं किया गया है। वर्णीजी और पंडितजी इस शास्त्रीय प्रमाणपर विचार करेंगे क्या? समवायशब्दका अर्थ

समूह है। स्वभावादि समूहात्मक हैं क्या? उनके समूह को समवाय कहा जा सकता है; किंतु प्रत्येकको नहीं। प्रत्येकको समवायी कहना चाहिये। शास्त्रमें स्वभावादिको समवाय नहीं कहा है। पृ. ५७ पर पं. जीने स्वयं 'कार्योपत्ति में पंच कारणो के समवाय को' ऐसी शब्दयोजना की है। दैव, काललब्धि और भवितव्यता जब अर्थकी अपेक्षा एक हैं तब इनकी परस्पर-सापेक्षता कैसे संभव है?

पृ. ५७ पर लिखा है कि-"कार्योत्पत्तिमें पंच कारणों के समवाय को सम्यक् घोषित करते हुए आचार्य सिद्धसेन सम्मई-सुत्तं (सन्मति सूत्र) में लिखते हैं-

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥५३॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त), और पुरुषार्थ इन पांच कारणोंमें से किसी एकसे कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है। गाथामें पाये जानेवाले कालादिकारणैकान्तों का स्वरूप बताया जाता है। देखिये-

काल-'कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥'

'काल भूतोंको उत्पन्न करता है, काल प्रजाका संहार करता है, प्राणिमात्र जब सोते हैं तब काल जागृत रहता है,

काल का उल्लंघन करना कठिण है।' इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सब कुछ काल ही करता है। स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुष कुछ नहीं करते। गोम्मटसारकर्मकाण्ड गा. ८७९ ऐसा ही स्वरूप काल कारणैकान्तका व्यक्त करती है।

स्वभाव–अपरे तु स्वभावत एव भावा जायन्ते इति
इति वर्णयन्ति। ... तदुक्तम्–
कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं
मृगपक्षिणां वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति
कुतः प्रयत्नः॥

'कांटोकी तीक्ष्णता कौन करता है? पशुपक्षियोंकी नानाविधता कौन करता है? यह सब स्वभावतः ही हुआ है। जब इच्छा ही नहीं है तब प्रयत्न कैसे हो सकता है?' यह स्वभाव कारणैकान्तवादका स्वरूपहै। कर्मकाण्ड गा. ८८३ भी यही स्वरूप बताती है। न्यायवार्तिककार उद्योतकरने ईश्वरोपादानप्रकरणमें 'स्वभावः ईश्वरस्वभावः' इसप्रकार कहकर स्वभावसे ईश्वरस्वभावका ग्रहण किया है।

नियति– सर्वस्य वस्तुनः तथा तथा नियतरूपेण भवनात् नियतिरेव कारणमिति केचित्। तथाहि–तीक्ष्णशस्त्राद्युपहताः अपि तथामारण नियतताभावे जीवन्त एव दृश्यन्ते, नियते च मरणकाले शस्त्राविघातमन्तरेणाऽपि मृत्युभाज उपलभ्यन्ते, न च नियतिमन्तरेण स्वभावः कालो वा कश्चित्। हेतुः यतः

कण्टकादयोऽपि नियत्यैव तीक्ष्णादितया नियताः समुपजायन्ते, न कुण्ठादितया कालोऽपि शीतादेर्भावस्य तथा नियततयैव तथा तथा तत्र तत्र तथा तथा निर्वर्तकम् (कः)। तथा चोक्तम्—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

" सभी वस्तुओंका उस उस प्रकारसे नियतरूपसे परिणमन होनेसे नियति ही कारण है ऐसा कोई कहते हैं। खुलासा– तीक्ष्ण शस्त्रादिसे मारे गये होनेपर भी उस प्रकारसे मारे जानेकी नियतता का अभाव होने पर जीव सजीव ही देखे जाते है और मरणकाल निश्चित होनेपर शस्त्र आदिके आघातके अभावमें भी ममरण देखे जाते है। नियतिके विना कोई स्वभाव अथवा काल कारण नहीं होता, जिससे कांटे आदि भी नियतिके कारण ही तीक्ष्णादिरूपसे नियत हुए उत्पन्न होते हैं, अतीक्ष्णादिरूपसे उत्पन्न नही होते। काल भी शीतादिभाव का शीतादिभावरूपसे नियतताके कारण ही उस उस समय उस उस प्रदेशमें उस उस रूपसे निर्वर्तक होता है। उस प्रकार कहा भी है कि–मनुष्योंका जो शुभ अथवा अशुभ अर्थ प्राप्तव्य होता है वह नियतिकी सामर्थ्यके आश्रयसे अवश्य प्राप्त होता है। महान् प्रयत्न करने पर भी प्राणियोंका जो होनेवाला नहीं होता वह होता ही नहीं और जो होनेवाला होता है उसका नाश नहीं होता।" गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८८२ का भी यही अभिप्राय है।

पूर्वकृत-जन्मान्तरोपात्तं इष्टानिष्टफलदं सर्वजगद्वैचित्र्य-कारणमिति कर्मवादिनः ।

" अन्य जन्ममें जिसको उपार्जित किया हुआ होता है, जो इष्टानिष्ट फल देनेवाला होता है, संपूर्ण जगतकी विचित्रताका कारण होता है (वह कर्म होता है) ऐसा कर्मवादी कहते हैं । " गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८९१ का यही अभिप्राय है । यह कर्मकारणैकान्त है ।

पुरुष– पुरुष एव एकः सकललोकस्थिति-सर्ग-प्रलयहेतुः प्रलयेऽपि अलुप्तज्ञानातिशयशक्तिः इति । ' पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।' (अभयदेवीया वृत्तिः पृ. ७१५)

" जो सकल लोक की स्थिति, सर्ग (उत्पत्ति) और प्रलय इनका कारण होता है और प्रलयकालमें जिसकी ज्ञानातिशयशक्ति लुप्त हुई नहीं होती वह एक पुरुष ही है । ' यह सब जो उत्पन्न हुआ है और भविष्यमें जो उत्पन्न होगा वह पुरुष ही है । ' " गो. क. गा. ८८०–८८१ भी इसी अभिप्रायको व्यक्त करती हैं ।

' सम्मइसुत्तं ' के तृतीयकाण्डकी ५३ वी गाथाके कालादिशब्दोंके अभिप्रेत अर्थ श्वेतांबराचार्य अभयदेवसूरिविरचित वृत्तिके अनुसार किया है और अर्थोंके समर्थनके लिए गोम्मटसारकर्मकाण्ड की गाथाओं के क्रमांक भी दिये हैं ।

इन कालादिकोंका उल्लेख ३६३ एकान्तवादियोंकी संख्या की सिद्धि करनेके प्रकरणमें कर्मकाण्डमें किया गया है । जीवादि

नौ पदार्थ स्वतः, परतः अनित्यत्वसे और नित्यत्वसे अस्ति किये जाते है। इस प्रकार ९×४ = ३६ भंग होते हैं। ये भंग काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इनसे किये जाते हैं। अतः इनके [९×४×५ = (३६×५) =] १८० भंग हो जाते हैं। ये क्रियावादियोंके भेद हैं। सन्मनिसूत्र में पूर्वकृतका ग्रहण किया है और आत्मा का ग्रहण नहीं किया है। कर्मकाण्डमें आत्माका ग्रहण किया है और पूर्वकृतका ग्रहण नहीं किया है। आत्मा और पुरुष एक हैं। कर्मकाण्डमें ईश्वर का ग्रहण किया है और पूर्वकृतका ग्रहण नहीं किया है।

कालादिकारणपंचक परस्परसापेक्ष होनेपर भी पुरुषका भी अर्थात् ईश्वरका भी ग्रहण करनेसे और कालादिका स्वरूप शुद्ध न होनेसे–समुदित होनेपर भी सम्यक्त्वरूप कैसे हो सकते हैं? इस प्रकारके प्रश्नका समाधान अभयदेवसूरिने 'त एव अन्योन्य-सव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेन एकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तन-पटवः प्रमाणविषयतया परमार्थसन्तः इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्र-स्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः' इस प्रकार समाधान किया है। अर्थ– 'वे (कालादि) ही परस्पर-सापेक्ष होनेसे नित्याद्येकान्त के परिहार से एकानेकस्वभाववाले, कार्य की उत्पत्ति करनेमें पटु, प्रमाणका विषय होनेसे परमार्थतः अस्तिरूप होनेके कारण उनका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका भी समीचीनत्व सिद्ध होनेसे वह वाद अर्थात् पंचकारणवाद समीची-नवादके रूपसे निश्चित हो गया।' पुरुषका अर्थ ईश्वर किया गया है। ईश्वरके सर्ग, स्थिति और प्रलयके ऐकान्तिक हेतुत्वका परिहार करनेपर पांच हेतुओंमें उसका अन्तर्भाव बना रहता है।

यद्यपि इन पांच हेतुओंको कार्यसाधक माना तो ईश्वर को भी कार्योत्पत्तीका कारण मानना पडेगा, जो कि जिनागमके विरुद्ध है। दिगंबर आचार्योंने दैव और पुरुषार्थ इन दोनों को ही कार्यसाधक माना है, उक्त पांच हेतुओं को कार्यकी सिद्धि करनेके लिए आवश्यक नहीं बताया है। कार्यसाधक पांच हेतुओंको मानना दिगंबर न्यायशास्त्रके विरुद्ध होनेसे मिथ्या है। दूसरी बात यह है कि सन्मतिसूत्रकी गाथामें ' पुरुष ' शब्दका निर्देश है। पं. जीने उसका अर्थ पुरुषार्थ कैसे किया ? वृत्तिकार अभय-देवसूरीने उस शब्दसे ईश्वर प्रजापति आदिकोंका ग्रहण किया है, पुरुषार्थका ग्रहण नहीं किया है। पुरुषकारणैकान्त का परि-हार करना पुरुषका निराकरण नहीं है। इस सन्मत्तिसूत्रको दिगंबराचार्यकी कृति माननेमें मैं असमर्थ हूं। आश्चर्यकी बात यह है कि इस ग्रंथकी वृत्ति किसी भी दिगंबर विद्वान् आचार्यके द्वारा नहीं लिखी गई है। इसका कारण क्या है यह समझमें नहीं आता। मेरी दृष्टिमें यह ग्रंथ दिगंबर आम्नायका नहीं है। जिनेन्द्रवर्णी भी इस ग्रंथको श्वेतांबरों का मानते हैं। प्रकृत प्रकरण दिगंबरीय मान्यताके विरुद्ध है और इसकी वृत्ति लिख-नेवाले दिगंबर आचार्यका अभाव है। इसी कारण मेरा मन इस ग्रंथको दिगंबराचार्यकी कृति माननेके लिए तैयार नहीं हो रहा है। हो सकता है कि यह ग्रंथ दिगंबर आचार्यकृत होनेपर भी उसमें कुछ गाथाओं को मिलाकर उसको श्वेतांबरोंने अपनाया हो। धवलामें ' सम्मइसुत्तं ' इस नामके साथ सन्मतिसूत्र की गाथाएं भी पायी जाती हैं। वर्णीजी की दृष्टिमें यह ग्रंथ श्वेतांब-रस्वामिक होनेपर भी जिनेन्द्रवर्णीजीने ' कालो सहाव नियई ...' इस गाथाके अभिप्रायका समर्थन करनेकी कोशिस की है। अस्तु ·

पृ. ५७ पर लिखा है कि–" पंचसमवायों की चर्चा पद्म–पुराणमें इसप्रकार है–

" कालः कर्मेश्वरो दैवं स्वभावः पुरुषः क्रिया।
नियतिर्वा करोत्येवं विचित्रं कः समीहितम् ॥

उक्त छंदमें रामको वनवास और भरतको राज्य दिये जानेपर जनता अपने भाव व्यक्त कर रही है–

ऐसी विचित्र चेष्टा को काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया अथवा नियति ही कर सकती है और कौन कर सकता है?"

इसी बातका स्पष्टीकरण करते हुए जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश–कार लिखते है–

कालको नियतिमें, कर्म और ईश्वरको निमित्तमें और दैव और क्रिया को भवितव्यमें गर्भित कर देने पर पांच बातें रह जाती हैं। स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ व भवितव्य–इन पांच समवायों से समवेत ही कार्य–व्यवस्था की सिद्धि है, ऐसा प्रयोजन है।"

पद्मपुराणके श्लोकमें जो काल का निर्देश है उसको यदि पांच संख्याकी सिद्धि करनेके लिए नियतिमें अन्तर्भूत करना इष्ट है तो सन्मतिसूत्रकी गाथा स्थित काल को क्यों न नियतिमें अंतर्भूत किया जाय? कर्म और ईश्वर को निमित्तमें अन्तर्भूत करना यदि इष्ट है तो गाथा गत पुरुषको पूर्वकृत (निमित्त) में क्यों न गर्भित किया जाय? कर्म और ईश्वर निमित्तसे भिन्न हैं

क्या है गाथामें जो पूर्वकृत शब्द है उसको पं. जीने निमित्त कहा है। पूर्वकृत शब्दसे कर्म का ही बोध होता है। ईश्वर को अर्थात् पुरुष को निमित्तमें गर्भित किया तो अर्थात् कर्ममें गर्भित किया तो कर्म ही रह जाता है—पूर्वकृत ही रह जाता है और काल को नियतिमें गर्भित कर देनेसे सिर्फ नियति ही अवशिष्ट रह जाती है। पुरुषका और कालका अभाव हो जानेसे तीन कारणोंका समवाय रह जानेसे पंचकारणसमवाय का कल्पितत्व सिद्ध हो जाता है। यदि गाथागत पुरुषको निमित्तभूत कर्ममें और कालको नियतिमें गर्भित नहीं करना चाहिये तो कालको नियतिमें, कर्म व ईश्वरको निमित्तमें और दैव व क्रियाको भवितव्यमें गर्भित करनेकी वर्णिजीकी बातें क्यों मानी जाय ? वर्णिजीके पंचकारणसमवायमें पुरुषार्थ और भवितव्य का निर्देश है वैसा उन दोनों का निर्देश गाथोक्त पांच कारणोंमें नहीं है। वर्णीजी के द्वारा बताये गये पांच कारणो में काल का निर्देश नहीं है।

पद्मपुराणसे उद्धृत श्लोकमें जिन आठ कारणों का उल्लेख मिलता है वे आठ बातें भिन्न भिन्न लोगों के द्वारा बताये गये भिन्न भिन्न कारण हैं। काल को नियतिमें, कर्म और ईश्वरको निमित्तमें तथा दैव और क्रियाको भवितव्यमें अन्तर्भूत किस आधारपर किया गया है ? दैव, कर्म और भवितव्य इनको एकरूप क्यों न माना जाय ? वे तीनों वस्तुत: कर्मरूप होनेसे उनकी एकता बन सकती है ? ईश्वरको निमित्तमें गर्भित नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर कारण होनेसे उसका निमित्तमें अन्तर्भाव किया जा सकता है ऐसा कहना हो तो जनता के द्वारा बताई गयी आठों बातें उक्त विचित्र घटना के कारणभूत ही

है। इसप्रकार गाथोक्त पांचों बातें भी कारणरूप ही हैं। क्या इन सभी को किसी एक में गर्भित किया जा सकता है? यदि नहीं तो ईश्वर को कारणत्व के कारण निमित्तमें गर्भित नहीं किया जा सकता। वर्णीजीने तो वस्तुतः मनमानी ही की है। पं. श्री पंचकारणसमवायके समर्थन में समन्तभद्रादि महान दिगंबर आचार्यों के प्रमाण क्यों नहीं पेश करते? वस्तुतः कार्यसाधक कारणोंका पांचरूप्य प्रमाणसिद्ध नहीं है। श्वेतांबर आचार्य अभयदेवसूरी भी इस कारणपांचरूप्यकी स्पष्टीकरणपूर्वक सदृष्टान्त सिद्धि नहीं कर सके हैं। श्वेतांबर विद्वानोंने इस पांचरूप्यकी सोदाहरण सिद्धि करनेका असफल प्रयत्न किया है।

पृष्ठ ५७-५८ पर लिखा है कि—इस सन्दर्भमें स्वामीजीके स्पष्टीकरण को देखिए—

" गोम्मटसारमें जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है। जो जीव सर्वज्ञको नहीं मानता, ज्ञानस्वभावका निर्णय नही करता, जिसने अन्तर्मुख होकर समाधान नहीं किया है, विपरीत भावोंके उछाले कम भी नहीं किये हैं और 'जैसा होना होगा' ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्वका पोषण करता है—ऐसे जीवको गोम्मटसारमें गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु ज्ञानस्वभावके निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्ध पर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभावकी ओरके पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाय। "

निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानना उसका परिहार करना है, उसको न मानना है। निमित्तका परिहार करना प्रयत्न-

रूप पुरुषार्थका भी परिहार करना है; क्यों कि प्रयत्नरूप पुरुषार्थ उपादानरूप न होकर निमित्तरूप ही होता है। श्री कानजीभाई के परम भक्त पंडितजीने स्वयं पृ. ५० पर 'सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' ऐसा कह कर निमित्तका और पुरुषार्थका परिहार कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्री कानजीभाई और उनके परमशिष्य जब निमित्तका और पुरुषार्थका परिहार कर रह हैं तब वे निर्हेतुक नियतिवाद की पुष्टी कर रहे हैं। कुछ आगमवाक्यों को प्रमाण मानना और कुछ को अप्रमाण मानना सर्वज्ञ को न मानना ही है। जो सर्वज्ञको, सर्वज्ञकी वाणीको, रागादिभावोंका अभाव करनेके सर्वज्ञप्रोक्त उपायोंको अर्थात् रागादिकी निवृत्तिके उपायोंको शरीरकी क्रिया समझकर और समझाकर नहीं मानता वह ज्ञानस्वभावका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नहीं कर सकता, विपरीत भावोंको उछालता है और 'जैसा होना होगा' ऐसा उपदेश देकर स्वच्छन्दताकी नीव डालता है। ऐसे विचारों के शिकार बने हुए महात्मा (?) शुद्धोपयोगरूपसे परिणत नहीं होते, शुभोपयोग को बंधक मानकर उस को हेय-अनादेय मानने हैं। अतः पारिशेष्यन्यायसे अशुभोपयोगरत होते हैं। स्वच्छंदता अशुभोपयोगसे भिन्न नहीं है। अशुभोपयोगात्मक प्रवृत्ति ही स्वच्छन्दता है। स्वच्छंदता सहज हो रहा भाव नहीं है क्या? मिथ्यात्व का पोषण इससे भिन्न प्रकारका होता है क्या? मिथ्यात्व और स्वच्छंदताके छूट जानेके लिए शुद्धात्म-स्वरूपके आगमोक्त ज्ञानपर दृढ श्रद्धान काफी पर्याप्त है; उसके

लिये क्रमबद्ध पर्यायके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। इस बातके समर्थनके लिए शिवभूति मुनिका दृष्टान्त पर्याप्त है।

आगे पृष्ठ ५८ पर श्रीकानजीभाईकृत स्पष्टीकरण दिया गया है। देखिए–

" अज्ञानी कहते हैं कि- इस क्रमबद्ध पर्यायको माने तो पुरुषार्थ उड जाता है- किन्तु ऐसा नहीं है। उस क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय करनेसे कर्तावुद्धिका मिथ्याभिमान उड जाता है और निरन्तर ज्ञायकपनेका सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभावका पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभावके पुरुषार्थद्वारा क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय करके जहां पर्याय स्वसन्मुख हुई वहां एक समयमें उस पर्यायमें पांचों समवाय आ जाते हैं। पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्मका अभाव–यह पांचों समवाय एक समयकी पर्यायमें आ जाते हैं। "

क्रमबद्ध पर्यायको माने तो पुरुषार्थ उड जाता है यह आक्षेप ठीक है; क्यों कि निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे अर्थात् निमित्तको न माननेसे पुरुषार्थ उड जाता है; क्यों कि पुरुषार्थ भी निमित्तरूप होनेसे उसका भी अभाव हो जाता है। घटनिर्मितिमें कुम्हारके निमित्तभूत योगोपयोग ही पुरुषार्थ कहे जाते है और पुरुषार्थरूप हैं भी। योगोपयोग निमित्तसे कदापि भिन्न नहीं हो सकते। कुम्हारके योगोपयोग ही घटकार्यकी निष्पत्ति कर सकते हैं। योगोपयोग के अभावमें कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिकी निमित्तता बन सकती ही नहीं। जब तब कुछ

सहज होता है तब निमित्तभूत द्रव्यकी और योगोपयोगरूप पुरु-षार्थ की आवश्यकता नहीं होती यह स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः निमित्तका और पुरुपार्थका अभाव हो जाने से पर्याय की उत्पत्ति नहीं होती। जब पर्यायोंका ही अभाव होता है तो उनकी क्रमि-कता का भी अभाव सिद्ध हो जाता है।अतः निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताको माननेवालोंके यहां क्रमबद्धपर्याय की मान्यता कल्पनामात्ररम्य है, वास्तविक नहीं है। सारांश, जब पर्यायका सद्भाव ही सिद्ध नहीं है तब पर्यायोत्पत्तिके कारणभूत पुरुषार्थ उड जाता है। दूसरी बात यह है कि जब सब कुछ सहज हो रहा है, तब पुरुपार्थ की निष्फलताकी सिद्धि हो जानेसे भी पुरुषार्थ उड जाता है यह आक्षेप अकाट्य है यह स्पष्ट है।

'इस क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेसे कर्ताबुद्धिका मिथ्या अभिमान उड जाता है और निरन्तर ज्ञायकपनेका सच्चा पुरु-षार्थ होता है' यह कथन दुरभिनिवेशका फलितार्थरूप है। कर्ताबुद्धिका जो मिथ्याभिमान होता है उसको उडानेके लिए क्रमबद्धपर्यायके निर्णयकी आवश्यकता होती है यह कथन प्रमा-णसिद्ध नहीं है। शास्त्रस्वाध्यायजन्य शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त होनेपर उसकी दृढ श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दृष्टि विभाव-भावविषयक कर्ताबुद्धिका मिथ्या अभिमान उडा देता है। क्रमबद्धपर्यायके निर्णयके विना कर्ताबुद्धिका अभिमान उड जाता है ऐसा शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध न होनेसे यह कथन अशास्त्रीय और कपोलकल्पित है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर बतानेसे पुरुषार्थ अपने आप जब उड जाता है तब सच्चे पुरुषा-र्थकी बात करना लोकप्रतारक-लोकवंचक है। 'ज्ञानस्वभावका

पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्धपर्यायका निर्णय भी सच्चा नहीं है ' यह कथन भी यथार्थ नहीं है । जब निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर माना गया है तब पुरुषार्थका भी अभाव माना गया है यह स्पष्ट हो जाता है । जब पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता तब पुरुषार्थ करना भी बन नहीं सकता । जब पुरुषार्थ करना नहीं बन सकता है तब ज्ञानस्वभावका पुरुषार्थ करना भी नहीं बन सकता । निमित्तकी अकिंचित्करताके कारण क्रमबद्धपर्याय भी जब उत्पन्न नहीं हो सकती तब उसके सच्चापनकी बात भी उड जाती है । अत. इस कथनका भी मूल्य शून्य है ।

" ज्ञानस्वभावके पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करके जहा पर्याय स्वभावसन्मुख हुई वहां एक समयमें उस पर्यायमें पाचों समवाय आ जाते हैं । पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्मका अभाव–यह पांचों समवाय एक समय की पर्यायमें आ जाते हैं " यह कथन छाद्मिक है । श्री कानजीभाई की मत प्रणालिमें पुरुषार्थ और क्रमबद्धपर्याय का अस्तित्व बन ही नहीं सकता और पंचकारणसमवाय का भी अस्तित्व वह वास्तविक न होनेमें बन नहीं सकता । निमित्तका अकिंचित्करत्व माना जानेसे कर्मका कारणत्व सिद्ध नहीं होता । श्री कानजीभाई सिर्फ क्षणमात्रकालवर्तिनी सूक्ष्मपर्यायको माननेवाले होनेसे और व्यंजनपर्यायके अस्तित्व को माननेवाले न होनेसे आगमविरोधक होनेसे अपने सम्यग्दृष्टित्व की सिद्धि कैसे कर सकते हैं ? सम्मइसुत्तकी गाथामें ' पुव्वकयं ' अर्थात् ' दैव ' को पांच कारणों में ग्रहण किया है; किंतु श्री काणजी भाईने ' कर्मका अभाव ' इन शब्दों के द्वारा कर्मरूप हेतुको उडा दिया है । डॉ.

साहब कर्मको मानते हैं। ऐसी अवस्थामें गुरुका कथन ठीक माना जाय, ग्रंथकारका कथन ठीक माना या डॉ. साहबका (शिष्यका) कथन ठीक माना जाय।

आगे " ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता " ऐसा जो श्री कानजीभाई का कथन उद्धृत किया है उस विषयमें प्रश्न उपस्थित होता है कि ' ज्ञायकभावके आश्रयसे पुरुषार्थ होता है ' इस वाक्यका अर्थ क्या समझा जाय ? ज्ञायकभावका आश्रय करनेसे ही पुरुषार्थ होता है क्या ? यदि ऐसा हो तो अन्यत्र पुरुषार्थका होना कैसे संभवनीय होगा ? ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे पुरुषार्थका होना और पर्यायिका क्रम टूटना इनमें कार्यकारणभावका संभव है क्या ?

आगे पृ. ५८ पर पं जीने कहा है कि– " उक्त कथनों से स्पष्ट है कि गोम्मटसारमें एकान्तों के कथनमें जो नियतवादी मिथ्यादृष्टिका कथन है उसका क्रमबद्धपर्यायसे कोई साम्य नहीं है। नियनिवादी जैसी स्वच्छन्दताका पोषण क्रमबद्धपर्यायमें कदापि नहीं है। " " सब कुऊ सहज हो रहा है और रहेगा " (पृ. ५०) इस वाक्यसे एकान्तनियतिवादका ही प्रतिपादन किया जा रहा है यह स्पष्ट हो जाता है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानना और उसका अभाव मानना एक ही बात है। निमित्तका अभाव माननेसे पुरुषार्थका भी अभाव मानना ही पडता है। " सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा " इस वाक्यसे पं. जी निमित्तको और पुरुषार्थको स्वीकार नहीं कर रहे हैं। पं. जी की इस मान्यतासे वे निर्हेतुकी नियतिका प्रतिपादन कर रहे हैं यह स्पष्ट हो जाता हैं। इस कथनसे ही स्वच्छंदताका प्रादु-

भाव होता है और हो रहा है। श्री कानजीभाईके भक्तों की स्वच्छन्दता म्हैसाणा स्टेशनपर मैनें स्वयं अपने आंखोसे देखी है। सारांश, गोम्मटसारकी एकान्त नियति और श्री कानजी भाई की नियति ऐकान्तिकताकी दृष्टिसे समान हैं, उनमें भेद नहीं है। अतः क्रमबद्धपर्यायमें स्वच्छंदताका पोषण नहीं है यह कथन लोकवंचक है। इससे श्री कानजीभाईकी एकान्तवादिताकी ही सिद्धि होती है, अनेकान्तवादिताकी नहीं।

पृ. ५९ पर लिखा है कि– " इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आप कुछ भी कहो, पर क्रमबद्धपर्यायका सिद्धान्त लगता तो कुछ एकान्तसा ही है ?

भाई ! आपके लगने को अब हम क्या कहें ? जब अनेक आगमप्रमाणों और युक्तियों से स्पष्ट कर दिया तब भी यदि आपको एकान्तसा लगता है तो हम क्या करें ? हम तो आपके सामने युक्तियां और आगम ही रख सकते है, अनुभव तो करा नहीं सकते।"

पं. जीने जितने भी प्रमाण क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धि करनेके लिए पेश किये है उनपर मंने अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रथम प्रमाणगत क्रमनियमित शब्दका अर्थ क्रमबद्ध ऐसा जो किया है वह गलत है इस अभिप्रायको उस प्रमाणपर विचार व्यक्त करतेसमय व्यक्त कर दिया है। निमित्तके और पौरुषके अभावमें कार्यकी–पर्यायकी उत्पत्ति होती है इस बातका समर्थक एक भी प्रमाण पं. जीने पेश नहीं किया है, प्रत्युत 'सब कुछ सहज ही होता है और होता रहेगा' इस वाक्यके द्वारा निमित्त

और पौरुषके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा अपना अभिप्राय व्यक्त करके, आगमका विरोध करके स्वाभिमत क्रम-बद्धपर्याय की सिद्धि करनेका प्रयत्न कर निर्हेतुकी नियतिकी सिद्धि करनेका प्रयत्न किया है। उनकी युक्तियां भी पोंच हैं।

क्रमबद्धपर्याय का प्रचार करना मिथ्यात्वका प्रचार करना है इसमें संदेह नहीं। मैं फिरसे पूंछना चाहता हूं कि यदि क्रम-नियमितपर्याय और क्रमबद्धपर्याय एकार्थक हैं तो 'क्रमनियमि-तपर्याय' इस शब्दका प्रयोग क्यों नहीं किया? आपने 'क्रम-बद्धपर्याय' इस शब्दका ही प्रयोग क्यों किया? 'क्रमनियमित' इस शब्दका प्रयोग करनेमें क्या हानि थी? 'क्रमबद्धपर्याय' शब्दका प्रयोग करनेमें कौनसा लाभ था? पंचकारणसमवाय की सिद्धिके लिये दिगंबर आगमोंके प्रमाण क्यों नही पेश किये? 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' इस आचार्य समन्तभद्रके वचनको और 'न जातु रागादिनिमित्तभावं' इस आचार्य अमृतचंद्रके कलशको क्यों नहीं उद्धृत किया? अपने अभिप्रायके समर्थनमें आचार्य भगवान कुंदकुंदकी एक भी गाथा आपने क्यों नहीं पेश की?

पृष्ठ ५९ पर प्रश्नोत्तररूपसे लिखा है कि– "क्या कहा, मिथ्या एकान्त नहीं हैं? हां! हां! सम्यगेकान्त तो वह है ही।"

यहां एकान्तके द्वैविध्यकी सिद्धि करनेवाला शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता है–

"एकान्तो द्विविधः– सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपि द्विविधः– सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति।

तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः। तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम् ॥" (राजवार्तिक, अ. १, सू. ६, वा. ७)

अर्थ– सम्यगेकान्त और मिथ्यैकान्त इस प्रकार एकान्त दो प्रकारका है। अनेकान्त भी सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त इस प्रकार दो प्रकारका है। उनमें सम्यगेकान्त हेतुविशेषकी सामर्थ्यकी अपेक्षा रखनेवाला प्रमाणप्ररूपित अर्थके एकदेशका कथन करनेवाला होता है। एक धर्मका अवधारण करके अन्य अशेष धर्मोंका निराकरण करनेमें लगा हुआ परिणाम मिथ्या एकान्त है। एक वस्तुमें प्रतिपक्षी अनेक धर्मोंके स्वरूपोंका निरूपण करनेवाला युक्ति और आगमसे जो विरुद्ध नहीं होता वह सम्यगनेकान्त होता है। जिसमें तत्स्वभाववाली और अतत्स्वभाववाली वस्तुका अभाव होता है, जिसमें अनेकधर्मोंकी कल्पना की हुई होती है ऐसा जो केवल वाग्विज्ञान वह मिथ्या अनेकान्त होता है। उनमें सम्यगेकान्त नय कहा जाता है। सम्यगनेकान्त प्रमाण कहा जाता है।

इस उद्धरणको आंखों के सामने रखकर पं. जीको क्रमबद्धपर्याय सम्यगेकान्तरूप कैसे है यह सिद्ध करना होगा। मेरी दृष्टिमें यह मिथ्यैकान्त है। सम्यगेकान्त नयरूप है। यह क्रमबद्धपर्याय सम्यगेकान्तरूप हो तो वह नयरूप है। नयरूप होनेसे

वह अन्यनयसापेक्ष होना चाहिये । आचार्य भगवान समन्तभद्र–स्वामीने कहा है कि– 'निरपेक्षा नया मिथ्या' और 'य एव नित्यक्षणिकादयो मिथोनपेक्षा स्वपरप्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परपेक्षा स्वपरोपकारिणः ॥' इन वच–नोंका अभिप्राय यह है कि अन्यनयनिरपेक्षनय मिथ्यानय कहा जाता है। अन्यनयसापेक्षनय ही नय–सम्यगेकान्त कहा जाता है। अतः 'क्रमबद्धपर्याय यदि सम्यगेकान्त है तो वह कौनसे अन्य नयकी अपेक्षासे सम्यगेकान्तका रूप धारण करता है? इस प्रश्नका समाधान करनेकी जिम्मेदारी पं. जी की है। मेरी दृष्टिमें क्रमबद्धपर्याय की सम्यगेकान्तरूपताकी सिद्धि करनेवाला अन्यनय है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि इस नयकी सप्तभंगी कैसे बन सकती है? 'स्यात् क्रमबद्धपर्यायोऽस्ति' यह प्रथमभंग तो ठिक है; किंतु 'स्यात्क्रमबद्धपर्यायो नास्ति' इस प्रकारके द्वितीयभंग की सिद्धि किस प्रकार की जा सकती है? द्रव्यगत अनेकगुणोंमेंसे एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होती है, अनेक पर्यायें नहीं होती और वह अपनी पूर्वपर्यायके अनन्तरो–त्तर समयमें और अपनी उत्तरपर्यायके अनन्तरपूर्वसमयमें उत्पन्न होनेवाली होनेसे क्रमविवर्ती अवश्य है। जिससमय एक गुणकी अपनी पर्यायके रूपसे परिणति होती है उस समय द्रव्यगत अन्य गुणोंकी परिणतियां होती नहीं ऐसा नहीं है। उस समय गुणों की भी अपनी पर्यायोंके रूपसे परिणतियां होती हैं। इस दृष्टिसे एक गुणकी एक पर्याय अन्यगुणोंकी अपनी अपनी पर्यायोंकी उत्प-त्तिके होनेसे साथ साथ उत्पन्न होनेवाली वह द्रव्यगत एक गुणकी एक पर्याय अक्रमविवर्तिनी–युगपत्प्रवृत्त भी होती है। अतः 'पर्यायः स्यात्क्रमविवर्ती अस्ति' इस प्रथमभंगके समान 'पर्यायः

स्यात्क्रमविवर्ती नास्ति ('स्यादक्रमविवर्ती अस्ति') इसप्रकार द्वितीय भंगकी सिद्धि हो जाती है। प्रथम और द्वितीय भंगकी सिद्धि हो जानेसे शेष पांच भंगोंकी सिद्धि हो जाती है। पं. जी जबतक पर्यायकी अक्रमविवर्तितताको नहीं मानते तबतक ये स्वाभिमत क्रमबद्धपर्याय की सम्यगेकान्तरूपताकी और उक्त नयसप्तभंगी की सिद्धि नहीं कर सकते हैं ऐसा निश्चितरूपसे लगता है। पं. जी समर्थ विद्वान होनेसे मेरे इस आक्षेपका युक्ति और आगमप्रमाण के द्वारा परिहार करेंगे ऐसी आशा है। अतः 'हाँ! हां! सम्यगेकान्त तो वह है ही!' यह वाक्य क्रमबद्धपर्याय की सम्यगेकान्तताकी सप्रमाण सिद्धि करनेके बाद लिखते तो अच्छा होता।

पृ. ५३ पर आगे लिखा है कि– "जैनदर्शन अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार करता है। यद्यपि जैनधर्म अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी माने तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैनदर्शनमें अनेकान्तमें भी अनेकान्तको स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी है। यह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है इसीका नाम अनेकान्तमें अनेकान्त है। कहा भी है:–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है; क्यों कि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु

अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नयकी अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।

जैनदर्शनके अनुसार एकान्त भी दो प्रकारका होता है और अनेकान्त भी दो प्रकारका। यथा सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त, सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या-एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक्-एकान्त है तथा सापेक्ष नयोंका समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयोंका समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है।"

इस कथनपर विचार करनेके पहले एक प्रमाण पेश करता हूं। देखिए–

"पर्यायार्थादेशाद्धि भवनजीवनयोः पर्याययोरस्तिजीव-शब्दाभ्यां वाच्ययोः प्रतीतिविशिष्टतया प्रतीतेर्भेदः, द्रव्यार्था-देशात्तु तयोर्व्यतिरेकादेकतरस्य ग्रहणेनान्यतरस्य ग्रहणादभेदः प्रतिभासत इति न विरोधः संशयो वा तथा निश्चयात्। तत एव न संकरो व्यतिकरो वा, येनरूपेण जीवस्यास्तित्वं तेनैव नास्तित्वानिष्टेः येन च नास्तित्वं तेनैवास्तित्वानुपगमात् तदु-भयस्याप्युभयात्मकत्वानास्थानाच्च। न चैवमेकान्तोपगमे कश्चि-द्दोषः सुनयार्पितस्यैकांतस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणार्पि-तस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धेः। येनात्मनाऽनेकान्तस्तेनात्मना-नेकांत एवेत्येकांतानुषंगोऽपि नानिष्टः प्रमाणसाधनस्यैवानेका-न्तत्वसिद्धेः नयसाधनस्यैकान्तत्वव्यवस्थितेरेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात्॥ तदुक्तं–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।।इति।।

न चैवमनवस्थानेकान्तस्यैकान्तापेक्षित्वेनैवानेकांतत्वव्यवस्थितेः एकान्तस्यानेकान्तापेक्षितयैवैकांतत्वव्यवस्थानात् । न चेत्थमन्योन्याश्रयणं स्वरूपेणानेकान्तस्य वस्तुनः प्रसिद्धत्वेनैकान्तानपेक्षत्वादेकान्तस्यापि अनेकान्तानपेक्षत्वात् । तत एव तयोरविनाभावस्यान्योन्याश्रयापेक्षया (प्रसिद्धेः) प्रसिद्धिः, कारक ज्ञापकादिविशेषवत् । तदुक्तम्–

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं, स्वतोह्येतत्कारकज्ञापकाङ्गवत् ।।इति।।"

(श्लो. वा., पृ. १३९–१४०)

अर्थ– अस्तिशब्दके द्वारा वाच्य भवनपर्याय और जीवशब्दके द्वारा वाच्य जीवनपर्याय इन दोनों पर्यायोंमें उनकी प्रतीतियोंकी विशिष्टरूपसे प्रतीति होनेके कारण पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे भेद है, किंतु द्रव्यार्थिकनयकी उन दोनोंमें अर्थात् भवनपर्याय और जीवनपर्याय इनमें भेद न होनेसे दोनों (पर्यायों) में से एक पर्यायको ग्रहण करनेसे अन्य पर्यायका ग्रहण हो जानेसे अर्थात् भवनपर्यायको ग्रहण करनेसे जीवनपर्यायका ग्रहण हो जानेसे और जीवन- पर्यायको ग्रहण करनेसे भवनपर्यायका ग्रहण हो जानेसे अभेद प्रतिभासित हो जानेके कारण न विरोध है और न संशय है; क्यों कि उन दोनोंमें इसप्रकार अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भवनपर्याय और

जीवनपर्याय इनमें भेदका और द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे अभेदका निश्चय हो जाता है। उसी कारणसे अर्थात् भवन-जीवनपर्यायोंमें भेद और अभेदका निश्चय हो जानेके कारणसे ही न संकर है और न व्यतिकर है; क्यों कि जिस रूपसे अर्थात् जिस स्वरूपचतुष्टयसे जीवका अस्तित्व होता है उस रूपसे ही अर्थात् उस स्वरूपचतुष्टयसे ही जीवका नास्तित्व इष्ट (अभिप्रेत) नहीं है, जिस रूपसे अर्थात् पररूपचतुष्टयसे जीवका नास्तित्व होता है उस रूपसे ही अर्थात् उस पररूपचतुष्टयसे ही जीवके अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया गया है और उन दोनोंको अर्थात् भेद-अभेद को भी नहीं माना गया है। इस प्रकार जिस स्वरूपादिचतुष्टयसे जीवका अस्तित्व होता है उसी स्वरूपचतुष्टयसे ही उसका अस्तित्व ही होता है और जिस पररूपादिचतुष्टयसे उसका नास्तित्व होता है उस ही पर-रूपादिचतुष्टयसे उसका नास्तित्व ही होता है इस प्रकारके एकान्त को स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है; क्यों कि सुनयके अर्थात् सापेक्ष नयके द्वारा जिसे प्राधान्य प्राप्त कराया है अर्थात् जो विवक्षित किया गया है ऐसे एकान्त की समीचीनरूपसे-अच्छे प्रकारसे सिद्धि हो गयी होनेसे जिसे प्रमाणके द्वारा प्राधान्य प्राप्त कराया गया है अर्थात् प्रमाणके द्वारा जो विवक्षित किया गया है ऐसे अस्तित्वानेकान्तकी सिद्धि हो गयी है। जिस रूपसे अनेकान्त है उस रूपसे अनेकान्त ही है इसप्रकारके एकान्त का प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है-इष्ट ही है; क्यों कि जिसकी सिद्धि प्रमाणके द्वारा की जाती है उसके अनेकान्तत्व की सिद्धि हो जानेसे, नयके द्वारा जिसकी सिद्धि की जाती है उसके एकान्तत्व की सिद्धि हो जानेसे अनेकान्त भी अनेकान्त ही है

अर्थात् अनेकान्त अनेकधर्मवाला होता है ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है। कहा है कि–

'प्रमाणसाधन और नयसाधन अनेकान्त भी (प्रमाण-साधनत्व अर्थात् अनेकान्तत्व और नयसाधनत्व अर्थात् एकान्तत्व इन धर्मोंसे युक्त होनेके कारण) अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मात्मक होना है और विवक्षित नयसे उसमें (अनेकान्तमें) एकान्त निर्णीत होता है।'

अनेकान्त भी अनेकान्त होता है इसप्रकार कहनेसे अनवस्थानामक दोष नहीं आता; क्योंकि अनेकान्तके एकान्तकी अपेक्षितासे ही अनेकान्तत्व की सिद्धि होती है अर्थात् वस्तुका अनेकान्त–वस्तुके अनेक धर्मोंका समूह वस्तुके अनेक एकान्तोंकी अपेक्षा करनेवाला होनेसे वस्तुके अनेकान्तत्वकी सिद्धि हो जाती है इसकारण अनेकान्तकी अपेक्षा करनेवाला होनेसे एकान्तके एकान्तत्वकी सिद्धि होती है। अनेकान्तके अनेकान्तत्वकी सिद्धि एकान्तोंकी अपेक्षा करनेसे होती है और एकान्तके एकान्तत्वकी सिद्धि अनेकान्तकी अपेक्षा करनेसे होती है ऐसा माननेसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता; क्यों कि अनेकान्त अर्थात् अनेकधर्मात्मक वस्तुकी स्वरूपसे-स्वभावसे सिद्धि होनेसे उनके एकान्तकी अपेक्षा नहीं होती और एकान्तके भी अनेकान्तकी अपेक्षा नहीं होती। अन्योन्याश्रयदोष न आनेके कारण ही उन दोनों में अर्थात् अनेकान्त और एकान्तमें एक दूसरेके आश्रयकी अपेक्षासे कारक और ज्ञापक आदिके विशेषों के समान अविनाभावकी सिद्धि होती है। (अनेकान्त और एकान्त एकदूसरेकी अपेक्षा सर्वथा नहीं करते, कथंचित् अर्थात् व्यवहारमें अपेक्षा

करते हैं।) कहा है कि– 'धर्म और धर्मीका अर्थात् गुण और गुणीका अविनाभाव एक दूसरे की अपेक्षासे ही सिद्ध होता है, धर्म और धर्मीका स्वरूप एकदूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध नहीं होता। कारकके और ज्ञापकके अवयवों के समान धर्म और धर्मीका यह स्वरूप स्वतः सिद्ध हुआ होता है।"

अष्टशतीके इस ७५ वी कारिकाका खुलासा–

'गुणरूप धर्म और गुणिरूप धर्मी का स्वरूप धर्म और धर्मीकी विवक्षाके पूर्व ही सिद्ध हुआ होता है अर्थात् स्वरूपकी सिद्धि होनेके बाद धर्म और धर्मीकी विवक्षा होती है। विवक्षित धर्म और धर्मी इनमें होनेवाली एक दूसरेकी अपेक्षासे ही अवि–नाभावकी सिद्धि होती है। इस विषयमें कारकांग और ज्ञाप–कांग का दृष्टान्त पेश किया गया है। कर्ता और कर्म ये दोनों कारक के अवयव होनेसे कारकांग कहे जाते हैं और बोध्य और बोधक ये दोनों ज्ञापक के अवयव होनेसे ज्ञापकांग कहे जाते हैं। कर्ताका स्वरूप कर्मकी अपेक्षा नहीं करता और कर्मका स्वरूप कर्ताकी अपेक्षा नहीं करता। यदि कर्ताका स्वरूप और कर्मका स्वरूप क्रमशः कर्म की और कर्ताकी अपेक्षासहित होता हो तो दोनों का अभाव हो जानेका प्रसंग खडा हो जाता है। कर्तृत्व–व्यवहार और कर्मत्वव्यवहार एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं। कर्तृत्वका ज्ञान कर्मका निश्चय करनेपर होता है और कर्मत्व का ज्ञान भी कर्ताका निश्चय करनेपर होता है। अतः कर्तृत्व–व्यवहार और कर्मत्वव्यवहार एकदूसरे की अपेक्षासे होता है। इसी कारण कर्तृव्यवहार और कर्मव्यवहारमें अविनाभावकी सिद्धि होती है। इससे अभिप्रेत बातकी सिद्धि हो जानेसे ज्ञाप–

कांगदृष्टान्तका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता महसूस नहीं होती।'

इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है कि– अनेकधर्मसमूहात्मक अनेकान्त अनेकधर्मसमूहात्मक अनेकान्त ही है यह एकान्त इष्ट ही है। यह एकान्त इष्ट न हो तो अनेकान्तकी अनेकधर्मसमू–त्मकता नष्ट होकर एकधर्मरूप एकान्त की ही अर्थापत्तिसे सिद्धि हो जायगी और अनेकान्त का अभाव हो जायगा। यह एकान्त सम्यगेकान्तही है क्यों कि वह एकधर्मात्मक एकान्त की अपेक्षा रखता है। यह एकान्तरूप नय अन्य एकान्तरूप नयकी अपेक्षा करनेवाला होनेसे सम्यगेकान्त है। इस प्रकार एकान्त भी अनेकान्तकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे सम्यगेकान्त है। सारांश, ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष होनेसे अर्थात् अन्योन्यनि–रपेक्ष न होनेसे समीचीन हैं, स्वपरोपकारक हैं। जैनदर्शन वस्तुको सर्वथा अनेकान्त ही मानना है, वह वस्तुको एकान्त नहीं मानता। वस्तु अनेकधर्मोंके समूहसे युक्त होनेसे अनेकान्त है। अतः अनेकान्त अनेक एकान्तोंका समूहरूप है। अतः जैन सर्वथा अनेकान्तवादी ही है। अनेकान्त अनेकान्त ही है यह एकान्त इष्ट ही हैं; क्यों कि वह अन्यनय सापेक्ष होनेसे सम्य–गेकान्त है। यह सम्यगेकान्त अनिष्ट नहीं है; क्यों कि वह आप-त्तिजनक नहीं है। एकान्तकी आपत्तिका परिहार करनेके लिए जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तको अनेकान्त नहीं माना है। अनेकान्त प्रमाणसाधनत्व और नयसाधनत्व इन दो धर्मोंसे युक्त होनेसे उस अनेकान्त को अनेकान्त कहा है। 'सम्यगेकान्त नय है और सम्यग-नेकान्तप्रमाण' (क्र. म. पृ. ६०) इस वाक्यको लेकर मैं पूछता हूं

कि यह नय जब सापेक्ष होनेपर ही समीचीन नय कहा जाता है तब क्रमबद्धपर्याय यदि सम्यगेकान्तरूप समीचीन नय है तब वह कौनसे अन्य समीचीन नयकी अपेक्षा रखता है? जबतक अन्य अपेक्षित नय नहीं बताया जाता तब तक वह क्रमबद्धपर्यायरूप नय मिथ्या नय ही कहा जायगा।

अनेकान्तविषयक अपने मन्तव्यके समर्थनमें डॉक्टरसाहबने राजवार्तिक की जिन पंक्तियोंका स्व. पं. महेन्द्रकुमारन्यायाचार्य-कृत जो अनुवाद पेश किया है उसको उद्धृत करके उसपर विचार किया जाता है। " अनेकान्त में अनेकान्तकी सिद्धि करते हुए आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं –

' यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाय और एकान्तका सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यगेकान्तके अभावमें, शाखादिके अभावमें वृक्षके अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत ज्ञेयका भी लोप होनेसे सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होगा ॥ ' "

अब राजवार्तिककी पंक्तियाँ पेश की जाती हैं। देखिए–

" **यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत् एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि चैकान्त एव स्यात् तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात्।** "

मस्पष्टीकरण अर्थ- ' यदि अनेकान्त अनेकान्त ही है, एकान्त नहीं है तो एकान्तका अभाव हो जानेके कारण एकान्तोंके समूहरूप उसका भी अर्थात् अनेकान्तका भी अभाव हो हो जायगा, जैसे शाखा आदिका अभाव हो जानेपर वृक्षादिका अभाव हो जाता है । ' स्पष्टीकरण- यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना गया और ' अनेकान्त अनेकान्त ही है ' यह एकान्त स्वीकार नहीं किया गया तो अनेकधर्मसमूहात्मक अनेकान्तका अभाव हो जायगा; क्यों कि ' अनेकान्त अनेकधर्मात्मक ही है ' इस एकान्तको न माननेसे उसकी अनेकधर्मात्मकता नष्ट हो जायगी अर्थात् एकधर्मात्मकता की सिद्धि हो जायगी । ' एकान्ताभावात् ' इस पंचम्यन्तपदका अर्थ " ' अनेकांत अनेकांत ही है ' ऐसे एकांत का अभाव हो जानेसे " ऐसा है । यही अर्थ आचार्य विद्यानंदजी को अभिप्रेत था। इस प्रकार के एकान्तका अभाव हो जानेसे अनेकधर्मोंके समूहका अभाव होकर शेष एक धर्म ही रहेगा और अनेकधर्मसमूहात्मक अनेकांतका ही अभाव हो जायगा । शाखादिकोंका अभाव होनेपर जिसप्रकार वृक्ष आदिका अभाव हो जाता है उसप्रकार अनेकधर्मोंका अभाव हो जानेसे अनेकान्तका अभाव हो जायगा । ' यदि एकान्त ही माना जाय तो उस एक धर्मके साथ जिनका अविनाभाव होता है उन शेष (अनेक) धर्मोंका निराकरण हो जानेपर उस (अविनाभावी) एक धर्मका लोप होनेपर सभी धर्मोंका लोप हो जायगा (अर्थात् वस्तुका ही लोप हो जायगा । ' यह वाक्य ऊपरके वाक्यका जो अर्थ किया है उसका समर्थन करता

है। ' अनेकान्त के अनेक धर्मोंमें से एक धर्म ही अवशिष्ट रह जाता है ' यह आपत्ति कैसे खडी हुई ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान ' अनेकान्त अनेकान्त–अनेकधर्मात्मक ही होता है ' इस एकान्त को न माना गया तो अनेक धर्मोंका अभाव होकर एक धर्म ही शेष रहेगा। यह उसका उत्तर है। एक धर्म और शेष धर्म इनमें अविनाभाव होनेसे शेष धर्मोंके अभाव के साथ उस एक धर्मका भी अभाव हो जानेसे सभी धर्मोंका अभाव हो जानेसे सर्व लोप हो जायगा–वस्तुका भी लोप हो जायगा। इससे आचार्य अकलंकदेवका कथन और आचार्य विद्यानंदका कथन इनमें भेद नहीं है–दोनोंके कथनोंका अभिप्राय एक ही है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजवार्तिक के वाक्यों का अर्थ ठीक नहीं है। आचार्य विद्यानंदकृत कथन–प्रतिपादन ही यथार्थ है– निर्दोष है और आचार्य अकलंकदेवके प्रतिपादन का स्पष्टीकरण करनेवाला है।

इसी प्रकरण में डॉक्टरसाहबने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २६१ वीं गाथा पेश की है। देखिए–

" जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥

जो वस्तु अनेकान्त है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्तरूप भी है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयों की अपेक्षा

एकान्तरूप है। बिना अपेक्षाके वस्तुका रूप नहीं देखा जा सकता है।" (पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्री) वस्तुका एकान्तत्व नयों की अपेक्षासे है इसका विरोध नहीं किया जा सकता। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि-श्रुतज्ञानरूप प्रमाणकी विषयभूत वस्तु अनेकान्त होती है ऐसा गाथाकारने जो कहा है वह वास्त-विक नहीं है क्या? वस्तु वस्तुतः अनेकान्त-अनेकधर्मात्मक होनेसे वह एकान्त अर्थात् एक धर्मात्मक कैसे हो सकती है? यदि एक धर्मात्मक नहीं हो सकती तो 'अनेकान्त अनेकान्त ही होता है' इस एकान्तको क्यों न स्वीकार किया जाय? यह एकान्त सापेक्ष होनेसे सम्यगेकान्तरूप ही है।

पृ. ५९-६० में पं. जीने क्रमबद्ध पर्याय को सम्यगेकान्त कहा है; किन्तु उसकी सम्यगेकान्तताकी सिद्धि नहीं की है। उसको सम्यगेकान्तरूप माननेमात्रसे उसके सम्यगेकान्तताकी सिद्धि नहीं हो सकती।

आगे पृ. ६१ पर पंडितजीने लिखा है कि- 'इस दृष्टिसे विचार करनेपर 'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्-नियतिवाद अर्थात् सम्यक् एकान्त है जो कि सम्यक् अनेकान्तकी विरोधी नहीं, अपितु पूरक है।'

पं. जी ने नियति को पांच कारणसमवायों में अन्तर्भूत किया है। अतः कार्यकी-पर्यायकी उत्पत्ति का नियति कारण है। क्रमबद्धपर्याय कार्य है। अब प्रश्न खडा होता है कि कार्य और कारण कैसे एक हो सकते हैं? कारण और कार्य में

पौर्वापर्य होनेसे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। सम्यक्नियतिवाद सम्यगेकान्तरूप है क्या? क्रमबद्धपर्याय की-सम्यक् नियतिवाद की सम्यगेकान्तता सिद्ध होनेपर ही सम्यक् अनेकान्तका विरोधी न होना सिद्ध हो सकता है।

घटोत्पत्तिमें कुम्हार निमित्तकारण है अर्थात् उसके योगोपयोग ही निमित्तकारण हैं। योगोपयोगके विना कुम्हारकी निमित्तकारणता बन ही नहीं सकती। ये योगोपयोग घटोत्पत्तिके अनुकूल होनेपर ही घटकी उत्पत्ति हो सकती है। यह योगोपयोग ही पुरुषार्थ है। निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करतासे अर्थात् उसके अभावसे पुरुषार्थका अभाव सिद्ध होता है। निमित्तके और पुरुषार्थके अभावमें कार्यकी-पर्यायकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्यों कि निमित्तके मिलनेपर ही कार्यरूपसे परिणत होना द्रव्यका स्वभाव है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे अर्थात् उसका कार्योत्पत्तिमें अभाव माननेसे जब कार्यकी-पर्यायकी उत्पत्ति हो हीन हीं सकती तब अनुत्पन्न पर्यायका क्रम नहीं बन सकता और अनुत्पन्न पर्यायका सम्यगेकान्तत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। जिसका अस्तित्व ही नहीं होता उसकी सम्यगेकान्तता कैसे सिद्ध हो सकती है? इसको निर्हेतुक नियति भी नहीं कह सकते; क्यों कि निर्हेतुक-नियतिवादी पर्यायका अस्तित्व मानता है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि- 'सम्यगनेकान्त अर्थात् श्रुतप्रमाणकी दृष्टीसे विचार करें तो कार्यकी सिद्धि अनेक

कारणोंसे अर्थात् पंचसमवायोंसे होती है; किंतु सम्यक्-एकान्त अर्थात् नयकी अपेक्षासे जिस समवाय की अपेक्षा कथन हो उससे कार्य हुआ कहा जाता है, अन्य समवाय उसमें गौण रहते हैं-उनका अभाव अपेक्षित नहीं होता।'

कार्यकी उत्पत्तिमें पंचकारणसमवायकी आवश्यकता दिगंबर जैनाचार्योंने बताई नहीं है, केवल दैव और पुरुषार्थको ही आवश्यक बताया है। जिनागममें जो नियतिशब्द पाया जाता है उससे पर्यायका, देशका, प्रकारका और कालका बोध होता है और पर्यायके कारणका-बद्धकर्मका बोध होता है। अतः देश, काल, प्रकार इनके स्वतंत्र उल्लेख की आवश्यकता नहीं होती। पंचकारणसमवायोंमें पुरुषार्थका संकलन नहीं किया गया है। पुरुषका अर्थात् ईश्वरका संकलन किया गया है। कार्योत्पत्तिमें ईश्वरका कर्तृत्व जिनागमसम्मत है क्या? प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें ईश्वरका कारणत्व आपको अभिप्रेत है क्या? यदि नहीं तो सम्मइसुत्तं की गाथाको आप प्रमाणभूत नहीं मान सकते। वस्तुतः समन्तभद्रादि महान् जैनाचार्योंने दैव और पुरुषार्थको कार्योत्पत्तिमें कारण माना है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि-'इस दृष्टीसे विचार करनेपर यद्यपि प्रत्येक कार्य श्रुतप्रमाण (सम्यक्-अनेकान्त) की अपेक्षा पंचसमवायोंसे ही होता है, तथापि नयकी अपेक्षा जिस समवायको मुख्य करके कथन किया जाता है उससे कार्य-सिद्धि हुई-वह कथन सम्यक् एकान्त होता है, मिथ्या एकान्त नहीं; क्योंकि उसमें अन्य समवाय गौण होते हैं, उनका अभाव नहीं होता।'

वस्तुके अनेक धर्मोंके समूहरूप अनेकान्त होता है। पांचों समवाय वस्तुके धर्मरूप हैं क्या? 'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुकथनं प्रमाणाधीनम्' इस वचनके अनुसार एकसमवायके ग्रहणसे शेष चारों समवायोंका ग्रहण होता है क्या? पांचों समवायोंमें अविनाभावसंबंध है क्या? यदि उनमें अविनाभाव न हो तो एक समवायके ग्रहणसे शेष चारों समवायोंका ग्रहण नहीं हो सकता। वस्तुके अनेक धर्मोंमें अविनाभाव होनेके कारण एक धर्मके ग्रहणसे शेष धर्मोंका ग्रहण हो जाता है। अनेकान्त प्रमाणसाधन होता है। जब पांचों समवाय वस्तुके धर्मरूप नहीं है और इसीकारण उनका एक दूसरेके साथ और वस्तुगत अनेक धर्मोंके साथ अविनाभाव नहीं है तब वे प्रमाणके विषय नहीं बन सकते अर्थात् सम्यगनेकान्त की अपेक्षासे उनपर विचार किया जाना असंभव है। अतः 'प्रत्येक कार्य सम्यक् अनेकान्त की अपेक्षा पंचसमवायोंसे ही होता हैं' यह कथन भ्रान्तिजनक और व्यर्थ है। एकान्त अर्थात् नय सम्यक् तब कहा जाता है जब वह अन्यनयसापेक्ष होता है। मुख्य समवायका शेष चार गौण समवायोंके साथ अविनाभाव न होनेसे कार्योत्पत्तिमें मुख्यसमवायके साथ शेष गौण चार समवायोंका कारणत्व नहीं बनता। अतः उक्त परिच्छेदके द्वारा जो कथन किया गया है वह व्यर्थ है। यदि पांचों समवायों में अविनाभाव होता तो उक्त कथन की सफलता सिद्ध हो जाती।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'प्रस्तुत प्रसंगमें कालकी अपेक्षा कथन करनेपर प्रत्येक कार्य स्वकाल (स्व–अवसर) में ही होता है–यह कहना सम्यक्–एकान्त होगा, मिथ्या–एकान्त

नहीं। क्यों कि इस कथनमें पुरुषार्थादि अन्य समवाय गौण हुए हैं। उनका अभीष्ट अभीष्ट नहीं है।

प्रत्येक कार्यका उत्पाद स्वकालमें होनेसे कालकी प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें कारणता की सिद्धि होती है क्या? जिस कालमें सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव होता है वह काल सात प्रकृतियोंके उपशमके समान सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण होता है क्या? जिस कालमें जीवका जन्म और मरण होता है वह काल बद्ध आयुकर्मके उदयके और बद्धायुके क्षयके समान जीवके जन्ममरण का कारण होता है क्या? यह काल कार्योत्पत्तिमें प्रेरक कारण होता है या उदासीनकारण होता है? प्रेरक कारण तो वह नहीं हो सकता; क्यों कि आगममें उसको उदासीनकारण माना गया है। प्रेरक हो तो उसको अन्यकारणोंकी अपेक्षा ही नहीं होगी। यदि कार्योत्पत्तिमें पांचों समवाय कारण होते हैं—उन पांच कारणोंके विना कार्यकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती तब उन पांचों कारणोंमें गौणमुख्यवस्था कैसे बन सकती है? जब पेडपर लगा हुआ आम पेडपर ही पकने लगता है तब उसकी पक्व होनेकी परिणतिक्रियामें दैव और पुरुषार्थ कारण होते हैं क्या? पुरुषप्रयत्नका नाम ही पुरुषार्थ है। पेडपर पक्व होनेकी क्रियारूप पर्यायकी उत्पत्तिमें पुरुषार्थका अभाव ही होता है। शुद्ध जीवकी अर्थपर्यायों की उत्पत्तिमें पुरुषार्थ कारण होता है क्या? इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें पांचों समवाय कारण होते हैं ऐसा कहना गलत है।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्यायका और उसके सम्यक्-एकान्तत्वका निराकरण हो जाता है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'एक कारण यह भी है कि सम्यक्–एकान्त और मिथ्या–एकान्तका भेद न जाननेवालों को क्रमबद्धपर्याय की बात एकान्तसी लगती है।'

मुझे इस बातका विश्वास है कि मैं सम्यक्–एकान्त और मिथ्या एकान्त को जाननेवाला हूं।। आपकी दृष्टीमें क्रमबद्ध–पर्यायका जो स्वरूप है उसकी दृष्टीसे मैं आपके क्रमबद्धपर्यायके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं कर सकता। जब उसका अस्तित्व नहीं बन सकता तब उसके एकान्तत्वकी और सम्यक्–एकान्तत्व की बात अपने आप उड़ जाती है। निमित्तको जो सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं वे निमित्त मिलनेपर ही उपादानभूत द्रव्य-की अपने कार्यके–पर्यायके रूपसे परिणत होनेके आगमोक्त और प्रतीतिसिद्ध स्वभावका ही विरोध करते हैं। इस स्वभावको न माननेवालोंके यहां कार्यकी–पर्यायकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जब पर्यायकी उत्पत्ति होना असंभव है तब उसकी सम्यगे–कान्तता की सिद्धि कैसे हो सकती है ? अत: मैं क्रमबद्धपर्यायका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं कर सकता हूं। अत: क्रमबद्धपर्यायके एकान्तत्वके सम्यक्त्वकी या मिथ्यात्वकी बात ही उड़ जाती है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'उक्त संदर्भमें मैं एक महत्वपूर्ण तथ्यकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि क्रमबद्धपर्यायमें आपको कालसंबंधी एकान्त ही क्यों लगता (नजर आता) है, क्षेत्रसंबंधी क्यों नहीं, भावसंबंधी क्यों नहीं, निमित्तसंबंधी क्यों नहीं ? जब क्रमबद्धपर्यायके स्पष्टीकरणमें स्पष्टरूपमें कहा गया है कि जिस द्रव्यकी जो

पर्याय, जिस क्षेत्रमें, जिस कालमें, जिस विधान, व जिस निमित्त से जैसी होनी होगी; उस द्रव्यकी वह पर्याय, उसी क्षेत्रमें, उसी कालमें, उसी विधानसे, व उसी निमित्तसे वैसी ही होगी।'

'उक्त व्याख्यामें कालके साथ द्रव्य, क्षेत्र, भाव, निमित्त व विधान भी निश्चित बताया गया है। फिर आपको कालकी नियमिततामें ही क्यों आशंका होती है, क्षेत्रादिकी नियमिततामें क्यों नही ?'

यहांपर ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि– जीवके पर्याय–की उत्पत्तिके कालका नियमन भगवान करते हैं क्या? यदि नहीं करते तो उसका नियमन कौन करता है? यदि कोई भी नही करता हो तो 'नियमित' इस शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है? यदि अपने आप नियमित होता है ऐसा कहना हो तो अहेतुक नियतिवादका प्रसंग खड़ा हो जाता है। अहेतुक–नियतिवादी मिथ्यादृष्टी होता है। वस्तुतः पर्यायोत्पत्तिके कालादिका नियामक कर्म होता है। श्रेणिककी नरकगतिको गमन करनेकी योग्यताका अर्थात् श्रेणिकके आत्मरूप द्रव्यका, उसके नरकरूप क्षेत्रका, उसके नरकगमनके काल का और नरकपर्यायका नियामक उसका कर्म ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रेणिकका बद्धकर्म ही उक्तप्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका नियामक हुआ था यह स्पष्ट हो जाता है। यदि श्रेणिक–की नारकी पर्यायके कारणभूत द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावका नियमन अपने आप हुआ था ऐसा माना तो सिद्धपर्यायके कारणभूत द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावका नियमन अपने आप क्यों नहीं हुआ था?

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावका नियमन अपने आप होता है ऐसा माननेसे जैनदर्शनसमर्थित कर्मसिद्धांत ही ठुकराया जाता है। कर्म निमित्त है। निमित्तको ठुकराना कर्मसिद्धान्तको ठुकराना है। कर्मसिद्धान्तको ठुकरानेवाला मिथ्यादृष्टी होता है, सम्यग्दृष्टी नहीं। क्रमबद्धपर्याय इस शब्दका प्रयोग करनेसे कर्मसिद्धान्त ही ठुकराया जाता है। जिसको क्रमबद्धपर्यायमें कालसंबंधी एकान्त लगता है वह क्रमबद्धपर्यायके संबंधमें साशंक है। जिसको कालकी नियमिततामें आशंका होती है उसको द्रव्य क्षेत्र और भाव इनके विषयमें भी आशंका उत्पन्न हुई होती है।

आगे पृ. ६२ पर लिखा है कि– ‘जैसे केवलज्ञान जीव को ही होगा, अजीवको नहीं, जीवमें भी भव्यजीव को ही होगा, अभव्यको नहीं–यह द्रव्यसंबंधी नियमितता है। क्या इसमें आपको एतराज है? इसीप्रकार केवलज्ञान क्षपकश्रेणीरूप ध्यान (विधी) से ही होगा तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके अभाव (निमित्त) पूर्वक ही होगा–यह विधान और निमित्तसंबंधी नियमितता है। क्या इसमें भी आपको कोई शंका है? यदि नहीं तो फिर कालसंबंधी नियमिततामें ही शंका क्यों? क्रमबद्धपर्यायमें अकेले कालको ही नियमित स्वीकार नहीं किया है; वरन् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और निमित्तको भी नियमित स्वीकार किया है’

केवलज्ञान का जीवको ही होना और भव्यजीवको ही होना नियमित नहीं है नियत हैं। केवलज्ञानके रूपसे परिणत होनेकी शक्ति जीवमें ही होती हैं, अजीवमें नहीं और उस ज्ञानके

रूपसे परिणत होनेकी शक्ति भव्यजीवमें ही होती है। यह शक्ति भव्यजीवमें अनादिसे विद्यमान है। वह कर्मावृत है। जैसे जैसे वीर्यान्तराय कर्म हटता जाता है वैसे वैसे वह अधिकाधिक प्रकट होती रहती है। क्या यह स्वाभाविकी शक्ति नियमित होती है? जब निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर माना जा रहा है तब वह उसका नियामक कैसे हो सकता है? स्वभाव नियत होता है। उसके नियामकका अभाव होनेसे वह नियमित नहीं है। क्या ध्यान क्षपकश्रेणीरूप होता है? आगमके अनुसार केवलज्ञानका आविर्भाव क्षपकश्रेण्यारूढ जीवके शुक्लध्यानविशेषसे होता है। यदि ध्यानको क्षपकश्रेणीरूप माना तो धर्म्यध्यानका ध्यानत्व नष्ट हो जायगा; क्योंकि धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थानतक ही होता है और आठवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतकके गुणस्थान क्षपकश्रेणीरूप होते हैं। 'केवलज्ञान-क्षपकश्रेणीरूप (१) ध्यान (विधी) से ही होगा तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके अभाव (निमित्त) पूर्वक ही होगा-यह विधान और निमित्तसंबंधी नियमितता है' यह कथन ठीक है; क्योंकि यह अभावावस्थापन्न कर्मरूपनिमित्तके द्वारा नियमित किया गया होता है। क्रमबद्धपर्यायमें कालसंबंधी नियमितताके विषयमें आशंका उत्पन्न होनेका कारण है निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताकी मान्यता। पर्यायोत्पत्तिके कालका नियामक नहीं होता। अत: पर्यायकी उत्पत्तिका काल नियमित नहीं माना जा सकता। नियामकके अभावमें नियमितता कैसे बन सकती है? पर्यायकी उत्पत्ति अनिमित्तक-अहेतुक होती है क्या? जब पर्यायका काल नियमित होता है उससमय उसके द्रव्यका, क्षेत्रका

और भावका भी नियमन हो जाता है। इस बातका खुलासा श्रेणिकके दृष्टांतके द्वारा किया गया है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा हैं कि– ' जब क्रमबद्धपर्यायमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निमित्त-सभी की नियमितता शामिल है तब फिर जिस कालमें होना होगा उसी कालमें होगा के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस द्रव्यका होना होगा, उसीका होगा; जिस क्षेत्रमें होना होगा, उसीमें होगा; जो होना होगा, वही होगा; जिस विधानसे होना होगा, उसीसे होगा; जिस निमित्तपूर्वक होना होगा, उसी निमित्तसे होगा ' ।

' जिस निमित्तपूर्वक होना होगा, उसी निमित्तसे होगा ' इस वाक्यसे निमित्तकी नियामकता सिद्ध हो जाती है और उसकी सर्वथा अकिंचित्करताका परिहार हो जाता है। पर्यायके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, विधान आदिका नियामक कर्मरूप निमित्त होनेसे द्रव्यादि सब नियमित होते हैं यह ठीक है, किंतु निमित्त की नियमितता नियामक के अभावमें असभव होनेसे निमित्तकी नियमितताका कारण कौन है– नियामक कौन है इस प्रकार की शंका खडी होती है। इस शंका का समाधान डॉक्टर-साहब करेंगे ऐसी आशा है। जब निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर है ऐसा आप मानते है तब निमित्तकी नियमितताको बताने का क्या प्रयोजन है? निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता के कारण जब पर्याय की उत्पत्ति होना ही असंभव है तब उसके कालादिक की नियमितताकी बातें करना व्यर्थ है।

स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा की ३२१-३२२ क्रमांककी गाथा-ओंमें पर्याय, द्रव्य, देश, विधान और कालका उल्लेख है। यह

उल्लेख जीवके जन्म और मरण संबंधी है। जीवका जन्म शुभ है और मरण अशुभ है। जन्म आयुकर्मोदयनिमित्तक है और मरण आयुकर्मक्षयनिमित्तक है। जीवके जन्मरूप पर्याय की उत्पत्तिमें जीवके बद्धायुका उदय निमित्तकारण-सहकारिकारण है और मरणरूप पर्यायकी उत्पत्तिमें जीवके बद्धायुका क्षय निमित्तकारण-सहकारिकारण है। कातिकेयानुप्रेक्षाकी ३१९ वीं गाथाका 'उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणइ' इस उत्तरार्ध के द्वारा बताया है कि 'जीवका उपकार और अपकार शुभाशुभकर्म ही करते हैं'। 'सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरण-जीवितदुःखसौख्यम्' इस कलशके द्वारा भी 'जीवके जनन, मरण, सुख और दुःखका निमित्तकर्ता उदयावस्थापन्न कर्म ही है' यह बताया गया है। क्या इन प्रमाणोंसे निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता की सिद्धि होती है? जब निमित्तके मिलनेपर ही अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होनेका उपादानभूत द्रव्यका स्वभाव ही है तब निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानना मन-मानी करना है-आगमका, वस्तुस्वभावका और प्रतीतिका विरोध करना है। निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करताकी सिद्धि करनेवाला शास्त्रीय प्रमाण, युक्ति और दृष्टान्त पेश करके आपके मन्तव्यकी आपको सिद्धि करनी चाहिये थी।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि - 'फिर कालपर ही ऐतराज क्यों? काल ही की नियमितता में बंधन की प्रतीति क्यों, अन्य मे क्यों नहीं? क्या कारण है कि अज्ञानी काल ही में शंकित होता है?'

भूतकालकी और वर्तमानकालकी पर्यायों का प्रश्न नहीं है। क्यों कि भूतकालकी पर्याय नष्ट हुई होती है और वर्तमान-कालकी पर्याय उत्पन्न हुई होती है। अतः प्रश्न भविष्यत्पर्यायका है। भविष्यकालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायके देश, काल, विधान भी बद्धकर्मनियमित होते हैं। वह पर्याय जिस कालमें उत्पन्न होनेवाली होती है वह काल पर्यायोत्पत्तिका निमित्तकारण हो सकता है क्या? यदि नहीं हो सकता है तो पर्यायोत्पत्तिमें काल की कारणता कैसे सिद्ध की जा सकती है? जिनागमके अनुसार कालद्रव्य अर्थपर्यायकी उत्पत्तिमें उदासीन कारण है। व्यंजन-पर्यायकी उत्पत्तिमें कारण नहीं है। आपकी दृष्टिसे पर्यायकी उत्पत्तिमें वह कुछ नहीं करता है। ऐसी अवस्थामें कार्योत्पत्तिमें काल की निमित्तकारणता कैसे सिद्ध करोगे? व्यंजनपर्याय की उत्पत्तिमें कालकी निमित्तता की सिद्धि करनी होगी। आप अर्थपर्याय को ही वास्तविक पर्याय मानते हों, व्यंजनपर्याय को नहीं। आप अर्थपर्याय की उत्पत्तिमें दैव को-कर्मको निमित्त-कारण मानते हों क्या? यदि मानते हों तो शुद्ध जीवकी कर्म-बद्धताको स्वीकार करना पडेगा। दूसरी बात यह है कि आप पर्यायसे अर्थपर्यायका ग्रहण कर रहे हैं। अर्थपर्यायरूपसे होनेवाली परिणतिको वर्तना कहते हैं और इस वर्तनामें मुख्यकाल-पर-मार्थकाल ही सहकारिकारण होता है, व्यवहारकाल नहीं। मुख्य-कालमें-परमार्थकालमें-निश्चयकालमें भूत, भावी और वर्तमान ये भेद गौण होते हैं। ये भेद व्यवहारकालमें मुख्य होते हैं। आप वस्तुतः अर्थपर्यायों के कारणभूत निश्चयकालको ही स्वीकार करते हों। ऐसी अवस्थामें आप व्यवहारकालको कैसे स्वीकार कर सकते हों? प्रकृत प्रकरणमें आपने व्यवहारकाल को और

व्यंजनपर्याय को भी स्वीकार किया है। इन्हीं कारणोंसे काल- पर एतराज है।

आगे पृ. ६३ पर लिखा है कि 'इसका कारण है अज्ञानी का उतावलापन। पर्याय की अचलताका ज्ञान न होनेसे अज्ञानी में एक प्रकारका उतावलापन पाया जाता है कि इतनी प्रतीक्षा कौन करे ? कार्य जल्दी होना चाहिये। जिसका सम्यग्दर्शन की प्राप्तिका काल दूर होता है, उसे कालकी नियमितता का विश्वास नहीं हो पाता।'

'लोकमें भी देखा जाता है जिसे किसी काम को होनेका काल समीप दिया जाता है—बताया जाता है, वह सहज स्वीकार कर लेता है ; पर जिसे लम्बा काल बताया जाता है या दिया जाता है तो उसे बदलवानेका यत्न करता है, उसे वह काल स्वीकार नहीं होता। उसीप्रकार जिसका आत्महितका काल दूर है, उसे कालका निश्चित होना सुहाता नहीं है। जिसे कालका निश्चित होना सुहाता नहीं है, समझना चाहिये कि उसका सत्य समझनेका काल अभी दूर है। उसमें कालको बद- लनेकी वृत्ति, उतावलापन बना ही रहता है। यह उतावलेपन की वृत्ति ही उसे यह स्वीकार नहीं करने देती कि जब होना होगा तब होगा।'

जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि पर्यायें हैं। इनकी उत्पत्तिमें कर्म कारण पड़ता है, काल नहीं। अतः जो ऐसी पर्यायों की उत्पत्तिमें काल को निमित्तकारण मानते हैं उनका ज्ञान आगम- विरुद्ध है, विसंवादी है। अतः यह अज्ञान है, ज्ञान नहीं। पं. जी

के मन्तव्यको जो नहीं मानते वे पं. जी की दृष्टिमें मिथ्यादृष्टि हैं ही किंतु जिनका सम्यक्त्वोत्पत्तिका काल समीप आया है वे पं. जी के मन्तव्यको माननेवाले होनेपर भी मिथ्यादष्टि हैं। जिनके सम्यक्त्वोत्पत्तिका काल समीप आया हुआ होता है, किंतु जिनके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ नहीं है वे पं. जी के मन्तव्य को माननेवाले मिथ्यादृष्टि ही हैं । पं. जी के मन्तव्य को माननेवाले मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इनमें क्या भेद है ? पं. जी के मंतव्य को न माननेवालों को पं. जी साफ साफ मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं कहते ? पं. जी के कहनेसे मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि नहीं होता और सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि नहीं होता। जीव की अवस्था किसीके कहनेसे नहीं बदलती। जीव की अवस्था का परिवर्तन उसके परिणामों के परिवर्तनपर अवलंबित होता है। अवस्था उत्पन्न होनेपर यह परिवर्तन नहीं हो सकता। मैं अज्ञानी हूं इस बात को स्वीकार करता हूं। मेरे द्वारा किये गये आक्षेपोंका सप्रमाण परिहार करके मेरे अज्ञानका नाश करनेमें पं. जी सहकारिकारण होंगे ऐसी आशा है। भविष्यत्कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायका ज्ञान केवली भगवान को होता है यह निश्चित है। इस पर्यायको जीव परिवर्तित नहीं कर सकता यह भी निश्चित है। पर्यायका परिवर्तन उसकी उत्पत्तिके पूर्व किया जाता है इस बातको भी केवली जानते हैं। जो घटनाएं होनेवाली होती हैं उनको भगवान जानते हैं, भगवान के जानने के कारण वे नहीं होती। कर्मनिमित्तक पर्यायोंके कर्मनियमित देश, काल और प्रकारको भगवान सिर्फ जानते हैं, वे उनका नियमन नहीं करते।

कर्मनियमित पर्यायकाल का निश्चित होना किसी को सुहाता न हो तो न हो। कर्मनियमित कालमें और क्षेत्रमें पर्याय की उत्पत्ति होकर ही रहेगी; क्यों कि भगवानके ज्ञानमें भावि-पर्याय के विशिष्ट काल और देश प्रतिभासित हुए होते हैं। निमित्त को सर्वथा और सर्वत्र अकिंचित्कर बताना पुरुषार्थ का लोप करना ही है। जो परिणाम प्रायोगिक होते हैं उनकी उत्पत्तिमें पुरुषार्थ की नितान्त आवश्यकता होती है और जो परिणाम वैस्रसिक होते हैं उनकी उत्पत्तिमें पुरुषार्थ का अभाव होता है। यह पुरुषार्थ पुरुषप्रयत्नरूप होता है और पुरुषप्रयत्न जीवके योगोपयोगरूप होता है। अतः निमित्तको सर्वथा और सर्वदा अकिंचित्कर मानना पुरुषार्थ का लोप करना है।

पृ. ६४ पर पं. जीने पक्षव्यामोह उतावलेपन का एक कारण है ऐसा जो कहा है वह ठीक ही है। यह पक्षव्यामोह आगमप्रमाणों को छिपानेका, उनका विपर्यस्त अर्थ करनेका और लोगों की आंखोमें धूल झोंकनेका कारण होता है। पक्षव्यामोह के कारण आगमविषयों का निर्णय नहीं होता। पक्षव्यामोह अपने मंतव्य के प्रतिकूल कथनका परिवर्तन करनेका भी कारण होता है। पक्षव्यामोह क्या नहीं कराता ?

पृ. ६५ पर पं. जीने लिखा है कि 'क्रमबद्धपर्यायमें यदि कुछ लोगों को नियतवाद का एकान्त नजर आता है तो कतिपय मनीषी इसे एकान्त भाग्यवादी दृष्टिकोण मानते हैं। उनकी दृष्टिमें नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय और दैववाद में कोई अन्तर नहीं है, क्यों कि जो होना है सो होगा —ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है। उनके अनुसार कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक का कथन सार्वभौमिक सत्य नहीं है।'

पं. जी ने पृ. ५० पर ' सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा ' इस वाक्य के द्वारा और इस आशयको व्यक्त करनेवाले अन्य वाक्यके द्वारा निमित्तको सर्वथा उडा दिया है। उसीप्रकार क्रमबद्धशब्दका प्रयोग करके भी निमित्तको उडा दिया है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर बताकर भी उडा दिया है। पर्यायोत्पत्तिमें उसके देश, काल और प्रकार की निमित्तनियमितता को उडा देकर पर्याय की देश, काल और विधान की नियमितता को जो पं. जी द्वारा बताया गया है उससे अहेतुक नियतिवादरूप मिथ्या एकान्तकी सिद्धि हो जाती है। इसीकारण क्रमबद्धपर्यायमें नियतिवाद का एकान्त नजर आता है। कर्मरूपनिमित्तको उडा देनेके कारण क्रमबद्धपर्यायमें भाग्यवाद का एकान्त नजर नहीं आ सकता। निमित्तको सर्वथा उडा देनेके कारण ही ' जो होना है सो होगा' – ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है। पांच समवायोंमें पुरुषार्थका ग्रहण न होकर पुरुष (ईश्वर) का जो ग्रहण है उससे भी पुरुषार्थहीनताकी सिद्धि हो जाती है। उनके अनुसार कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ से ३२३ तक का कथन सार्वभौमिक सत्य नहीं है' यह जो पं. जीने प्रत्याक्षेप किया है वह व्यर्थ है। निमित्तके अभावमें जन्मरूप और मरणरूप पर्यायों के देश, काल और विधान की नियमितता का असंभव होनेपर भी नियमितता होती है ऐसा जो विधान पं. जीने किया है उसका विरोध किया जा रहा है। ३२१ से ३२३ तक की गाथाओं के द्वारा किये गये कथनकी सार्वभौमिक सत्यता का विरोध नहीं किया गया है। वह कथन तो सर्वथा प्रमाण है। पं. जी ने स्वयं ' सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदया–

मरणजीवितदुःखसौख्यम्' (स. सा. कलश) इस आगम वचनका कर्मरूप निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करता का समर्थन करके विरोध किया है। क्या पं. जी अमृतचन्द्राचार्यके इस वचन को स्वीकार नहीं करेंगे ? पं. जीने इस कलश को स्वीकार न कर आचार्य कुंदकुंदस्वामी के समयसार की २५१ से २५६ तक की गाथाओंके कथन को ठुकराया है। क्या इसीका नाम सम्यक्त्व है-ज्ञानीपना है ? पं. जी के मायाकषायकी हद हो गयी।

इसी पृष्ठपर आगे पं. जी ने लिखा है कि – " इस सन्दर्भ में हम सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंदजी वाराणसी के विचार जो कि उन्होंने कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उक्त गाथाओंके भावार्थ में ही व्यक्त किये हैं उद्धृत करना चाहते हैं :–

"सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। जिस समय, जिस क्षेत्रमें, जिस वस्तुकी, जो पर्याय होनेवाली है, वही होती है उसे कोई नहीं टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। किन्तु उनके जान लेनेसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नहीं हुआ, बल्कि नियत होनेसे ही उन्होने उसरूप में जाना है।

जैसे—सर्वज्ञदेवनें हमें बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति-समय पूर्वपर्याय नष्ट होती है और उत्तरपर्याय उत्पन्न होती है। अत: पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायका उपादानकारण है और उत्तरपर्याय पूर्वपर्यायका कार्य है। इसलिये पूर्वपर्यायसे जो चाहे उत्तरपर्याय

उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तरपर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा माना न जायगा तो मिट्टीके पिण्डमें स्थास कोस पर्याय के विना भी घट पर्याय बन जायेगी। अतः यह मानना पडता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत है।

कुछ लोग इसे नियतवाद समझकर उसके भयसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं, किन्तु कालको नियत नहीं मानते। उनका कहना है कि पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत हैं, किंतु काल नियत नहीं है; कालको नियत माननेसे पौरुष व्यर्थ हो जायेगा।

किंतु उनका उक्त कथन सिद्धान्तविरुद्ध है; क्यों कि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि कालको अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर तो संसार परिभ्रमणका काल अर्द्धपुद्गल-परावर्तनसे अधिक शेष रहनेपर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और विना उस कालको पूरा किये ही मुक्ति हो जायगी। किन्तु यह सब बातें आगमविरुद्ध हैं। अतः कालको भी मानना ही पड़ता है।

रही पौरुष की व्यर्थता की आशंका, सो समयसे पहले किसी कामको पूरा कर लेनेसे ही पौरुषकी सार्थकता नहीं होती। किन्तु समयपर काम का हो जाना ही पौरुषकी सार्थकता का सूचक है। उदाहरणके लिए किसान योग्य समयपर गेहूं बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है, तभी समयपर पक कर गेहूं तैयार होता है। तो क्या किसानका पौरुष व्यर्थ कहलायेगा?

यदि वह पौरुष न करता तो समयपर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः कालकी नियततामें पौरुषके व्यर्थ होनेकी आशंका निर्मूल है।

अतः जिस समय, जिस द्रव्यकी, जो पर्याय होती है, वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि संपत्तिमें हर्ष और विपत्तिमें विषाद नहीं करता, और न सम्पत्तिकी प्राप्ति तथा विपत्तिको दूर करनेके लिए देवी-देवताओंके आगे गिड़गिड़ाता फिरता है।"

इस उद्धरणमें पं. कैलाशचंद्र जी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्यने नियत शब्दका प्रयोग किया है-नियमितशब्दका नहीं इसबातपर डॉक्टरसाहबको विचार करना चाहिये। इस उद्धरणमें पं. ने पूर्व-पर्याय को उत्तरपर्याय का जो उपादानकारण माना है उसके विषयमें मेरा विचार निम्नप्रकार है-यदि पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय का उपादानकारण माना गया और उत्तरपर्याय पूर्वपर्यायका उपादेय-रूप कार्य माना गया तो उत्तरपर्यायका उत्पाद पूर्वपर्यायके नाशसे होनेवाला होनेसे ध्रुव कौन होगा ? जो उपादानकारण होता है उसका पर्याय रूपसे परिणत होनेपर नाश नहीं होता, वह ध्रुव होता है। पूर्व पर्यायको उत्तरपर्यायका उपादान कारण माना तो वह ध्रुव होना चाहिये, उसका नाश नहीं होना चाहिये। जब उत्तरपर्याय का उत्पाद होता है तब पूर्वपर्यायका नाश होनेसे पूर्यपर्याय ध्रुव न होनेसे वह उत्तरपर्यायका कदापि उपादान नहीं हो सकती। जो उपादान होता है वह पर्यायी कहा जाता है, पर्याय नहीं कहा जाता। पूर्वपर्याय एकसाथ पर्यायी और पर्याय नहीं हो सकती। पूर्वपर्यायका नाश होकर उत्तर पर्यायका उत्पाद होते

समय पर्यायी द्रव्य ध्रुव होता है और पूर्वपर्याय उत्तर पर्यायका निमित्त होती है; क्यों कि पूर्वपर्याय विनाशावस्थापन्न होनेपर ही उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वोत्तरपर्यायोंमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है, उपादानो-पादेयभाव नहीं होता। उत्तरपर्यायका उत्पाद होते समय पूर्व-पर्यायको उपादानकारण माना तो वह पूर्वपर्याय और उसका उपादानभूत पर्यायी द्रव्य इन दोनोंको उत्तरपर्यायके उपादानभूत मानना होगा। पूर्वोत्तरपर्यायोंका उपादान एक ही द्रव्य होता है। पूर्वपर्यायको ही उपादान मानना हो तो उसीको ही ध्रुव मानना होगा; किंतु उसको ध्रुव नहीं माना जा सकता। उत्तर-पर्याय जिसप्रकार उपादानभूत द्रव्यकी कही जा सकती है उस-प्रकार पूर्वपर्याय की कही जा सकती है क्या? पूर्व पर्यायके नाशके विना जब उत्तरपर्याय उत्पन्न होती ही नहीं तब पूर्वपर्यायको ध्रुव नहीं माना जा सकता। जिसका नाश होता है वे वह ध्रुव कैसे हो सकती है? पर्याय त्रिलक्षण[1] होती है। ध्रुवके अभावको माननेसे क्षणभंगवादको स्वीकार करनेकी आपत्ति खडी हो जाती[2] है।

मिट्टीसे घटपर्याय की जब उत्पत्ति होती है तब जिस-प्रकार स्थास, कोस, कुसूलादि पर्यायपूर्वक घटकी उत्पत्ति होती है उसप्रकार मनुष्यपर्याय के बाद देवपर्याय की उत्पत्ति होते समय भी कार्मणशरीरसहितत्वादिरूप अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं यह क्रम भी ठीक है; किंतु क्रोधकषायात्मक

---

१)– देखिए–प्रवचनसार, अध्याय दूसरा। २)– समयसारके पूर्वभागमें (पृ. २५) मैंने यही भूल की है। इस भूलके लिए मैं क्षमायाचना करता हूं।

परिणामके बाद कौनसी पर्यायके उत्पादका क्रम निश्चित-नियत होता है ? मिट्टी और घटपर्याय इनमें होनेवाले स्थास, कोस, कूसूल इन पर्यायोंका क्रम तो हम जानते हैं ; किन्तु क्रोधका अन्तर्मुहूर्त काल बीत जानेपर कौनसी भी पर्यायके उत्पादका निश्चित क्रम हम नहीं जान सकते, सर्वज्ञ भगवान् अवश्य जानते हैं। पुद्गल इंद्रियगोचर होनेवाला होनेसे उसकी पर्यायों के क्रमको हम जान सकते हैं ; किंतु उसकी वैस्रसिक परिणतियों को हम जान सकते ही हैं ऐसा एकान्त नहीं है। हमारे शरीरमें होनेवाली परिणतियों को-पर्यायों को जानने की सामर्थ्य हमारेमें नहीं है। सर्वज्ञ भगवान तो उन्हें जानते हैं। पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय इनमें उपादानोपादेयभाव नहीं हो सकता। उनमें अविनाभाव होता है। क्रोधपर्याय और मानपर्याय इनमें न उपादानोपादेयभाव होता है और न निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। क्रोधकषायरूपपर्यायके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले मान-कषायका या मायाकषायका या लोभकषायका नियमन क्रोध-कषाय नहीं करता। मानादि द्रव्यकषायोंके उदयपर मानादि-भावकषायरूप जीवपरिणामकी-जीवपर्याय की उत्पत्ति अवलंबित होती है। यदि ऐसा न होता तो क्रोधादि द्रव्यकषायों का कार्य कौनसा होता ? क्या द्रव्यकषायों के उदयके अभावमें भाव-कषायों की उत्पत्ति होती है ? पूर्वपर्यायें और उत्तरपर्यायें इनमें उपादानोपादेयभाव होता है इस अभिप्राय का शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता तो अच्छा हो जाता। दूसरी बात यह है कि पर्यायी और पर्यायमें तादात्म्य होनेके कारण उपादानभूत पूर्वपर्यायरूप पर्यायी और उत्तरपर्याय इनमें तादात्म्य होना चाहिये; किंतु उनमें तादात्म्य होना असंभव है, क्यों कि पूर्व-

पर्यायके नाशके विना उत्तरपर्यायका उत्पाद न होनेसे विनष्ट हुई पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय इनमें उपादानोपादेयभाव का होना असंभव होनेसे पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी नियामिका नहीं हो सकती। इसप्रकार पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव भी नहीं होता। उनमें अविनाभाव होता है; क्यों कि विनाश को प्राप्त हुई पूर्वपर्याय के विना उत्तरपर्यायका उत्पाद नहीं होता। मिट्टी और घट इनके बीचमें होनेवाले स्थास, कोसादि पर्यायें होती हैं। स्थासपर्यायके विना कोस-पर्यायकी और कोसपर्यायके विना कुसूलपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती। अत: उनमें अविनाभावसंबंध है। स्थास-कोस-कुसूल-पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कुम्हाररूप जो सहकारिकारण होता है वही उन पर्यायोंका नियामक होती है। क्रोधादिकषायोंके बाद होनेवाली पर्यायका नियामक उदयापन्न कर्म होता है, क्रोधा-दिभावकषाय नहीं। नियामक उदयापन्न कर्म जीवपरिणामोंकी उत्पत्तिमें निमित्त-सहकारिकारण होता है। क्रोधादिभावकषाय-रूप पर्यायोंमें से कौनसी पर्याय कौनसी पर्यायका उपादान कारण होकर उसको नियंत्रित करती है? इस प्रश्नका उत्तर क्या है? अत: पूर्वोत्तरपर्यायोंमें उपादानोपादेयभाव का सद्भाव मानकर पूर्वपर्यायको उत्तरपर्याय की सर्वथा नियामिका नहीं मानी जा सकती। मृत्पिण्ड यह मृत्तिकाकी ही पर्याय है। क्या वह घट-पर्यायको ही या स्थासपर्यायको ही उत्पन्न करती है? मृत्पिण्डके अनन्तर उत्पन्न होनेवाली पर्याय की उत्पत्ति कुम्हारके योगोप-योगके अधीन नहीं है? क्या मृत्पिण्डके अनन्तर उत्पन्न होने-वाली स्थासादिपर्याय अपने आप उत्पन्न होती है? मृत्पिण्डरूप

पर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति करती है क्या ? जब कुम्हार मृत्पिण्डसे घटपर्यायकी उत्पत्तिका निमित्तकर्ता होता है तब वह स्थासकोसादिपर्यायोंका ही निमित्तकर्ता होता है। जब वह कुण्डपर्यायकी उत्पत्तिका निमित्तकर्ता होता है तब वह स्थास-कोसादिपर्यायोंका निमित्तकर्ता नहीं होता। अतः स्थासकोस-पर्यायके विना घटपर्यायकी उत्पत्ति होना असंभव है। प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत होता है इसमें संदेह नहीं; किंतु उनका नियामक निमित्त होता है। 'प्रत्येक द्रव्यमें **प्रतिसमय** पूर्वपर्याय नष्ट होती है और उत्तर-पर्याय उत्पन्न होती है' इस वाक्यसे पं. जी को अर्थपर्याय अभिप्रेत है या व्यंजनपर्याय अभिप्रेत है ऐशी शंका उत्पन्न होती है। 'प्रतिसमय' शब्द अर्थपर्याय को सूचित करता है और आगेका प्रतिपादन व्यंजनपर्यायविषयक होनेसे संदेह उत्पन्न होता है।

निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसको उड़ा देनेसे पर्यायके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी नियतता उड़ जाती है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मान कर भी पर्यायके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको नियत मानना अहेतुक नियतिवादरूप एका-न्तको मानना नहीं है तो क्या है ? निमित्तके अभावमें जब पर्याय की उत्पत्ति होना ही असंभव है तब अनुत्पद्यमान पर्यायके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की नियतता कैसी मानी जा सकती है ?

जब बद्धकर्मका उदयकाल नियत होता है तब कर्मोदय-निमित्तक पर्यायका उत्पादकाल भी नियत ही होता है। यह

कथन कर्मोदयकी अपेक्षासे किया गया है। जीवके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावोंका भी उत्पादकाल नियत होता है। इन भावोंके कालको नियत न मानना सिद्धान्तका विरोध करना है। काललब्धि नियमित होती है क्या ? यदि नियमित होती हो तो उसका नियामक कौन है ? भव्य जीव के मोक्षगमनकालके अर्धपुद्गलपरावर्तनकालपूर्व काललब्धि होती है। भरतचक्रवर्तीके सो पुत्र निगोदसे निकलकर इन्द्रगोपकी पर्यायके रूपसे परिणत होनेके बाद भरतेश्वर के पुत्रों की पर्यायोंको प्राप्त होकर मुक्त हो गये थे। उनकी काललब्धिका नियामक कारण कौनसा था ? काललब्धि से सम्यक्त्वकी प्राप्ति की जीवकी सिर्फ योग्यता व्यक्त होती है। काललब्धि पर्याय है क्या ? यदि पर्याय है तो उसका उपादान कौनसा द्रव्य है और सहकारिकारण भी कौन है ? इस प्रश्नका उत्तर सप्रमाण मिल गया तो बहुत अच्छा होगा। जीवके मोक्षकालके पूर्व अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल काललब्धि का निश्चित काल होनेसे अर्धपुद्गलपरावर्तनसे अधिक काल शेष रहनेपर भी सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी आपत्ति खडी नहीं होती। मेरी दृष्टि में मोक्षप्राप्तिके पूर्व अर्धपुद्गलपरावर्तनप्रमाणकालसे पहले काललब्धिका सद्भाव होना भव्य जीवका स्वभाव है; क्यों कि योग्यता जीवका भाव है, जो उससमय व्यक्त होता[1] है। पर्यायकालको द्रव्य, क्षेत्र और भावके समान नियत मानना अनिवार्य है।

कालकी नियततामें पौरुषके व्यर्थ होने की आशंका निर्मूल है कहना ठीक है। निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करता को मान–

१– इस बातपर विद्वज्जन गहराई से विचार करेंगे ऐसी आशा है।

कर उसको उड़ा देनेसे पौरुष भी उड़ जाता है। जीव योगोपयोगोंके[२] द्वारा कर्मबंधका निमित्तकारण होता है। पुरुषार्थ योगोपयोगसे भिन्न नहीं होता। निमित्तको उड़ा देना जीवके योगोपयोग को उड़ा देना नहीं है। योगोपयोग पुरुषार्थसे भिन्न न होनेके कारण निमित्तको उड़ा देना पुरुषार्थको ही उड़ा देना है। अतः निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे पुरुषार्थ के उड़ जानेकी आपत्ति खडी हो जाती है।

पृ. ६७ पर लिखा है की – 'होनहारकी चर्चा करते हुए भैया भगवतीदासजी भी पुरुषार्थ की प्रेरणा देना नहीं भूले। उनकी दृष्टिमें सच्ची होनहार अर्थात् क्रमबद्धपर्याय पुरुषार्थनाशक नहीं, अपि तु पुरुषार्थप्रेरक है।'

भय्या भगवतीदासजीने पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है इसमें संदेह नहीं; किंतु 'पर में तो इसे (अज्ञानीको) कुछ करना ही नहीं है, अपनी पर्यायमें भी कुछ करना नहीं है। सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' इस आशयका कथन उन्होंने कहीं पर किया है क्या? अज्ञानी अपनी विभावपरिणतिके द्वारा कर्मयोग्यवर्गणाओं की कर्मरूपसे होनेवाली परिणतिमें सहकारि–कारण नहीं होता क्या? कर्मयोग्यवर्गणाएं जीवकी विभावरूप पर्याय की निमित्तताके अभावमें कर्मरूपसे परिणत होती है क्या? यदि ऐसा हो तो सिद्धों के भी कर्मबंध हो जायेगा। अज्ञानी जीव अपने विभावभावोंका उपादानकर्ता नहीं होता क्या? यदि अपने विभावभावों का अज्ञानी जीव उपा–

२– समयसार गाथा १००।

दानकर्ता न होता हो तो वह शुद्ध जीवके समान बंधरहित हो जायगा ? अज्ञानी होनेपर भी उसके उपादानकर्तृत्व का अभाव होनेसे उसके अकर्तृत्वकी सिद्धि हो जायगी। सारांश, अज्ञानी के उपादानकर्तृत्वका और निमित्तकर्तृत्व का अभाव हो जायगा, जो कि आगमविरुद्ध है। अत. यह मन्तव्य ठीक नहीं है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'यद्यपि कार्यकी उत्पत्तिमें अनेक कारण माने गये हैं, जिन्हें पंचसमवायके नामसे भी अभिहित किया जाता है; तथापि उन सबमें पुरुषार्थ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है, क्यों कि प्रयत्न उसीके संदर्भ में संभव हैं। भवितव्य (होनहार), काललब्धि आदिमें संभव नहीं है। क्रमबद्धपर्याय अर्थात् सम्यक्–नियति माननेमें जगतको पुरु–षार्थकी अप्रासंगिकता दिखाई देती है, जब की सम्यक्नियति में अन्य कारणों की उपेक्षा न होनेसे इसप्रकार की कोई बात नहीं है। इसी बातको स्पष्ट किया जाता है।'

यहां यह प्रश्न खडा होता कि – कार्यकी उत्पत्तिमें जो कारण माने गये हैं वे उपादानकारणरूप हैं या निमित्तकारणरूप हैं? उपादानकारणरूप नहीं हो सकते; क्यों कि एक कार्यके पांच उपादानकारण नहीं हो सकते। यदि निमित्तकारणरूप हो तो निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे कार्योत्पत्तिमें वे सहकारी नहीं हो सकते। कार्यकी उत्पत्ति सहज ही होनेवाली होनेसे इन पांच कारणों को स्वीकार करनेकी क्या आवश्यकता है? पुरुषार्थ और प्रयत्नमें क्या भेद हैं ? आचार्य विद्यानन्द महा–राजने अष्टसहस्रीमें पुरुषार्थ और प्रयत्नको अभिन्न बताया है। पृ. २५७ पर 'प्रयत्नाभावे' इसका अर्थ टिप्पणमें 'पौरुषाभावे'

ऐसा दिया है। आचार्य महाराजने 'पुरुषार्थ' का अर्थ 'पुरुष-व्यापार' ऐसा किया है। आचार्य अकलंकदेवने 'पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्' इन शब्दोंके द्वारा 'चेष्टितं' (अर्थात् व्यापार) ऐसा अर्थ किया है। आचार्य विद्यानंदजीने 'तत्सर्व बुद्धिव्यवसायादिकं पौरुषं' इन शब्दोंके द्वारा 'प्रयत्न' यह अर्थ ही व्यक्त किया है। जब पांचों समवायोंके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा आप कहते हैं तब पुरुषार्थ के संदर्भ मे ही प्रयत्न संभव है, अन्य कारणोंके संदर्भ में संभव नहीं ऐसा कहना कहांतक युक्तिसंगत हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि क्रमबद्धपर्याय सम्यक्-नियतिरूप है अर्थात् क्रमबद्धपर्याय से सम्यक्-नियति यदि भिन्न नहीं है, तब क्रम-बद्धपर्यायका कारण नियति कैसे हो सकती है ? कार्य और निमित्तकारण इनमें भेद होता है। जो कार्यरूप होता है वही अपनी उत्पत्तिमें निमित्तकारण कैसे हो सकता है ? जब क्रम-बद्धपर्याय और सम्यक्-नियति में कार्यकारणभाव बनता ही नहीं तब पुरुषार्थका होना भी बनता नहीं और क्रमबद्धपर्याय की उत्पत्ति भी बनती नहीं। जब क्रमबद्धपर्याय और सम्यक्-नियति अभिन्न होनेसे क्रमबद्धपर्याय की उत्पत्तिमें चार ही समवाय कारणरूप रह जाते हैं। पं. जी का यह कथन भ्रान्तिजनक है।

आगे पृ. ६४ पर पं. जीने मोक्षमार्गप्रकाशक का एक उद्धरण पेश किया है। देखिए – " यहां प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आनेपर भवितव्यतानुसार बनता है, या मोह आदिके उपशमादि होनेपर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करनेपर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने

पर बनता तो हमें उपदेश किस लिए देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं; उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या?"

समाधान :– "एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्षका उपाय बनता है वहां तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहां तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि और होनेहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस कालमें कार्य बनता है वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्मके उपशमादिक है वह पुद्गल की शक्ति है, उसका आत्मा कर्ताहर्ता नहीं है। तथा पुरूषार्थसे उद्यम करते हैं सो यह आत्माका कार्य है। इसलिये आत्माको पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं। वहां यह आत्मा जिस कारणसे कार्यसिद्धि हो उस कारणरूप उद्यम करे वहां तो अन्यकारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारण से कार्यकी सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, तो उस कारणरूप उद्यम करे वहां अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिले तो सिद्धि नहीं होती। सो जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा है उससे मोक्ष होता ही होता है; इसलिये जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्षका उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्मके उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है; इसलिये जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं ऐसा निश्चय करना, और उसको अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती

है। तथा जो जीव पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय करता नहीं उसके काललब्धि और होनहार भी नहीं और कर्मके उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता; इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्षका उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती–ऐसा निश्चय करना।"
(मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ११०–१११, सोनगढ संस्करण।)

यहां शंकाकारने काललब्धि, मोह आदिका उपशम और पुरुषार्थ इन तीन कारणों को लेकर मोक्षके उपायके विषयमें शंका उपस्थित की है। समाधान करते हुए पं. जीने उक्त तीन ही कारणोंका उल्लेख किया है, पांच कारणोंका नहीं। 'मोह आदिका उपशम' इन शब्दोंसे दैवका ग्रहण होता है। अतः यहां मोक्षके उपाय की प्रातिमें दैव और पुरुषार्थ को कारण बताया है। काललब्धिके विना सम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता व्यक्त नहीं होती इसकारण मोक्षके उपायकी प्राप्तिमें काल–लब्धिको भी कारण माना है। सम्यक्त्वरूपसे परिणत होनेकी योग्यता व्यक्त होनेपर दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका और अनंतानुबंधिसंज्ञक चारित्रमोहनीयकी चार प्रकृतियोंका उपशम आदि होकर औपशमिकादि सम्यक्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसकी उत्पत्तिके लिए शास्त्रस्वाध्याय, उपदेशश्रवण और चितनरूप पुरुषार्थकी भी आवश्यकता होती है। अतः सम्यक्त्वकी अर्थात् मोक्षप्राप्तिके प्रधान उपाय की प्राप्तिमें उक्त तीन कारण अर्थात् काललब्धि, मोहके उपशमादि और पुरुषार्थ ये तीन कारण आवश्यक हैं। काललब्धिसे सम्यक्त्व–प्राप्तिकी योग्यता व्यक्त होती है, सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं।

कहनेका भाव यह है कि काललब्धिके विना सम्यक्त्वका प्रादु-र्भाव नहीं होता। काललब्धिसे सम्यक्त्व की योग्यता व्यक्त होती है। उस समय सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता ही है ऐसा नहीं है। वह बादमें भी उत्पन्न होता है। काललब्धि के होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न होता भी है और छूटता भी है। मोक्षकाल अत्यंत समीप आनेपर ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अतः काल-लब्धिके विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना असंभव होनेसे काललब्धिको सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारणोंमें अन्तर्भूत किया है। मोक्षके उपायकी प्राप्तिके लिए पं. जी ने तीन ही कारण बताये हैं तो भी डॉक्टरसाहब कहते हैं कि 'वस्तुतः पांचों समवायों का समवाय ही कार्यका उत्पादक होता है'। यह पक्षव्यामोह का ही फल है।

'एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं' इस वाक्यसे पांच समवायोंका ग्रहण न होकर तीन कारणोंका ग्रहण होता है; क्योंकि पं. जीने 'पूर्वोक्त तीन कारण कहे' इन शब्दोंके द्वारा तीन कारणोंका ही ग्रहण किया है। वे तीन कारण काललब्धि, दैव और पुरुषार्थ हैं। कार्यकी उत्पत्ति दैव और पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल होनेपर होती है। काललब्धि दैव और पुरुषार्थके समान कार्य होनेमें कारण नहीं होती। काललब्धि उपशमका निमित्त-कारण होती है, सम्यक्त्वोत्पत्तिका नहीं।[1] अतः पं. जीने आचार्य समन्तभद्रस्वामीने और आचार्य विद्यानंद महाराजने जिसप्रकार कार्यके होनेमें दैव और पुरुषार्थको कारण माना है उसप्रकार

१– अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः ? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्।

ही दैव और पुरुषार्थको ही कारण माना है; काल, स्वभाव और नियतिको कारण नहीं माना है। डॉक्टरसाहब मोक्षमार्ग-प्रकाशकके उक्त उद्धरणमें काल, स्वभाव और नियतिको कारण-रूप बतानेवाला वाक्य कौनसा है यह बतायेंगे ? 'जिस कालमें कार्य बनता है वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार' यह पं जीका कथन ठीक नहीं जंचता। काललब्धि जिनागमका पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ जाननेके लिए निम्न उद्धरण पेश किया जाता है। देखिए-'तत्र काललब्धिस्तावत्-कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्व-ग्रहणस्य योग्यो भवति, नाधिके इति इयमेका काललब्धिः॥ अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति ? अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्ध-मापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येय-सागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्यः पञ्चेन्द्रियः सञ्ज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्व-मुत्पादयति॥ अर्थ .- कर्मबद्ध भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन-संज्ञक काल शेष रहनेपर प्रथमसम्यक्त्वग्रहणके योग्य होता है, अधिक काल शेष रहनेपर प्रथमसम्यक्त्वग्रहणके योग्य नहीं होता। इसप्रकार यह एक काललब्धि। दूसरी काललब्धि कर्मस्थितिक है-कर्म उत्कृष्टस्थितिवाला और जघन्यस्थितिवाला होनेपर सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। यदि ऐसा है तो वह कब होती है ? अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिवाले जब कर्म होते हैं और जब विशुद्धपरिणामके कारण संख्यातसागरोपमसहस्र कम

अन्त:कोटीकोटीसागरोपमस्थितिवाले कर दिये जानेपर (जीव) प्रथमसम्यक्त्वके योग्य होता है। भवकी अपेक्षासे अन्य काल-लब्धि-भव्य, पंचेन्द्रिय, सञ्ज्ञी, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध जीव प्रथम सम्यक्त्व की उपत्ति करता है। आदिशब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण होता है। (जातिस्मरण, वेदना आदि भी सम्य-क्त्वकी उपत्तिमें निमित्त होते हैं।) इस प्रमाणसे 'जिस कालमें कार्य बनता है वही काललब्धि' यह काललब्धिका स्वरूप सिद्ध नहीं होता। काललब्धि सम्यक्त्वरूपजीवपर्यायकी उपत्तिमें निमित्त नहीं होती। 'काललब्ध्यादीन् प्रत्ययान् अपेक्ष्य तासां प्रकृतीनामुपशमो भवति' (रा. वा., अ. २, सू. ३, वा. २) अर्थ :- 'काललब्धि आदि कारणोंसे उन (सात) प्रकृतियोंका उपशम होता है।' इससे स्पष्ट होता है कि काललब्धि उपशम की उत्पत्तिमें निमित्त होती है और उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। उसीप्रकार 'जो कार्य हुआ वही होनहार' यह कथन भी ठीक नहीं है। 'होनहार' इस हिंदि-शब्द का प्रयोग 'भवितव्यता' इस शब्दके स्थानमें किया जाता है। 'भवितव्यता' इस शब्दका अर्थ स्वयम्भूस्तोत्रके टीकाकार आचार्य प्रभाचंद्रमहाराजने 'कर्म' ऐसा किया है। कोशकार दैव, भागधेय, भाग्य, भवितव्यता इन शब्दोंको समानार्थक बताते हैं। अतः 'भवितव्यता' का अर्थात् 'होनहार' का जो अर्थ पं. जी ने किया है वह ठीक नहीं है। 'जो कर्म का उपशमादिक हैं वह पुद्गलकी शक्ति है' यह अभिप्राय भी ठीक नहीं है। 'कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुप-शमः।', 'आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते।' (रा. वा. अ. २, सू. १) इन वचनोंसे उप-

शमादिक आत्माके भाव हैं यह स्पष्ट हो जाता है। 'कारणके वशसे कर्मकी अपनी शक्तिका प्रकट न होनारूप जो उपशम होता है वह आत्माकी विशुद्धिरूप होता है'। कर्मकी फल देनेकी शक्तिका प्रकट न होना ही उसका उपशम है और वह शक्ति कर्मपुद्गलसे भिन्न नहीं होती। जब यह शक्ति व्यक्तरूप होती है तब आत्माकी विशिष्ट विशुद्धिका अभाव होता है और जब वह आविर्भूत नहीं होती तब आत्माकी विशुद्धि व्यक्त होती है। इससे उपशमशक्तिका अप्रादुर्भावरूप होना उसका पुद्गलसे भिन्न होना नहीं है और आत्माकी विशुद्धिके होनेका कारण है। यह आत्माकी विशुद्धि भी आत्मासे भिन्न नहीं है। अतः उपशम कथंचित् पुद्गलकी शक्तिरूप और कथंचित् आत्माकी विशुद्धि-रूप है। अतः उपशम पुद्गलका ही होता है ऐसा एकान्त नहीं किया जा सकता।

पृ. ६९ पर डॉ साहबने लिखा है कि – "उक्त कथनमें पं. टोडरमलजीने कार्यकी निष्पन्नतामें पुरुषार्थ को प्रधान रखकर काललब्धि आदि अन्य कारणोंकी भी अनिवार्य उपस्थिति बताई है।" "वस्तुतः पांचों समवायोंका समवाय ही कार्य का उत्पादक है। यह कहना कोरी कल्पना ही है कि पांचों समवायोंमें से यदि एक भी नहीं मिला तो कार्य नहीं होगा, क्यों कि ऐसा संभव ही नहीं है कि कार्य होना हो और कोई समवाय न मिले; जब कार्य होना होता है तो सभी समवाय होते ही होते हैं। पुरुषार्थ मुख्य करके यह बात पं. टोडरमलजीने बहुत ही स्पष्ट लिखी है।"

ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि स्व. पं. टोडरमलजीने कार्योत्पत्तिमें तीन ही सहकारिकारण बताए हैं, पांच नहीं। डॉ॰ साहबने जो कहा है वह उनके दुरभिनिवेशका फलितार्थ है। प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेदसे परिणाम–पर्याय–कार्य दो प्रकारका होता है।[१] जिस कार्यकी उपत्तिमें पुरुषप्रयत्न आवश्यक होता है उसको प्रायोगिक कार्य कहते हैं और जिसमें उसकी जरूरत नहीं होती उसको वैस्रसिक कहते हैं। वैस्रसिक परिणामकी उपत्तिमें जब पुरुषप्रयत्नका अभाव होता है तब इसप्रकारकी पर्यायकी उपत्तिमें पांचों समवायोंका समवाय निमित्तकारण नहीं होता यह स्पष्ट हो जाता है। डॉ. साहब वैस्रसिक परिणामको–पर्यायको–कार्यको नहीं स्वीकार करते क्या ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि–'वस्तुतः पांचों समवायोंका समवाय ही कार्यका उत्पादक है' यह ऐकान्तिक कथन मिथ्या है। वैस्रसिक परिणामकी उपत्तिमें दैव भी निमित्तकारण–उत्पादक कारण नहीं होता। अतः जब वैस्रसिक पर्यायकी उपत्तिमें दैव और पुरुषार्थ कारण होते ही नहीं तब पांचों समवायोंके समवाय को ही कार्योत्पत्तिमें सहकारिकारण कैसे माना जा सकता है ? वस्तुतः ऐसा ऐकान्तिक कथन सामान्यतया नहीं किया जा सकता। आत्माकी पर्यायकी उपत्तिमें दैव और पुरुषार्थ कारण होते हैं, सर्वत्र नहीं। जब कार्य जिस देशमें और जिस निश्चितरूपसे होनेवाला होता है, अनिवार्य होता है तब ही कालमें नियतिका सद्भाव बनता है। ऐसी अवस्थामें नियतिको कार्यो–

१– 'वर्तना परिणाम ···' इत्यादि सूत्रकी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार–नामक वृत्ति। रा. वा., अ. ५।२२।१०

त्पत्तिका कारण कैसे माना जाता है? इसके पूर्व इस विषयमें बहुत कुछ प्रतिपादन किया गया है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– "पुरुषार्थ भी अन्य समवायोंके अनुसार ही होता है। पंचसमवायोंमें कोई परस्पर संघर्ष नहीं है, अपि तु अद्भूत सुमेल है। अतः यह कहना कि यदि होनहार नहीं हुई या काललब्धि नहीं पकी तो पुरुषार्थसे क्या होता है? या निमित्त नहीं मिला तो होनहार क्या करेगी या पुरुषार्थ क्या काम आयगा? आदि-मानसिक व्यायामके अतिरिक्त कुछ मायने नहीं रखता। वैसे तो पुरुषार्थ के विना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। सर्वत्र ही अन्यसमवायसापेक्ष पुरुषार्थका साम्राज्य है। मुक्तिमार्गरूप कार्यकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णतामें भी काललब्धि आदि अन्य समवायों के साथसाथ पुरुषार्थका महत्वपूर्ण स्थान है, फिरभी मुक्ति के मार्ग के सन्दर्भमें पुरुषार्थ की व्याख्या, जगत जिसे पुरुषार्थ समझता है भिन्न ही है।"

अब यहां ऐसा प्रश्न खडा हो जाता है कि – कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षरूप मोक्षकी प्राप्ति जब पौरूषसे दैवका परिक्षय होनेपर होती है तब दैव और पुरुषार्थ में विरोधकी सिद्धि नहीं होती क्या? पूर्वकृत (दैव) रूप समवायके अनुसार पुरुषार्थ होता है क्या? इस विषयमें दैव और पुरुषार्थ इनमें विरोध (संघर्ष) नहीं होता है क्या? दैव और पुरुषार्थ इनमें सर्वथा विरोध होता है ऐसा एकान्त भी नहीं है; क्योंकि परमपुण्या-तिशय और चारित्रविशेषरूप पौरुष इन दोनों से मोक्षकी

प्राप्ति होती है। अब सर्वत्र ही अन्य समवायसापेक्ष पुरुषार्थका साम्राज्य है' इस कथनपर विचार किया जाता है। खेतीमें समानरूपसे प्रयत्न करनेवालोंमें से किसी एक को ही फलप्राप्ति होती है और दूसरेको फलप्राप्ति नहीं होती। जिसको फल-प्राप्ति होती है उसके पुण्यकर्मका उदय होनेसे उसका प्रयत्न-पुरुषार्थ सफल होता है और जिसको फलप्राप्ति नहीं होती उसके पापकर्मका उदय होनेसे उसका प्रयत्न-पुरुषार्थ निष्फल होता है। अत: इस दृष्टांन्तसे दैवकी प्रधानता और पुरुषार्थ की गौणता सिद्ध हो जाती है। इससे 'सर्वत्र पुरुषार्थका साम्राज्य होता है' यह कथन परिहृत हो जाता है। वस्तुत: दैवकी अनु-कूलता होनेपर ही पुरुषार्थ की सफलता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं। जैनदर्शन न दैवकान्तको मानता है और न पौरुषैकान्तको मानता है। आचार्य विद्यानन्दस्वामीने कहा है कि –

दैवकान्ताविपांशुप्रसरनिरसनोद्भूतसामर्थ्यवृत्तिः
सन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाऽज्ञानखेदं हरन्ती।
बन्धं प्रध्वंसमद्धा सकलमपि बलादानयन्ती नितान्तं,
नीतिः स्याद्वादिनीद्धा दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात्" ॥ १ ॥ (अ. स. पृ. २५८)

अर्थ :– "दैवैकान्तादिरूप धूल के प्रसार का निरास करनेसे जिसकी सामर्थ्य प्रकट हुई होती है, आकाश को व्यापने-वाले वायूके प्रसारके समान समीचीन मार्ग को व्यापनेवाली, अज्ञानके दु:खका नाश करनेवाली, संपूर्ण ही बंधका जबरन शीघ्र ही अत्यन्त नाश करनेवाली समृद्ध स्याद्वादनीति सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रधारी आपको मोक्षकी प्राप्ति करा दे ॥"

इससे स्पष्ट हो जाता है जैनदर्शन न दैवैकान्तवादी होता है और न पौरुषैकान्तवादी होता है। जिस कार्योत्पत्तिमें दैवकी प्रधानता होती है उसमें पुरुषार्थकी गौणता होती है, अभाव नहीं और जहां पौरुषकी प्रधानता होती है वहां दैवकी गौणता होती है, अभाव नहीं; क्यों कि दैव और पौरुष इन दोनोंके कारण ही कार्यसिद्धि होती है। अतः 'सर्वत्र ही अन्यसमवायसापेक्ष पुरुषार्थ का साम्राज्य है' यह कथन पौरुषैकान्तको ध्वनित करनेवाला होनेसे अनुचित है। 'मुक्ति के मार्ग के सन्दर्भ में पुरूषार्थ की व्याख्या, जगत जिसे पुरुषार्थ समझता है, उससे कुछ भिन्न ही है' ऐसा जो डॉक्टरसाहब! आपने कहा है उस विषयमें पुरुषार्थ की जो भिन्न व्याख्या है वह किस प्रकारकी है इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है? डॉ. साहब इस जिज्ञासाका समाधान करेंगे क्या?

पृ. ७० पर पं. जीने लिखा है कि – " पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की भाषाटीका में छन्द ९ के भावार्थ में पं· टोडरमलजीने पुरुष की व्याख्या इसप्रकार की है :– " पुरु = उत्तम चेतना गुणमें सेते = स्वामी होकर प्रवर्तन करे- उसको पुरुष कहते हैं– ज्ञानदर्शनचेतनाके नाथ को पुरुष कहते हैं।" अर्थ अर्थात् प्रयो–जन – इसप्रकार उत्तम चेतना गुणका स्वामी होकर उसमें ही प्रवर्तन करना है प्रयोजन जिसका उसे पुरुषार्थ कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें मुक्ति के मार्ग में आत्मानुभवन की प्राप्ति का प्रयास ही पुरुषार्थ है।"

पुरुष शब्दकी निरुक्ति जो डॉ. साहबने उद्धृत की है वह गलत है। 'पुरु' इस शब्दका 'उत्तम चेतना गुणमें' ऐसा जो

अर्थ किया गया है वह गलत है। क्या 'पुरु' यह सप्तम्यन्त रूप है ? यदि वह सप्तम्यन्त पद है तो मूलशब्द कौनसा है ? इसप्रकार 'सेते' यह तिडन्तरूप कौनसी धातुका है ? सामान्यत: पुरुषशब्द की निरुक्ति 'पुरि शेते इति पुरुष:' इस प्रकार पायी जाती है। 'पुरि देहे शेते इति पुरुष:।' इस वाक्यके शेते इस तिडन्तके शकार का पृषोदरादिके अनुसार षकार हो गया है। अथवा यह औणादिक शब्द है। "'पुर: कुषन्' (उणादि ४।३२३) पुर अग्रगमने। पुरुष:।" इसप्रकार व्याकरणके अनुसार पुरुष शब्द की निरुक्ति है। अब बताइये कि पंडित टोडरमलजी की निरुक्ति ठीक मानी जाय या वैयाकरणों की निरुक्ति ठीक मानी जाय ? वैयाकरणोंकी निरुक्ति ठीक मानना ही उचित है। 'क्रमबद्धपर्याय' के लेखक पं. हुकमचंदजी तो पं. जी की निरुक्ति को स्वीकार कर रहे है। अमरकोश में 'पुरुषावात्ममानवौ' इस प्रकार पुरुषशब्दके (१) आत्मा और (२) मानव ये दो अर्थ पाये जाते हैं।

जब आचार्य विद्यानन्दमहाराजने पुरुषार्थका अर्थ प्रयत्न ऐसा किया है तब 'पुरि देहे शेते इति पुरुष:' इस निरुक्तिको स्वीकार करना ठीक है; क्यों कि पुरुषार्थ सशरीर आत्माके द्वारा किया जाता है, अशरीर आत्माके द्वारा नहीं। पुरुषार्थ के दो भेद हो सकते हैं। एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य। एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान अंतरंग पौरुष है और अनशन, आतापनयोग आदि बाह्य पुरुषार्थ हैं। बाह्य तपश्चरणके विना अभ्यंतरतपकी सिद्धि नहीं होती। अत: मोक्षप्राप्तिके लिए बाह्य और आभ्यंतर दोनों पुरुषार्थोंकी आवश्यकता है। सारांश,

पं. टोडरमलजीकी निरुक्ति की आवश्यकता महसूस नहीं होती। वह वस्तुतः ठीक नहीं है। 'ज्ञानदर्शनचेतनाके नाथ को पुरुष कहते हैं' यह मन्तव्य आत्माकी दृष्टिसे ठीक नहीं है, किन्तु सशरीर आत्माकी अर्थात् मानवपर्यायकी दृष्टिसे ठीक नहीं है, क्यों कि मानव सम्यग्दृष्टि होता है ऐसा एकान्त नहीं है। आत्मानुभवन की प्राप्ति के लिए बाह्य पुरुषार्थ और अंतरंग पुरुषार्थ इन दोनों की आवश्यकता होनेसे उन दोनों प्रयासों को पुरुषार्थ कहने में किसी प्रकार की हानि नहीं है।

इसी पृष्ठपर आगे कहा है कि – 'क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा की स्थिति में तो उक्त पुरुषार्थ विशेषकर जागृत होता है, क्यों कि अनादिकाल से जगत के परिणमनको अपनी इच्छा–नुकूल करने की आकुलतासे व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्म–सन्मुख होता है। और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेरफार नहीं कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्वस्वभाव की ओर ढलती है।'

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है; क्यों कि निमित्त-को सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे निमित्तका अभाव होनेसे पर्यायकी उत्पत्ति न होनेके कारण उसका अभाव होनेसे उसके क्रमका भी अभाव हो जाता है। जिसका अभाव होता है उसकी श्रद्धा कैसे की जा सकती है? अतः क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा श्रद्धेयके अभावमें की

जानेवाली होनेसे मिथ्या ही होती है। ऐसी श्रद्धाकी स्थितिमें सम्यक् पुरुषार्थ भी जागृत नहीं हो सकता। जिसने शुद्ध आत्माका अनंत-चतुष्टयात्मक स्वरूप और अशुद्ध आत्माकी आकुलताको जान लिया होता है उसका शुद्ध आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिके लिए पुरुषार्थ जागृत नहीं होता क्या? आत्माके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंको जान लेनेपर भी शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले पुरुषार्थके जागृत होनेमें प्रतिबंधक कारण कौनसा होता है? बताइए। क्या कारणके अभावमें कार्य उत्पन्न हो सकता है? वास्तविक पर्यायकी उत्पत्ति न होना ही पुरुषार्थका जागृत न होनेका कारण होता है। 'क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धाकी स्थितिमें तो उक्त पुरुषार्थ विशेषकर जागृत होता है' यह कथन कपोलकल्पित है। जब तक पर्याय उत्पन्न नहीं होती, उत्पत्स्यमान होती है, तब तक उस उत्पत्स्यमान पर्यायका परिवर्तन किया जा सकता है। ज्ञानी पुरुष उत्पत्स्यमान हीन पर्यायको अपने उत्कृष्ट परिणामके रूपसे परिवर्तित कर उत्कृष्ट पर्यायके रूपसे परिणत हो सकता है। सप्तम नरकके नारकीकी हीनतम पर्यायको अपने परिणामके द्वारा परिवर्तित कर प्रथम नरकके नारकी की पर्यायके रूपसे महाराज श्रेणिकके जीवने परिवर्तन कर लिया था। उस जीवने उत्पत्स्यमान सातवें नरककी नारकीपर्यायको परिवर्तित किया था। अतः श्रेणिकमहाराजकी सातवें नरकके नारककी पर्यायका क्रम बद्धकर्मके द्वारा प्रथम नियत किया था। कर्मके द्वारा नियत की गयी सातवें नरककी नारकपर्याय अपने परिणामके द्वारा परिवर्तित की गयी थी ऐसा कथन आगममें पाया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्मनियमित उत्पत्स्यमान पर्यायका क्रम परिवर्तित किया जा सकता है और

उस पर्यायके रूपसे परिणत न होकर जीव अपने परिणामके कारण अन्य पर्यायके रूपसे परिणत हो सकता है। यही पर्यायका परिवर्तन है। इस पर्यायपरिवर्तन को भी केवली भगवान जानते हैं। अतः 'जीव अपनी क्रमनियमित पर्यायोंमें भी कोई फेरफार नहीं कर सकता' यह भ्रान्त कल्पना है। शुद्धात्मस्वभावानुभूति के द्वारा संसारावस्थाका नाशकर जीव मुक्तावस्था की प्राप्ति कर लेता है। अवस्था पर्यायरूप होती है। संसारावस्था का नाश और मुक्तावस्थाकी प्राप्ति यह पर्यायपरिवर्तनरूप है या नहीं? पूर्वपर्यायका व्यय और उत्तर-पर्यायका उत्पाद होना पर्यायपरिवर्तन होता नहीं है क्या? पर्यायके फेरफार का अर्थ क्या है? पर्यायको परिवर्तित किया जाता है और उसका परिवर्तन भी होता है। जब पर्यायका परिवर्तन होता है ऐसा कहा जाता है तब प्रेरक निमित्तका अभाव होता है, उदासीन निमित्तका नहीं। उदासीन निमित्तका पर्यायरूपपरिणतिमें उल्लेख नहीं किया जाता इतना ही। बारह अनुप्रेक्षाएं जीवकी दृष्टि स्वभावकी ओर ढलनेका कारण नहीं होती है क्या? जिनेन्द्र भगवानके ज्ञानके द्वारा जीवकी जिस पर्यायका होना जाना गया हो वह पर्याय होती है और जिस पर्यायका परिवर्तित होना जाना गया है वह पर्यायपरिवर्तन होता ही है। यह कथन व्यंजनपर्यायविषयक है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि- 'दृष्टिका स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्तिके मार्गमें अनन्त पुरुषार्थ है? क्रमबद्ध-पर्यायकी श्रद्धा करनेवाले को उक्त श्रद्धाके कालमें आत्मोन्मुखी

अनंत पुरुषार्थ होनेका और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेका क्रम भी सहज होता है'।

दृष्टिका स्वभावकी ओर ढलना पुरुषार्थका फल है या पुरुषार्थ है? वस्तुतः दृष्टिका स्वभावकी ओर ढलना पुरुषार्थका फल है, पुरुषार्थ नहीं है। जब उसके पुरुषार्थत्व का ही अभाव है तब पुरुषार्थके अनन्तत्वका भी अभाव है। आगमाभ्यास, गुरूपदेशश्रवण, कर्मप्रकृतियोंका उपशम आदिसे जीवकी दृष्टि आत्मस्वभावकी ओर ढलती है अर्थात् उपशमावस्थाप्राप्त दैव और पुरुषार्थसे जीवकी दृष्टि स्वभावकी ओर ढलती है याने सम्यग्दर्शनपर्यायरूपसे परिणत होती है। 'क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा करनेवाले को उक्त श्रद्धाके कालमें आत्मोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ होनेका और सम्यग्दर्शन प्रकट होनेका क्रम भी सहज होता है' इस वाक्यके लेखक महोदयने सप्तप्रकृत्युपशमरूप निमित्तको उड़ा दिया है। इसी वाक्यके द्वारा लेखकमहोदयने आत्मोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ और सम्यग्दर्शन इनमें कार्यकारण-भाव बताया है। यहां 'दृष्टिका स्वभावकी ओर ढलना सम्यक्त्व की प्राप्तिके पूर्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्थामें होता है या सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बाद होता है? वस्तुतः सम्यक्त्वोत्पत्तिके बाद ही दृष्टि स्वभाव की ओर ढलती है। अतः दृष्टिका स्वभावकी ओर ढलना प्रथमोपशमसम्यक्त्वका कारण नहीं होता। कारण और कार्यमें पौर्वापर्य होता है। वस्तुतः औपशमिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति दर्शनमोहनीयकी तीन और अनंतानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेपर होती है। अतः सात-प्रकृतियोंके उदयका अभाव अर्थात् उपशम और उपशमसम्यक्त्व इनमें ही कार्यकारणभाव होता है। दृष्टिका स्वभाव की ओर

ढलना और सम्यक्त्व इनमें जो कार्यकारणभाव बताया है वह कोरी कल्पनाके आधारपर बताया गया है। अपने मन्तव्यकी सिद्धि करनेके लिए सम्यक्त्वोत्पत्तिकी सैद्धान्तिक प्रक्रियाको लेखकमहोदयने छिपा दिया है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – 'कर्तृत्वके अहंकारसे ग्रस्त इस जगत को परमें या पर्यायमें कुछ फेरफार करनेमें ही पुरुषार्थ दिखाई देता है, किन्तु पर और पर्यायसंबंधी विकल्पोंसे विराम लेकर स्व में स्थिर हो जानेमें पुरुषार्थ नहीं दीखता। सर्वथा भगवान पर में व अपनी पर्यायमें भी कुछ फेरफार नहीं करते, तो क्या वे पुरुषार्थ हीन हो गये ? क्या उनके मोक्षपुरुषार्थ नहीं है ? '

कर्मवर्गणारूप पुद्गलकी कर्मरूपसे होनेवाली परिणतिमें जीवका जो विभावभावके रूपसे परिणत होनारूप पुरुषार्थ का सद्भाव होनेसे और मृत्पिण्डसे उत्पादित किये जानेवाले घटरूप पर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार का योगोपयोगरूप पुरुषार्थका सद्भाव प्रत्यक्षका विषय होनेसे उसको टाला नहीं जा सकता। जो प्रत्यक्षमें दिखाई देता है वह कैसे टाला जा सकता है ? पर और पर्याय सबंधी विकल्पोंसे विराम लेना भी पुरुषार्थ ही है। शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए स्व में स्थिर होना भी पुरुषार्थ है। परमें और अपनी पर्यायमें भी सर्वज्ञ भगवान को फेरफार करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। छद्मस्थको पर पदार्थकी पर्यायकी आवश्यकता होती है। मृत्पिण्ड जैसे मृत्पर्यायको घटपर्यायरूपसे कुम्हार अपने योगोपयोगके द्वारा परिवर्तित करता है; क्योंकि उसे घटपर्यायकी आवश्यकता होती है। घटपर्यायकी

उत्पत्ति करनेकी इच्छा उत्पन्न होनेके पूर्व उसके जो योगोपयोग होते हैं उनको घटोत्पादन की इच्छा उत्पन्न होनेपर परिवर्तित करता ही है। योगापयोग दोनों पर्यायरूप हैं। उन पर्यायोंमें भी कुम्हार परिवर्तन करता है। अतः आवश्यकता न होनेके कारण परमें और अपनी पर्याय में भी सर्वज्ञ भगवान फेरफार नहीं करते। उन्हें फेरफार करनेकी आवश्यकता न होनेसे वे पुरुषार्थ नहीं करते। पुरुषार्थ न करनेके कारण वे पुरुषार्थहीन ही होते हैं। अब रही बात मोक्षपुरुषार्थ की। धर्मपुरुषार्थ, अर्थपुरुषार्थ कामपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ इसप्रकार चार पुरुषार्थ हैं। धर्मपुरुषार्थका अर्थ क्या है? यदि पुरुषार्थका अर्थ 'प्रयत्न' ऐसा माना तो धर्मपुरुषार्थ इस सामासिक शब्दका विग्रह किस-प्रकार किया जा सकता है और उसका अर्थ क्या होता है ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। 'अप्तदर्थार्थबलिहितसुखरहितैः' (जै. १।३।३१ (इस सूत्रके अनुसार पुरुषार्थको चतुर्थीतत्पुरुषकारूप समझ लिया तो उसका विग्रह 'पुरुषाय अयं पुरुषार्थः' इसप्रकार होगा। इस विग्रहके अनुसार 'अयं' यह पद साकांक्ष है। अतः 'आकांक्षित' क्या है? 'आतुरार्थः सूपः' उस उदाहरणमें आकांक्षित जिसप्रकार सूप है उसप्रकार 'पुरुषार्थ' इस पदमें स्थित 'अयं' पदका आकांक्षित कोई न कोई पदार्थ होना ही चाहिये। वह आकांक्षित पद है ही नहीं। अतः 'पुरुषार्थ' चतुर्थी तत्पुरुषका रूप नहीं माना जा सकता। अतः 'पुरुषार्थ' शब्दके प्रयत्नरूप रूढ अर्थको स्वीकार करना ही पडता है। 'धर्म-पुरुषार्थ' इस शब्दका विग्रह 'धर्माय पुरुषार्थः प्रयत्नः धर्म-पुरुषार्थः' ऐसा इसी सूत्रके अनुसार करना चाहिये।

अतः 'धर्माय पुरुषार्थः' इन दो पदोंका अर्थ 'धर्म अर्थात् पुण्य की प्राप्तिके लिए प्रयत्न' ऐसा अर्थ होता है। इसीप्रकार अर्थपुरुषार्थ, कामपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ इन शब्दोंका अर्थ होता है। अतः सर्वज्ञ भगवान को प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं हो सकती; क्यों कि वे मुक्त हुए होते हैं। मोक्षकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता न होनेसे वे पुरुषार्थहीन–मोक्षपुरुषार्थहीन होते हैं। **प्रतिबन्धक कारणों को हटाकर साध्यसिद्धि के लिए किये जानेवाले प्रयत्नको पुरुषार्थ कहते हैं।**

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – "उनके वीर्यगुण का पूर्ण विकास हो चुका है, फिर भी क्या वे अनन्तवीर्य के धनी अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थी नहीं है? परमें व पर्यायमें कुछ भी फेर–फार किये विना ही जब वे अनन्तपुरुषार्थी हो सकते हैं तो फिर हम क्यों नहीं? ये कुछ प्रश्न हैं उनके सामने, जिन्हें 'क्रम–बद्धपर्याय' मानने में पुरुषार्थ उडता नजर आता है।"

एक महा मल्लकी शारीरिक सामर्थ्य का अत्यंत विकास हुआ होनेसे अपनी शक्तिके प्रयोग वह करता ही रहता है ऐसा नहीं है। जब वह अपनी शक्तिके प्रयोग नहीं करता तब उसे सामर्थ्यहीन नहीं माना जाता। विषमें पूर्णतया प्राणघात करनेवाली शक्ति मौजुद होती है। जबतक किसी प्राणीके द्वारा उसका सेवन नहीं किया जाता तबतक वह प्राणघातक नहीं होता। प्राणघातक न होनेसे उसकी प्राणघातकशक्तिका अभाव होता है ऐसा नहीं है। इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवानके अनन्तवीर्य का सद्भाव होनेपर भी उन्हें पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं होती। पुरुषार्थ के अभाव के कारण उनका

अनन्तवीर्यत्व बाधित नहीं होता। अनन्तवीर्य और पूर्ण–पुरुषार्थ एक नहीं हैं। वीर्य और पुरुषार्थ एक ही होते हैं ऐसा लेखक महोदय और उनके समविचारी ही मान सकते हैं। वीर्य कारण होता है और पुरुषार्थ कार्य होता है। वीर्य गुणरूप होता है और पुरुषार्थ क्रियारूप होता है। अतः सर्वज्ञ भगवान अनंत–वीर्य के धनी होते हैं इसका अर्थ वे पूर्ण पुरुषार्थी होते हैं ऐसा नहीं है। सिद्ध भगवान अनन्तवीर्यके धनी है इसमें सन्देह नहीं। किंतु उनका पुरूषार्थ किसलिए होता है? सर्वज्ञ भगवान कृत–कृत्य होते हैं या नहीं? यदि वे कृतकृत्य होते हैं तो पुरुषार्थ किसलिए करेंगे? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' भगवान परमें व पर्यायमें न पुरुषार्थ करते हैं और न वे अनन्त–पुरुषार्थी हैं। पं. जीकी दृष्टिमें सिर्फ वीर्ययुक्त होना ही पुरुषार्थी होना है। यह उनकी मान्यता युक्ति और प्रतीतिके विरुद्ध है।

पं. जी ने पृ. ७१ पर श्री कानजीभाई के विचार प्रस्तुत किये हैं। देखिए –

"प्रश्न :– जब कि सभी क्रमबद्ध हैं और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो जीवमें पुरुषार्थ कहां रहा?

उत्तर :– सब कुछ क्रमबद्ध है – इस निर्णयमें ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्माके पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं, किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवानका पुरुषार्थ परिमित हो गया?"

श्रीकाननजीभाईने पुरुषार्थशब्दका अर्थ नहीं जान लिय

है। 'सब कुछ क्रमबद्ध है' इस विषयमें मैंने अपने विचार प्रकट कर दिये हैं। अतः यहां फिरसे अपने विचार प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं है। 'सब कुछ क्रमबद्ध है-इस निर्णयमें ही जीवका अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है' यह श्रीकानजीभाईका कथन मनमाना है। अनन्तवीर्यके बिना अनन्त पुरुषार्थका होना असंभव है। जितना वीर्य होता है उतना ही पुरुषार्थ होता है। अतः अनन्तपुरुषार्थ अनन्तवीर्य होनेपर ही किया जा सकता है। 'सब कुछ क्रमबद्ध है' इस निर्णयको करनेवाला जीव छद्मस्थ ही होता है। छद्मस्थ जीवके अनंत-वीर्यका अभाव होता है; क्योंकि उसके घातिकर्मोंका उदय रहता है। घातिकर्मोंका क्षय न होनेसे छद्मस्थका अनन्तवीर्य प्रकट हुआ नहीं होता। इसी कारण उसके अनन्तपुरुषार्थका अभाव होता है। ऐसी दशामें उक्त निर्णयमें अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है' यह कथन युक्त्यागमविरुद्ध होनेसे मिथ्या है और मनमाना भी है। 'उसमें (अर्थात् क्रमबद्ध पर्यायमें) कोई परिवर्तन करना आत्माके पुरुषार्थका कार्य नहीं है।' यह कथन ऐकान्तिक है। महाराज श्रेणिकके और अकालमृत्युके दृष्टान्त उक्त कथनके विरोधक है। भगवानके ज्ञानमें ये दोनों प्रकारके परिवर्तन निर्णीत हैं। भगवान कोई परिवर्तन नहीं करते; क्यों कि उन्हें परमें और पर्यायमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं होती। भगवान जगत्कर्ता न होनेसे परमें परिवर्तन नहीं करते। वे अपनी पर्यायमें भी परिवर्तन नहीं करते। अपनी सर्वज्ञरूप पर्यायमें भगवान किस प्रकारका परिवर्तन कर सकते हैं? सारांश, उन्हें अपनी सर्वज्ञ-रूप पर्यायमें परिवर्तन करनेकी जरूरत नहीं होती ? भगवान को पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता न होनेसे उनके पुरुषार्थ का अभाव

होनेसे उसके परिमित होनेका प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। जिसका अभाव होता है वह परिमित कैसे हो सकता है ?

पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ का स्वरूप समझनेके लिए एक उद्धरण पेश किया जाता है। देखिए–

'पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्' (अकलंकदेवाः, अष्टस. पृ. २५६) टिप्पणमें पौरुषका अर्थ 'शुभाशुभलक्षणो व्यापारः' ऐसा किया गया है। देवागमकी ८८ से ९१ कारिकाओंकी अष्ट–सहस्री द्रष्टव्य है।

आगे लिखा है कि– "नहीं, नहीं; भगवानका अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञानमें समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निजमें है, परमें नहीं। पुरुषार्थ जीव द्रव्यकी पर्याय है इसलिये उसका कार्य जीवकी पर्यायमें होता है; किन्तु जीव के पुरुषार्थका कार्य परमें नहीं होता।"

यहां 'अविचारितरम्यं हि रागान्धानां विचेष्टितम्' यह आचार्यवचन चरितार्थ होता है। पुरुषार्थ जीवसहकृत शरीरका कार्य है–परिणाम है। जिसप्रकार बोलना जीवसहकृत शरीरका कार्य है उसप्रकार पुरुषार्थ भी जीवसहकृत शरीरका कार्य है। कण्ठ, ओष्ठ, तालु, जिह्वा ये शरीरके अवयव शरीरसे भिन्न न होनेसे शरीर ही हैं। इनके अभावमें शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती। अक्षरात्मक शब्द की उत्पत्ति जीवकी सहकारिताके अभावमें भी नहीं होती। इसी कारण शास्त्रकारोंने शब्द को पुद्गलकी पर्याय कहा है। पुरुषव्यापाररूप पुरुषार्थ भी जीवसहकृत शरीरका कार्य होनेसे पुद्गलपर्यायरूप ही है। पुरुषव्यापार पुरुषशरीररूप उपा–दानका कार्य होनेसे पुद्गल का ही कार्य है। इस कार्यकी उत्पत्ति

में जीव सहकारिकारण होता है। उपादान और उपादेयमें नियमसे कथंचित् तादात्म्य होनेसे पुरुषार्थरूप कार्यका अन्तर्भाव उसके उपादानभूत शरीरमें होता है, ज्ञानमें नहीं। ज्ञान यह आत्माका स्वभावभूत भाव होनेसे ज्ञानशब्दसे आत्माका ग्रहण किया जा सकता है। यह आत्मा-जीव पुरुषव्यापाररूप पुरुषार्थ की उत्पत्तिमें सिर्फ सहकारिकारण होता है। अतः पुरुषार्थका समावेश ज्ञानमें अर्थात् जीवमें नहीं हो सकता। पुरुषार्थको जीवमें या ज्ञानमें समाविष्ट करना पक्षव्यामोहकी पराकाष्ठाको सिद्ध करता है।

अरिहन्त और सिद्ध भगवान कृतकृत्य होनेसे निजमें पुरुषार्थ किसलिए करते हैं? सिद्ध भगवानके शरीरका अभाव होनेसे वे निजमें भी पुरुषार्थ नहीं कर सकते और पुरुषार्थ करनेकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं होती।

यदि पुरुषार्थ जीवद्रव्यकी पर्याय है तो शब्द जीवद्रव्यकी पर्याय क्यों नहीं? आचार्योंने शब्दको पुद्गलकी पर्याय कहा है। शब्दको जीवपर्यायरूप मानना जिसप्रकार आगमका विरोध करना है उसप्रकार पुरुषार्थको जीवकी पर्याय मानना भी आगमका विरोध करना है। सम्यग्दृष्टि आगमका विरोध कर सकता है क्या?

इसी पृष्ठपर लिखा है कि– 'ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभावकी पूर्णताके पुरुषार्थकी भावना करता है।' ज्ञानी होकर भी जीव स्वभावकी पूर्णता के पुरुषार्थ की केवल भावना ही करता है क्या? पुरुषार्थ नहीं करता क्या? 'मोक्षस्याऽपि परमपुण्यातिशय-चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सम्भवात्' (अ. स. पृ. २५७, पं. ३–४) इस हेतुवाक्यके द्वारा 'परमपुण्यातिशय और

चारित्रविशेषात्मक पौरुष इन दोनोंके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ' ऐसा आचार्य विद्यानन्दमहाराजने स्पष्ट कहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षप्राप्तिके लिए परमपुण्याति-शयके समान चारित्रविशेषात्मक पौरुषकी आवश्यकता होती है। पुरुषार्थकी केवल भावना करनेसे मोक्षकी अर्थात् पूर्ण स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। उक्त वाक्यसे पता चलता है कि श्रीकानजी भाईने मोक्षप्राप्तिके साधनभूत चारित्र को उडा दिया है। यह आगमविरोध नहीं तो क्या है ?

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि- " मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्यों कि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध होता है। "

जो एक द्रव्यकी एक पर्यायका उपादान दो द्रव्य होते हैं ऐसा मानता है वह अवश्य मिथ्यादृष्टि होता है और जो निमित्त को सर्वथा उडा देता है वह भी वस्तुस्वभाव का विरोध करनेवाला होनेसे अवश्य मिथ्यादृष्टि होता है। जिनागमोक्त वस्तुस्वभावका विरोध करना आगमका विरोध करना है। निमित्तके मिलनेपर ही द्रव्यका अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होना स्वभाव है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मान कर उडा देना मिथ्यात्व ही है। निमित्तको उडा देना युक्ति, आगम और प्रतीतिके विरुद्ध है। निमित्तभूत द्रव्य पर्यायकी उत्पत्तिमें सहकारि होनेसे आगम में कर्ता कहा गया है। इस दृष्टिसे परद्रव्यका कर्तृत्व माननेमें कोई दोष नहीं है; क्यों कि वह वस्तुस्वरूपके विरुद्ध नहीं है। इसप्रकार जो अन्य द्रव्यका निमित्तकर्तृत्व मानता है वह

आगमानुकूलप्रवृत्तिवाला होनेसे उसका ज्ञातृत्व के साथ विरोध नहीं होता। विभावभावविषयक कर्तृत्व और ज्ञातृत्व इनमें विरोध अवश्य होता है। जो जीव विभावभावोंके रूपसे परिणत होता है अर्थात् विभावभावोंका उपादानकर्ता होता रहता है वह आत्मस्वभावका ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः इसप्रकार का कर्तृत्व और ज्ञातृत्व इनमें परस्परविरोध अवश्य होता है। श्रीकानजीभाईने 'मिथ्यादृष्टि जीव परका कर्तृत्व मानता है (अर्थात् जो परका कर्तृत्व मानता है वह मिथ्यादृष्टि होता है) ' इस वाक्यके द्वारा निमित्तको उड़ा देनेका प्रयत्न किया है। जो निमित्तको उड़ा देता है वह निश्चितरूपसे मिथ्यादृष्टि होता है। निमित्तको सर्वथा उड़ा देनेवाला एक मिथ्यादृष्टि जीव यहाँ आगमको माननेवालों को मिथ्यादृष्टि कह रहा है।

लेखक महोदयने आगे पृ. ७२ पर लिखा है कि– 'सर्वज्ञ भगवानने अपने केवल ज्ञानमें जैसा देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता–इसप्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं।' "हे भाई! तू किसके ज्ञानसे बात करता है? अपने ज्ञानसे या दूसरेके ज्ञानसे? यदि तू अपने ज्ञानसे ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञानने सर्वज्ञका और द्रव्योंकी अवस्थाका निर्णय कर लिया उस ज्ञानमें स्वद्रव्यका निर्णय न हो–यह हो ही कैसे सकता है? स्वद्रव्यका निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।'

सर्वज्ञ भगवानने अपने केवलज्ञानमें जैसा देखा हुआ होता है वैसा ही हुआ, होता है और होगा इसमें सन्देह नहीं। भगवान अपने केवलज्ञानमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायको, उसके

कारणोंको, पुरुषार्थको, परिवर्तन को, देशको और काल आदिको देखते हैं। भगवान इन दो कारणोंको भी जानते हैं। भगवान जानते हैं इसकारण जीव की पर्यायोंकी उत्पत्ति दैव और पुरु-षार्थके अभावमें होती है ऐसा नहीं है। परिवर्तन करनेमें ही पुरुषार्थ होता है, पर्यायकी उत्पत्ति करनेमें पुरुषार्थ नहीं होता ऐसा नहीं है। परिवर्तन भी कार्य है। इस कार्यके उत्पादनमें पुरुषार्थ अवश्य होता है।

ज्ञानका स्वद्रव्य आत्मा है; क्यों कि गुण होनेसे स्वाश्रय-भूत गुणी आत्माके अभावमें उसका अस्तित्व बन नहीं सकता। क्षायोपशमिकज्ञान मिथ्या भी होता है और सम्यक् भी होता है। सम्यक् ज्ञान, आगमप्रमाण, गुरूपदेश और प्रमाणनयोंके बलसे सर्वज्ञका निर्णय अवश्य कर लेता है और 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इस आगमवचनके द्वारा सभी द्रव्योंकी अवस्था का-पर्यायका सामान्यतया निर्णय कर लेता है, विशेषतया नहीं। जब यह क्षायोपशमिकभावरूप ज्ञान पूर्णतया वीतराग बनता है तब वह अनुभूतिके द्वारा स्वद्रव्यको विशेषरूपसे जानता है। सराग क्षायोपशमिक ज्ञान स्वद्रव्यका विशेषरूपसे निर्णय नहीं कर सकता है यह निश्चित है। स्वद्रव्यका निर्णय करनेवाला ज्ञान जब पूर्ण अवस्थाको प्राप्त होता है तब पुरुषार्थका अभाव हो जाता है। केवल ज्ञान भी स्वद्रव्यका निर्णायक होता है, किन्तु वह पुरुषार्थ शून्य होता है। यहां इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि पुरुषार्थ पुरुषव्यापारात्मक प्रयत्नरूप होता है, न कि वीर्य-रूप। केवली अनन्त पदार्थोंको जानते हैं। अतः उनका ज्ञान अनन्त पदार्थों को जाननेवाला होनेसे उनका वीर्य-सामर्थ्य भी अनन्त होता है। जब वे अनन्तपदार्थोंको युगपत् जान सकते हैं

तब उन्हें पुरुषार्थ की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं होती; क्यों कि पुरुषार्थ पुरुषव्यापारात्मक प्रयत्नरूप होता है।

'स्वद्रव्यका निर्णय करनेवाले ज्ञानमें अनन्त पुरुषार्थ है' ऐसा जो श्री कानजीभाई ने कहा है वह आगमविरुद्ध है ; क्यों कि अनंतवीर्य के विना अनंतपुरुषार्थ नहीं हो सकता। छद्मस्थके अनंतवीर्य का प्रादुर्भाव हुआ नहीं होता।

इसी पृष्ठपर कहा है कि – " 'तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञानमें जैसा देखा हो वैसा होता है,' तो वह मात्र बात करनेके लिए कहा है – अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवल ज्ञानका निर्णय है?

पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञानके निर्णयवाले ज्ञानमे अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञका निर्णय करनेमें ज्ञानका अनन्तवीर्य कार्य करता है, तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्यायमे पुरुषार्थ कहा रहा ? "

सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञानमें जैसा देखा हो वैसा होता है' यह निर्णीत है, इसमे सन्देह नहीं ; तो भी 'सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान के निर्णयवाले ज्ञानमें अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है' इस कथन को प्रमाणभूत नही माना जा सकता। सर्वज्ञभगवान के केवलज्ञान का निर्णय करनेवाला ज्ञान छद्मस्थ–जीवस्वामिक होनेसे क्षायोपशमिकभावरूप होता है। जो ज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होता है उसका वीर्य भी क्षायोपशमिकभाव–रूप होता है। छद्मस्थ जीवके भी वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होकर

अनन्तवीर्य प्रकट होता है ऐसा प्रमाण शास्त्रोंमें मिलता है क्या ? अपनी शक्तिके अनुसार जिन आगमग्रन्थोंका मैंने स्वाध्याय किया है उनमें मुझे इसप्रकार का प्रमाण नहीं मिला है। योग्यता, शक्ति, वीर्य, सामर्थ्य जो कि छद्मस्थस्वामिक होते हैं वह अनन्त नहीं हो सकते। अनन्तज्ञानका वीर्य ही अनन्त हो सकता है। ज्ञानकी अनन्तता ज्ञान कर्मावृत होनेसे जब अव्यक्त होती है तब ज्ञानके वीर्यकी अनन्तता व्यक्त कैसे हो सकती है ? केवलज्ञानका निर्णय करनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञान अनन्त न होनेसे उसका वीर्य भी अनन्त नहीं हो सकता। ज्ञान (क्षायोपशमिकभावरूप) सान्त हो और उसका व्यक्त हुआ वीर्य अनन्त हो यह कैसे संभव हो सकता है ?

यदि क्षायोपशमिक ज्ञान का वीर्य अनन्त माना गया तो केवलज्ञान के समान उसे भी सर्वज्ञ मानना होगा। उसको भी सर्वज्ञ माना तो क्षायिकज्ञान और क्षायोपशमिक ज्ञान इनमें जो कथंचित् भेद है वह नहीं रहेगा। अतः सर्वज्ञ का या केवलज्ञान का निर्णय करनेवाले ज्ञानमें अनन्तवीर्य और अनन्तपुरुषार्थ आ ही जाता है यह कथन स्वगृहमान्य है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान-की सामर्थ्य (वीर्य) अनन्त नहीं है तब उसका कार्य जो पुरु-षार्थ वह अनंत नहीं हो सकता। अतः केवलज्ञानका निर्णय करनेवाले ज्ञानमें वीर्यकी अनन्तता के कारण अनंत पुरुषार्थ नहीं आ जाता। उसमें अनन्त पुरुषार्थके आ जानेकी बात कहना अनुचित है। सर्वज्ञताका निर्णय करनेवाले ज्ञानका अनन्त-वीर्य ही जब व्यक्त नहीं होता तब उसका स्वकार्यकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताके कारण

पर्याय का जब उत्पाद हो ही नहीं सकता तब उसमें पुरुषार्थके रहनेकी बात करना व्यर्थ है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञानके स्वरूप की श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञानको स्वीकार करनेका अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रकट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करनेमें अनन्त पुरुषार्थका अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है, किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञका निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भवकी शंका न रहे, यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नहीं सकता।'

सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्ण केवलज्ञानके स्वरूपकी श्रद्धा अवश्य होती है और केवलज्ञानके स्वरूपकी अविकल श्रद्धा होनेसे छद्मस्थ जीवके अनन्तवीर्यका प्रादुर्भाव नहीं होता और उसके अनन्तपुरुषार्थका भी अभाव होता है ऐसी दृढ श्रद्धा होती है। वह यह जानता और मानता है कि जिसके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ होता है वह केवलज्ञानी–क्षायिकज्ञानवाला ही होता है और जो क्षायिकभावरूप होता है वह कृतकृत्य होनेसे उसे पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं होती। जो छद्मस्थजीवके अनन्तवीर्यका प्रादुर्भाव मानकर उसके अनन्तपुरुषार्थ होता है ऐसा मानता है, जो पुरुषार्थका प्राचीन आचार्योंके द्वारा बताया गया अर्थ स्वीकार नहीं करता और आगमविरुद्ध मनमानी अंटसंट बातोंका प्रचार करता है ऐसे मानवाकारधारी जीवको सम्यग्दृष्टि और केवलज्ञानका श्रद्धालु कैसे माना जा सकता है? अपने मिथ्या पक्षका

व्यामोह बड़ा खतरनाक होता है। 'केवलज्ञानका स्वीकार करनेमें अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है' यह बात कपोल-कल्पित और स्वगृहमान्य है। जो ऐसी बातको स्वीकार करता है उसके सम्यक्त्वका अभाव होनेसे उसके केवलज्ञानके स्वरूपकी श्रद्धा नहीं है ऐसा क्यों नहीं कहा जाय ?

यहांतक श्रीकानजीभाईके विचारोंपर विचार किया है। अब लेखकमहोदयके कथन पर विचार किया जाता है।

आगे इसी पृष्ठपर लिखा है कि– गहराईसे विचार करें तो क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें ही अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थका कार्य है, क्यों कि क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें सर्वज्ञताका निर्णय समाहित है। जिस-प्रकार सर्वज्ञताकी प्रतीति-आस्थाके विना क्रमबद्धपर्यायका निर्णय संभव नहीं हैं उसीप्रकार क्रमबद्धपर्यायके सम्यक् निर्णय विना सर्वज्ञताकी भी सच्ची प्रतीति संभव नहीं है।

लेखकमहोदयने पृ. ७० पर लिखा है– 'उनके (सर्वज्ञके) वीर्यगुणका पूर्ण विकास हो चुका है, फिर क्या वे अनंतवीर्यके धनी…नहीं है?' इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनंतवीर्य सर्वज्ञके ही है इस बातको लेखकमहोदयने स्वीकार किया है। उसी वाक्यमें 'अनन्तवीर्यके धनी अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थी नहीं है?' इन शब्दोंके द्वारा उन्होंने अनंतवीर्य और अनंत पुरुषार्थ इनको एक-अभिन्न मान लिया है। उन्होंने 'क्रमबद्धपर्यायके निर्णय में ही अनन्तपुरुषार्थ आ जाता है' ऐसा जो कहा है उसका अर्थ 'क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें अनन्तवीर्य आ जाता है' ऐसा होता है। इसका अर्थ छद्मस्थके भी अनन्तवीर्य होता है ऐसा होता है।

अत: प्रश्न खडा हो जाता है कि सर्वज्ञ जिसप्रकार अनन्तवीर्य-वान् होते हैं उसप्रकार छद्मस्थ भी अनन्तवीर्यवान् होता है क्या? यदि नहीं तो क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेवाले के क्रमबद्धपर्याय के निर्णयमें अनन्तपुरुषार्थ-अनन्तवीर्य आ जाता है इस कथनका अर्थ क्या है? अत: इस कथनकी अविचारितरमणीयता सिद्ध हो जाती है। 'क्रमबद्धपर्यायका निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थका कार्य है, क्योंकि क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें सर्वज्ञता का निर्णय आ जाता है' इस वाक्यके द्वारा क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करने-वालेके भी अनन्तवीर्य होता है यह भाव स्पष्ट हो जाता है। इस वाक्यके कारण 'छद्मस्थके भी अनंतवीर्य होता है' इस अभिप्रायको लेखक स्वीकार करते हैं यह भाव स्पष्ट होता है। 'क्यों कि क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें सर्वज्ञका निर्णय आ जाता है' यह हेतुवाक्य हेत्वाभासरूप है। शंकराचार्यने अपने शांकरभाष्य-में सर्वज्ञ की सिद्धि की है अर्थात् सर्वज्ञका निर्णय किया है। क्या यह सर्वज्ञका निर्णय शंकराचार्यने क्रमबद्धपर्यायके निर्णयसे सर्व-ज्ञका निर्णय किया है? यदि नहीं तो क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें सर्वज्ञका निर्णय कैसे आ सकता है? शंकराचार्यको सर्वज्ञता की प्रतीति-आस्था थी। यदि उन्हें आस्था न होती तो वे सर्वज्ञकी सिद्धि क्यों करते? इस आस्था के कारण शंकराचार्यने भी क्रम-बद्धपर्यायका निर्णय किया था ऐसा कहा जा सकता है क्या? 'क्रमबद्धपर्यायके सम्यक् निर्णय विना सर्वज्ञता की भी सच्ची प्रतीति संभव नहीं है' इस वाक्यसे सर्वज्ञताकी सच्ची प्रतीति और क्रमबद्धपर्यायका निर्णय इनमें कार्यकारणभावको लेखक महोदयने मान लिया है यह स्पष्ट हो जाता है। इस वाक्यके

अनुसार श्री शंकराचार्य क्रमबद्धपर्यायके सम्यक् निर्णायक थे ऐसा माना जा सकता है क्या ?

क्रमबद्धपर्यायका निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थका कार्य है इसकी सिद्धि नहीं की गयी है। जब क्रमबद्धपर्यायका अस्तित्व गधेके सींग के समान है तब उसके निर्णयमें सर्वज्ञताका निर्णय समाहित है यह कथन अविचारितरमणीय बन जाता है। ऐसे निर्मूल कथनसे वस्तुस्थितिका निर्णय नहीं हो सकता। सर्वज्ञकी निर्णीतिके होनेपर क्रमबद्धपर्यायकी निर्णीति होती है और क्रम-बद्धपर्यायकी निर्णीति होनेपर सर्वज्ञता को निर्णीति होती है यह कथन अन्योन्याश्रयदोषसे दूषित होनेसे वस्तुस्थिति-व्यवस्थापक नहीं हो सकता।

आगे पृ. ७३ पर लिखा है कि– 'अब रही परकर्तृत्वके अहंकारकी बात जिसे यह अज्ञानी जगत पुरुषार्थ माने बैठा है, सो यह पुरुषार्थ सो टूटना ही चाहिये क्यों कि वह सच्चा पुरु-षार्थ नहीं है, वह तो नपुंसकता है। यदि क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धासे परकर्तृत्व का अहंकार भी न टूटा तो समझना चाहिये कि 'क्रमबद्धपर्याय उसकी समझमें आई ही नहीं है। क्रमबद्ध-पर्याय की सच्ची श्रद्धाका फल तो अहंकार टूटकर अन्तरोन्मुखी सम्यक्पुरुषार्थका जागृत होना ही है।'

परद्रव्य की पर्यायका उपादानकर्ता न होनेपर भी केवल निमित्तकर्ता होनेसे जो अपनेको परद्रव्यकी पर्यायका उपादान-कर्ता मानता है वह निश्चितरूपसे मिथ्यादृष्टि होता है; इसी-प्रकार परद्रव्यकी पर्यायका निमित्तकर्ता होनेपर भी अपनेको जो उस पर्यायका निमित्तकर्ता नहीं मानता वह भी मिथ्यादृष्टि है।

परद्रव्यकी पर्यायकी उत्पत्तिमें सहकारिकारण होना उपचरित नहीं है किन्तु परमार्थत: कर्ता न होनेपर भी केवल सहकारी होनेके कारण निमित्तको कर्ता कहना उपचरित है। परद्रव्यकी पर्यायकी उत्पत्तिमें अन्य द्रव्यका सहकारी होना प्रतीतिसिद्ध है। प्रतीतिसिद्ध और आगमसमर्थित बात को न मानना कहां की बुद्धिमानी है? कर्मयोग्यपुद्गलवर्गणाओंकी कर्मरूपपर्यायके रूपसे होनेवाली परिणतिमें जीवके विभावभावोंकी निमित्तता को और जीवके विभावभावरूपसे होनेवाली परिणतिमें कर्मोदय-को निमित्त न मानना आगमका विरोध करना है। मोटर के भागनेमें ड्राइव्हर और पेट्रोल को सहकारिकारण न मानना प्रत्यक्षविरोध नहीं है तो क्या है?

विभावभाव शुद्ध आत्माके उपादेय नहीं हैं इस दृष्टिसे विभावभाव परभाव जरूर हैं; क्यों कि शुद्ध आत्मासे कथंचित् भिन्न अशुद्ध आत्माके परिणाम हैं। इन भावोंका अशुद्ध आत्मा भी उपादानकर्ता नहीं होता यह कथन युक्त्यागमप्रतीतिसिद्ध नहीं है। शुद्ध आत्मा इन विभावभावों का उपादानकर्ता नहीं होता यह कथन ठीक है। विभावभावरूप परभावोंका अशुद्ध अज्ञानी आत्मा उपादानकर्ता नहीं है तो कौन उपादानकर्ता है? यदि अशुद्ध आत्मा भी उपादानकर्ता नहीं है तो क्या अचेतन-पदार्थ उन अशुद्धचेतनान्वित विभावभावोंका उपादानकर्ता है या उन विभावभावों का अस्तित्व ही नहीं है? यदि इनका सर्वथा अभाव माना तो जीव का सदाशिवत्व सिद्ध हो जायेगा। ऐसे परभावों की उत्पत्तिके लिए किया जानेवाला पुरुषार्थ कुपुरुषार्थ है इसमें सन्देह नहीं। ऐसा पुरुषार्थ टूटना ही चाहिये

यह ठीक है, किंतु पुरुषार्थसंपन्न जीवको नपुंसक कहना धृष्टता है; क्यों कि हीनगत्यादि उसका फलितार्थ है, वह निष्फल नहीं है। रागादि का अभाव जिससे होता है ऐसे महा-व्रतको सिर्फ शरीर की क्रिया बताकर उसका पालन न करना षंढत्व है या नहीं? महाव्रतपालनरूप पुरुषार्थ करनेवालों को जो नपुंसक बताता है वह नपुंसक ही होता है; क्यों कि वह चारित्रपालनरूप पुरुषार्थविहीन होता है। पौरुषहीन और नपुंसक परस्परभिन्न नहीं है। जो स्वयं षंढ होता है वह दूसरों को उसी दृष्टिसे देखता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा और परकर्तृत्वके अहंकारका टूटना इनमें कार्यकारणभाव की सिद्धि की जाती तो उक्त कथनका भाव समझमें आ जाता। पर्याय की उत्पत्ति का क्रम निश्चित होनेसे अर्थात् पर्याय निश्चितरूपसे उत्पन्न होनेवाली होनेसे उसकी उत्पत्तिके लिए पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है यह भाव सामान्यत: उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रमबद्धपर्याय की अश्रद्धा भी एक पर्याय ही है और डॉ. साहबके कथनानुसार पर्याय जब सहज ही उत्पन्न होती है (पृ. ५०) तब पुरुषार्थ की आवश्यकता कैसे महसूस हो सकती है? अत: पुरुषार्थ का निर्देश व्यर्थ सिद्ध होता है। प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेदसे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं। वैस्रसिक पर्याय पुरुषप्रयत्नसापेक्ष नहीं है। कर्मकी उदय-रूप पर्याय वैस्रसिक होनेसे पुरुषार्थसापेक्ष नहीं होती। आमका पेड़पर ही पक जाना आमकी वैस्रसिकपर्याय है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि — " जिन लोगोंको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धामें पुरुषार्थ उड़ता हुआ नजर आता है, वस्तुतः पुरुषार्थका सही स्वरूप ही उनकी समझमें नहीं

आया है। वे परकर्तृत्व और पर्यायके हेर-फेर को पुरुषार्थ माने बैठे हैं। उन्हें सर्वप्रथम पुरुषार्थ के सम्यक् स्वरूप का गंभीरतासे विचार करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि उनकी दृष्टिमें पुरुषार्थ का सही स्वरूप स्पष्ट होते ही उनकी शंका-आशंका स्वतः समाप्त हो जायेगी, इसके बिना उक्त शंका का निवारण संभव नहीं है। अतः उनसे पुरुषार्थके सही स्वरूपका गंभीरतासे विचार करनेका विनम्र अनुरोध है।"

डॉ. साहबकी क्रमबद्धपर्यायविषयक श्रद्धा जब दृढ है तब उसके विषयमें उनकी शंका-आशंका समाप्त हो गई है यह स्पष्ट हो जाता है। जब उनकी शंका-आशंका समाप्त हो गई है तब उनकी दृष्टिमें पुरुषार्थका सही स्वरूप स्पष्ट हो गया है यह स्पष्ट हो जाता है। जब की उनकी दृष्टिमें पुरुषार्थका सही स्वरूप स्पष्ट हुआ है तब पुरुषार्थके सही स्वरूपको स्वयं स्पष्ट न कर लोगोंको ही पुरुषार्थके सही स्वरूप के विषयमें गंभीरतासे विचार करनेका उन्होंने विनम्र अनुरोध क्यों किया है? उन्होंने पुरुषार्थके सही स्वरूपको स्वयं स्पष्ट क्यों नहीं किया? इस उनके द्वारा किये गये विनम्र अनुरोधसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको भी पुरुषार्थका सही स्वरूप ज्ञात नहीं है। अतः क्रमबद्ध-पर्यायकी श्रद्धामें अनंत पुरुषार्थ आ ही जाता है यह उनका कथन विश्वासयोग्य नहीं है यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है। डॉ. साहबने वीर्य और पुरुषार्थमें अभेद मानकर वीर्य को ही पुरुषार्थ समझ लिया है। पुरुषार्थ वीर्य या वीर्य पुरुषार्थ कैसे हो सकता है?

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि- "सर्वज्ञको धर्मका मूल कहा है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवानको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और

पर्यायरूपसे जानता है, वह अपने आत्माको भी जानता है। आचार्य कुंदकुंद अत्यंत स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो जीव अरहंत अर्थात् सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है, वह अपने आत्माको भी जानता है और उसका मोह अवश्य नाशको प्राप्त हो जाता है।

इस गाथामें मोहको जीतनेका उपाय बताया गया है। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मूलरूपसे तो यह कहा गया है कि– जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट होता है; पर साथ ही यह भी कहा गया है कि जो अरहंत भगवानको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है, वह अपने आत्माको जानता है–इसप्रकार मिथ्यात्वके नाशके लिए अरहंत भगवानको जानना भी अनिवार्य कर दिया गया है। मात्र अरहंत को नहीं, अपि तु उन्हें द्रव्यरूपसे, गुण-रूपसे और पर्यायरूपसे जानना अनिवार्य कहा है।

अपने आत्मा और अरहंत भगवानके द्रव्य–गुण तो एक समान शुद्ध हैं, पर वर्तमान पर्यायमें अंतर है। अपनी पर्याय अल्पविकसित और अशुद्ध है, उनकी पर्याय पूर्णविकसित और शुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेवने पूर्णता और शुद्धता जाननेको कहा है। इसतरह उन्होंने पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता के ज्ञानको मोह– (मिथ्यात्व) नाशके लिए अनिवार्य माना है। यही कारण है कि आत्मानुभूतिके साथ साथ सच्चे देवशास्त्र–गुरूकी सम्यक् पहिचान भी सम्यक्त्वप्राप्तिके लिए अनिवार्य है।"

प्रथम प्रवचनसारकी ऊपर उद्धृत की गई हुई गाथापर विचार किया जाता है। यहां ७९ वीं गाथा उद्धृत की जाती है–

"अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चारित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि। ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभः इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते –

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादि ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।।

य खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायाऽपि शुभोपयोगवृत्त्या आटिकाभिसारिकया[1] इव अभिसार्यमाणः न मोहवाहिनीविधेयतां अवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसंकटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते। अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ।। "

"सभी पापयोगोंका उल्लंघन करके अर्थात् गृहवासादिरूप समस्त पापमय आरंभोंका त्याग करके चारित्रको प्राप्त हुवा होनेपर भी अर्थात् महाव्रतको धारण करने पर भी शुभोपयोगके पीछे लग जानेके कारण में मोहादिको उखाड़कर नहीं फेंक दे रहा हूं। मोहादिको उखाड़कर न फेंक देनेके कारण मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति कैसे होगी ऐसा विचार करके सभी प्रकारके प्रयत्न करनेके लिए प्रवृत्त होता है–

पापमय आरंभ का त्याग करके पुनः शुभचारित्रमें–शुभाचरणमें प्रवृत्त हुआ जीव यदि मोह आदिका त्याग नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं कर ले सकता है।

१– आटाय गमनाय प्रवृत्तः आटिकः। ठण्। आटिकी स्त्री। अनुपजातपयोधरादिस्त्रीव्यंजना स्त्री।

जो सभी पापमय आरंभोंके साथ संबंध को छोड देना स्वरूप होता है जिसका ऐसे परमसामायिकनामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी जिसका घुमक्कड (भ्रमण करनेवाली) अभिसारिकाके द्वारा पीछा किया जाता है ऐसे पुरुषके समान जिसका शुभोपयोगवृत्तिके द्वारा पीछा किया जा रहा है ऐसा जो (महाव्रती) जीव मोहसेना की अधीनता को छोड़ता नहीं, जिसके पास जिसमें महादुःख है ऐसा संकट आ पहुंचा है वह शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर ले सकता है ? अतः मैंने मोहसेनाको जीतनेके लिए कमर बांध ली है"

इस गाथाके अनुवादसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस गाथाके द्वारा महाव्रती जीवका ग्रहण किया गया है। जिस महाव्रतीका यहां ग्रहण किया गया है वह शुभोपयोगी ही है। जब तक महाव्रती शुभोपयोगकी निवृत्ति करके शुद्धोपयोगी नहीं बनता तबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: यहां भावलिंगी महाव्रतीका ग्रहण अभीष्ट है यह स्पष्ट हो जाता है। यदि यहां द्रव्यलिंगीका भी या मिथ्यादृष्टिका भी ग्रहण अभीष्ट होता तो 'शुभाशुभोपयोगवृत्त्या' ऐसे शब्दका अवश्य प्रयोग किया जाता; क्यों कि शुभाशुभोपयोगका अभाव किये बिना शुद्धोपयोगके रूपसे जीव की परिणति नहीं होती। यहां तो केवल शुभोपयोगका अभाव करनेका उपदेश है। इससे यहां सम्यग्दृष्टि महाव्रतीका ही ग्रहण अभीष्ट है यह स्पष्ट हो जाता है। यहां कौनसे सम्यग्दृष्टिका ग्रहण अभीष्ट है ऐसा प्रश्न खडा हो जाता है। यहां न उपशमसम्यक्त्ववाले जीवका ग्रहण अभीष्ट है और न क्षायिक सम्यक्त्ववालेका भी ग्रहण अभीष्ट है; क्योंकि 'मोहादिन्' इस शब्दका प्रयोग किया गया है। इस मोहादि-

शब्दसे राग और द्वेषका ग्रहण होता है। मोहशब्दसे दर्शनमोह-नीय की सम्यक्त्व प्रकृतिका ग्रहण होता है। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयके कारण ही सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अतः इस गाथामें क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसंपन्न महाव्रतीका ग्रहण किया गया है यह स्पष्ट हो जाता है।

अब गाथा ८० पर विचार किया जाता है।

" अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनी ' इति उपायमा-लोचयति-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति. उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्ह-तोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपम्। तत-स्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्याया.। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्य (न्ति?) ति। यश्चेतनोऽ-यमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणमिति गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिणामतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाः। चिद्विवर्त्तनग्रन्थय इति यावत्। अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव चैतन्यमभ्यर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमाण-कर्तृकर्मक्रियाविभागतया नि.क्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जात्यस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रय-

तथा मोहतमः प्रलीयते । यद्येवं, लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपाय. । "

'अब मेरे द्वारा मोहसेना कैसे जीति जावे' इसप्रकार उपायविषयक विचार करते हैं –

'जो द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे अरहंत भगवान को जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोहनीयकर्म निश्चयसे नाशको प्राप्त हो जाता है।'

'जो द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे अरहंत भगवानको जानता है वह निश्चितरूपसे अरहंत भगवानको जानता है; क्योंकि अरहंत भगवान और आत्मा इनमें निश्चयनयकी दृष्टीसे भेद नहीं है अर्थात् दोनों समान हैं। जिसप्रकार अंतिम पाकसे निकला हुआ सोना निर्मल होता है उसप्रकार अरहंतभगवानका भी आत्मस्वरूप निर्मल होता है। उसकारण अर्थात् अरहंतभगवानका आत्मस्वरूप निर्मल होनेसे अर्हन्तभगवान को जाननेपर सभी आत्माओंके स्वरूपका ज्ञान होता है। जो अन्वय अर्थात् अपनी सभी पर्यायोंमें अनुगमन करता है वह द्रव्य होता है, जो अन्वयका-द्रव्यका विशेषण होता है अर्थात् द्रव्यको जो अन्यद्रव्योंसे पृथक् करता है वह गुण है और द्रव्यके जो अन्य आकारके रूपसे (Transformation) परिणमन होते हैं वे पर्याय हैं। सभी प्रकारोंसे विशुद्ध अरहंतभगवानने तीन भूमिकावाले अर्थात् द्रव्यगुणपर्यायात्मक समयको (जीवको) अपने मनके द्वारा देखा है, जो यह चेतन है इसप्रकार का अन्वय वह द्रव्य (जीव) है, जो अन्वयाश्रित ऐसा चैतन्यरूप विशेषण है वह गुण है अर्थात् चैतन्य यह गुण है; [क्यों कि वह आत्माको

अचेतन पदार्थोंसे (Distinguishes) पृथक् करता है] और जो एकसमयरूप निश्चितकालपरिमाणवाला होनेके कारण एकदूसरेसे अलग हुए अन्वयके अर्थात् आत्मद्रव्यके भेद-परिणाम वे पर्याय होते हैं अर्थात् आत्माकी पर्यायोंके समूहरूप हैं। लंबमान मोतियोंकी मालामें जिसप्रकार मोती पोये जाते हैं उसप्रकार आत्माकी पर्यायोंकी आत्मामें ही अन्तर्भूत करके, विशेषण-विशेष्यत्वके संस्कार को छिपाकर शुभ्रताको जिसप्रकार मोतियोंकी मालामें समाविष्ट किया जाता है उसप्रकार आत्माकी पर्यायोंको आत्मामें ही समाविष्ट करके जिसप्रकार केवल मोतियोंकी माला को ही जाना जाता है उसप्रकार केवल आत्माको जाननेवालेके उस (ध्यान) के उत्तरोत्तर क्षणमें कर्तृकर्मक्रियाविभाग क्षीण होने लग जानेसे जो निष्क्रिय आत्ममात्र भावको (द्रव्यको) प्राप्त हुआ होता है ऐसे, तीन कालवर्ती आत्माका एक कालमें जो चिंतन-ध्यान करता है ऐसे, जिसप्रकार उत्कृष्ट रत्नका निश्चल और निर्मल प्रकाश उत्पन्न-व्यक्त होता है उसप्रकार निष्कम्परूपसे-अचल-रूपसे प्रकट हुए निर्मल प्रकाशवाले-ज्ञानवाले का आश्रयरहित होनेके कारण मोहांधकार नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो अर्थात् उक्तप्रकारसे मोहांधकारका-संपूर्ण मोहनीयरूप भाव-कर्मका नाश होता हो तो मोहकी सेनापर विजय पानेका उपाय मुझे मिल गया-मेरे द्वारा जाना गया।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि आत्माके गुण-पर्यायोंको आत्मामें अन्तर्भूत करके जो उसका ध्यान करता है उसके मोहकर्मका पूर्णतया विलय-नाश हो जाता है इस बातको जानकर षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनिका अगाढ सम्यक्त्व गाढ हो

जाता है तब दर्शनमोहनीयका पूर्ण अभाव हो जाता है। जिस-समय क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका आविर्भाव होता है उससमय दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन प्रकृतियोंका ही अभाव होता है और देशघाति सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय हुआ होनेसे दर्शनमोहनीयका पूर्णरूपसे अभाव हुआ नहीं होता। जब सम्यक्त्वप्रकृतिका अभाव होता है तब ही दर्शनमोहनीयका पूर्णरूपसे अभाव होता हैं। सारांश, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों का अभाव होनेपर ही दर्शनमोहनीयका पूर्णरूपसे अभाव होता है, एक प्रकृतिका अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिका जबतक अभाव नहीं होता तबतक दर्शनमोहनीयका पूर्णरूपसे अभाव नहीं होता। आचार्य जयसेनविरचित तात्पर्यवृत्तिके 'पूर्वोक्तद्रव्यगुण-पर्याया अभेदनयेन आत्मा एव इति भावयतो दर्शन-मोहान्धकारः प्रलीयते' इस वाक्यसे भी पूर्वोक्तभाव ही व्यक्त होता है। 'पूर्वोक्त द्रव्यगुणपर्याय अभेदनयकी-निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्मा ही है इसप्रकार चिन्तन करनेवाले (षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि) के दर्शनमोहरूप अंधकारका नाश हो जाता है' इस वाक्यमें स्थित (आत्मा एव) 'आत्मा ही है' इन शब्दोंसे उसकी जो श्रद्धा गाढ नहीं थी वह गाढ हो गई है यह भाव स्पष्ट हो जाता है। अगाढ श्रद्धाका गाढ श्रद्धाके रूपसे परिवर्तन होना सम्यक्त्व प्रकृतिके कार्यका अभाव होना है। अतः आचार्य जयसेनजीके कथन का भाव भी उक्तप्रकारका ही है यह स्पष्ट हो जाता है। सारांश, 'दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते' इन शब्दोंसे प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति सूचित नहीं होती और क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति भी सूचित नहीं होती।

गाथा ८१ की तत्त्वदीपिकाके ' एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्याऽपि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्याऽपि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धात्मानमनुभवति ' इस वाक्यसे भी पूर्वोक्त अर्थका समर्थन होता है। ' मोहमपसार्य ' इस पदसमूहका अर्थ ' शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः ' इस शब्दके द्वारा समर्थन होता है। अतः ' मोहमपसार्य ' इस पदसमूह का अर्थ ' दर्शनमोहका (पूर्णतया) विनाश करके ' ऐसा होता है।

इस विवेचनसे ' इस प्रकार मिथ्यात्वके नाशके लिए अरहंतभगवान को जानना भी अनिवार्य कर दिया है ' यह निष्कर्ष जो डॉ. साहबने गाथा ८० से निकाला है वह गलत है। मिथ्यात्व दर्शनमोह की एक प्रकृती है। उसके नाशसे दर्शन-मोहका नाश नहीं होता। मिथ्यात्व प्रकृतिके नाशसे सम्यक्त्व-प्रकृतिका नाश नहीं होता। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका अभाव अवश्य होता है; क्यों कि मिथ्यात्वप्रकृतिका नाश होनेसे दोनों मेंसे एक प्रकृतिका नाश होनेके कारण मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यक्त्वप्रकृति इन दोनों के मेलसे मिश्रणरूप सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिका अस्तित्व नहीं बन सकता। सारांश, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीनों प्रकृतियोंके नाश से दर्शनमोहनीयका पूर्ण नाश होता है। ऊपर उद्धृत किये वाक्यमें ' भी ' इस शब्दका प्रयोग करके डॉ. साहबने मिथ्यात्व के नाशकी क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धाकी मुख्यकारणता को सूचित कर अरहंत भगवानके जाननेको गौण कारण ध्वनित किया है। जिसप्रकार उन्होंने मिथ्यात्वके नाशके लिए प्रवचनसार की ८० वी गाथा प्रमाणरूपमें पेश की है उसप्रकार मिथ्यात्वके नाशके

लिए क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धाको मुख्य कारण बतानेवाला शास्त्रीय प्रमाण पेश नहीं किया है।

आगे पृ. ७४ पर लिखा है कि-'अपने आत्मा और अरहंत भगवानके द्रव्यगुण तो एक समान ही शुद्ध हैं। पर वर्तमान पर्यायमें अन्तर है। अपनी पर्याय अल्पविकसित और अशुद्ध है, उनकी पर्याय पूर्ण विकसित और शुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य देवने पूर्णता और शुद्धता जाननेको कहा है। इसतरह उन्होंने पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञताके ज्ञानको मोह (मिथ्यात्व) नाश के लिए अनिवार्य माना है। यहि कारण है कि आत्मानुभूतिके साथ साथ सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी सम्यक् पहिचान भी सम्यक्त्वप्राप्ति के लिए अनिवार्य है। जब सर्वज्ञता हमारा लक्ष्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, उसे प्राप्त करनेके लिए हि सारा यत्न है; तो फिर उसके सच्चे स्वरूपके पहिचानबिना उसे प्राप्त करनेका मार्ग कैसे आरंभ हो सकता है? शुद्ध निश्चयनय की दृष्टीसे अपना आत्मा, अपने गुण और पर्यायें शुद्ध होनेसे और भगवान अरहंतके द्रव्य,-गुण-पर्यायें शुद्ध होनेसे अपना आत्मा और भगवानका आत्मा इनमें भेद नहीं है, समानता है। व्यवहार नयकी दृष्टीसे अपना आत्मा, अपने गुण और अपनी पर्यायें अशुद्ध होनेसे अपना आत्मा और भगवान अरहंत का आत्मा इनमें भेद होता है। 'अपने आत्मा और अरहंत भगवानके द्रव्य-गुण तो समान ही शुद्ध है, पर वर्तमान पर्यायमें अन्तर है'. यह डॉ. साहबका कथन नयदृष्टिको छोडकर किया गया है। अपने द्रव्य-गुण अशुद्ध नहीं है क्या? यदि है तो भगवान अरहंतके द्रव्य-गुणके समान कैसे हो सकते हैं? अपने द्रव्यगुणपर्याय अशुद्ध होनेसे भगवानके द्रव्य-गुणपर्यायोंसे भिन्न

है। यह भेदका प्रतिपादन व्यवहारनयाश्रित है। अपने और भगवान अरहंतोंके द्रव्यगुणपर्यायोंमें कथंचित् असमानता होती है। असमानताका नाश करके समानताकी प्राप्ति कर लेनेके लिए पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है।

प्रवचनसार गाथा ८० के द्वारा और उसकी दोनों टीकाओं के द्वारा मिथ्यात्वके नाशके लिए पूर्णवीतरागता और सर्वज्ञताके ज्ञानको अनिवार्य नहीं माना है। यह डॉ. साहब की मान्यता गलत है। अरहंतको—सर्वज्ञभगवान को द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्वों से जाननेसे भावलिंगी अर्थात् षष्ठगुणस्थान-वर्ती मुनि शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे भगवान की आत्मा और अपना आत्मा इनमें समानता होती है ऐसा जानकर जब गाढ श्रद्धावाला बनता है तब उसके दर्शनमोहकी सम्यक्त्वप्रकृतिका नाश हो जाता है और अपने पुरुषार्थके द्वारा रागद्वेषका नाश करके मोहसेनापर विजय पाता है ऐसा उस गाथा का अभि-प्राय है। यह अभिप्राय इसके पहले स्पष्ट कर दिया है। शिव-भूति मुनिराज को न पूर्ण वीतरागता का ज्ञान था और न सर्वज्ञताका ज्ञान था। इस ज्ञानके अभावके कारण वे मिथ्या-दृष्टि थे क्या? सम्यग्दृष्टि को ऐसा ज्ञान होता ही है क्या? इस गाथामें जब भावलिंगी षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया हुआ पाया जाता है तब उनको मिथ्यादृष्टि कैसे माना जा सकता है? सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होनेसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है क्या? सम्यग्दृष्टि नहीं होता क्या? आचार्योंने पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता के ज्ञान को मोह (मिथ्यात्व) नाश के लिए अनिवार्य नहीं माना है। प्रवचन-सार की गाथा ८० का अर्थ ठीक न जाननेके कारण डॉ.

साहबने ऐसा विपरीत भाव व्यक्त किया है। मिथ्यात्व की भाँति पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञताके ज्ञानसे होता है क्या ? यदि ऐसा होता हो तो पूर्ण वीतरागता का और सर्वज्ञता का ज्ञान मिथ्यात्व अवस्थामें होता है ऐसा मानना पड़ेगा। मिथ्यात्व अवस्थामें यह ज्ञान हो सकता है क्या ? क्या मिथ्यादृष्टि द्रव्य-गुण-पर्यायत्वों से जान सकता है ? इस प्रकार अर्हन्तभगवान को जाननेवाला जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसम्पन्न महाव्रती होता है ऐसा स्पष्ट कथन आचार्योंने किया है। सम्यक्त्व-प्राप्तिके लिए आत्मानुभूति अनिवार्य है यह डॉ. साहबका कथन आगमविरुद्ध है। आचार्य अमृतचंद्रसूरीने प्रवचनसार की ८१ वी गाथा की तत्त्वदिपिका में 'एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्याऽपि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम राग-द्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति' ऐसा लिखकर दर्शनमोहको नष्ट करके अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति कर लेनेपर जब रागद्वेषका समूल नाश करता है तब ही जीव शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है यह स्पष्ट कर दिया है। शुद्धात्मानुभूति वीतरागचारित्ररूप है और वीतरागचारित्रके प्रतिबन्धक कारण रागद्वेष हैं। अनन्तानुबन्धीका समूल नाश करनेसे रागद्वेषका समूल नाश नहीं होता ; क्यों कि अनन्तानुबन्धीका समूल नाश होनेपर भी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रागद्वेष का सद्भाव बना रहता है। रागद्वेषका निर्मूलन -समूल नाश क्षीण-कषाय गुणस्थानमें होता है। आठवेंसे दसवें तकके गुणस्थानोंमें संज्वलन कषायका उदय मंदतम होनेसे वह निर्विकल्पसमाधिका बाधक नहीं होता। इसप्रकार रागद्वेषका नाश करनेपर षष्ठ-गुणस्थानवर्ती जीव आगे बढ़कर जब शुद्ध आत्माका अनुभव

कर सकता है तब शुद्धात्मानुभवको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण मानकर मिथ्यात्व अवस्थामें आत्मानुभव होता है ऐसा मानना आगमविरुद्ध है। डॉ. साहबने प्रवचनसार की गाथा ८० तो देखी; किन्तु ८१ वी गाथा और उसकी तत्त्वदीपिका- नामक टीका नहीं देख सके यह बडे आश्चर्य की बात है। अस्तु। जब जीव अरहंतभगवान का आत्मा और अपना आत्मा इनमें निश्चयनयकी दृष्टिसे समानता को जान लेता है तब परभावों को अपने आत्मासे अलग किये विना अपने को शुद्ध आत्माका अनुभव प्राप्त होना असंभव है ऐसा निश्चित जानता है। यही भेदज्ञान है। जिन आचार्य अमृतचंद्रसूरीने गाथा ८० की टीका लिखी थी उन्होंने ही

'भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन। तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥'

यह कलश लिखा था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है गाथा ८० का अर्थ भेदविज्ञानका कारण है। अल्पज्ञानी शिवभूतिमुनिको आत्मासे शरीर भिन्न है यही भेदविज्ञानका पाठ पढाया गया था। इस वचनपर उनकी गाढ श्रद्धा थी। इस श्रद्धाके बलपर अर्थात् भेदज्ञानके बलपर उन्होंने मोक्ष की प्राप्ति कर ली थी। दीक्षा ग्रहणके समय उन्हें न पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता का ज्ञान था और न क्रमबद्धपर्यायका भी।

आगे पृष्ठ ७५ पर लिखा है कि- "मोहका नाश कर आत्मश्रद्धान-ज्ञान और आत्मलीनताके इच्छुक जनोंको अनन्त पुरुषार्थपूर्वक मर-पच के भी सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञताके निर्णयमें क्रमबद्धपर्यायका निर्णय समाहित

है। सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय ज्ञायकस्वभावके सन्मुख होकर ही होता है। ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखता ही मुक्ति–महलकी प्रथम सीढी है; उसपर आरोहण का अनन्तपुरुषार्थ क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामें समाहित है। इसप्रकार 'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय एक प्रकारसे परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय (सच्ची समझ) दूसरेके निर्णयके साथ जुड़ा हुआ है। दोनों का ही निर्णय सर्वज्ञ–स्वभावी निज आत्माके सन्मुख होकर होता है। यदि कोई व्यक्ति परोन्मुखी वृत्तिद्वारा 'सर्वज्ञता' या 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करनेका यत्न करे तो वह कभी सफल नहीं होगा।"

आत्मश्रद्धानके और आत्मज्ञानके लिए सात प्रकृतियोंके अभावकी आवश्यकता होती है और आत्मलीनताके लिए चारित्रमोहनीयके अभावकी आवश्यकता होती है। सर्वज्ञताका निर्णय किया जानेपर भी दर्शनमोहनीयका और चारित्रमोहनीय का अभाव आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और वीतरागचारित्ररूप आत्मलीनता की प्राप्ति का कारण होता है। सर्वज्ञताका निर्णय मिथ्यात्वी भी करते हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टिकृत सर्वज्ञताका निर्णय भिन्न होता है। सर्वज्ञता अरहंत भगवानका एक अंग है। आत्मानुभूतिमें सतत रहना यह उनका मुख्य स्वरूप है। क्रमबद्धपर्यायके निर्णयकी श्रद्धा लोगोंमें उत्पन्न करनेके लिए सर्वज्ञताके निर्णयका नारा लगाया जा रहा है। कर्मनियमितपर्यायक्रम को जिनेन्द्र–भगवान अवश्य जानते हैं। उस क्रमकी श्रद्धा अवश्य जानते हैं। उस क्रमकी श्रद्धा अवश्य करनी चाहिए इसमें संदेह नहीं, किंतु उस क्रमका ज्ञान न होनेसे जीव मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जा सकता। क्रमनियमितपर्याय को सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण भी

नहीं माना जा सकता। क्रमनियमितपर्यायके ज्ञानको शास्त्रोंमें सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं माना गया है। वस्तुतः आत्म-लीनताका मुख्य कारण दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का अभाव है। इस अभावके कारण ही निर्मल भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। स्वपरके स्वरूपके ज्ञानसे ही भेदविज्ञान होता है और स्वपरका भेद मोहनीयके अभावसे होता है। अर्हन्तभगवानके स्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। अन्य पदार्थ अशुद्ध चेतन और अचेतन होते हैं और प्रदेशभेदके कारण भिन्न शुद्ध आत्मा भी भिन्न होता है इसकारण ये अपने शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे पर हैं। निर्मलभेदज्ञान ही शुद्धस्वरूपोपलब्धिका साधन है। रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए सर्वज्ञताके निर्णयकी आवश्यकता कौनसे शास्त्रमें बताई गई है? आगमोक्त विषयका निर्णय नहीं कर सकनेपर आगममें जो कहा है वह यथार्थ है इसप्रकार का दृढ श्रद्धान सम्यक्त्वरूप नहीं है? ऐसे श्रद्धान को आगममें सम्यक्त्वरूप बताया है। अरहंत भगवान सर्वज्ञ होते हैं इस आगमोपदेशके श्रद्धानको सम्यक्त्व नहीं मान सकते क्या? इस श्रद्धानके लिए निर्णय की आवश्यकता क्यों है?

सम्यग्दृष्टि ज्ञायक स्वभावसन्मुख होता ही है; क्यों कि उसके विना सम्यक्त्वका अस्तित्व बन नहीं सकता। जब सम्य-क्त्वी बनता है तब ज्ञायकस्वभावसन्मुखता सहज होती है, उसके लिए अनन्तपुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। जब ज्ञानकी अनन्तता व्यक्त हुई नहीं होती तब वीर्यकी भी अनन्तता व्यक्त हुई नहीं होती। अनन्तवीर्यके अभावमें अनन्तपुरुषार्थ का भी अभाव होता है। जब क्रमबद्धपर्यायका अभाव होता है और

अनंत पुरुषार्थका भी अभाव होता है तब क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा-में अनन्त पुरुषार्थका समाहित होना बनता ही नहीं। अतः उस कथनका मूल्य शून्य है।

यद्यपि शिवभूति अल्पज्ञ थे तो भी सम्यग्दृष्टि थे। देव-शास्त्रगुरुपर उनकी श्रद्धा दृढ थी। इन तीनोंकी श्रद्धा होना ही स्वभावसन्मुख होना है। यदि वे स्वभावविमुख होते तो जिन-लिंगको धारण क्यों करते और मोक्षकी प्राप्ति कैसे कर ले सकते थे?

'जो पर्यायोंकी क्रमबद्धताका निर्णय कर सकता है उसके ही सर्वज्ञता की सिद्धि होती है और जिसके सर्वज्ञता की सिद्धि हुई होती है वही पर्यायों की क्रमबद्धता का निर्णय कर सकता है' इसप्रकार इतरेतराश्रयनामक दोष आ जाता है। क्या छद्मस्थ पर्यायोंकी क्रमबद्धता का निर्णय कर सकता है? क्या पर्यायों की क्रमबद्धताका जो निर्णय करता है वह छद्मस्थ-असर्वज्ञ हो सकता है? 'सर्वज्ञता के निर्णयमें क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समाहित हैं' इस कथन को स्वीकार करनेसे ऊपर बताया हुआ इतरेतराश्रयदोष नहीं आता क्या? वस्तुतः पर्यायों की क्रमबद्धता को जाननेमात्रसे ही सर्वज्ञताकी सिद्धि नहीं होती। कालांतरित पर्यायोंको मात्र जाननेसे सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती। जो सूक्ष्म, कालांतरित, देशान्तरित और दूर अर्थों को जानता है वही सर्वज्ञ होता है। जो सर्वज्ञ होता है वह पर्यायों की क्रमबद्धता को जानता है इसमें संदेह नहीं। निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर माननेवालों के यहां जब पर्यायकी उत्पत्ति होना ही असंभव है तब असद्भूतपर्यायोंका क्रम भी

बनता नहीं और सर्वज्ञके ज्ञानका विषय बनना भी संभव नहीं। अत: डॉ. साहबकी ये सब बातें निराधार हैं। 'एक का निर्णय (सच्ची समझ) दूसरेके निर्णयके साथ जुडा हुआ है' इसका अर्थ 'क्रमबद्धपर्यायके निर्णयके साथ सर्वज्ञका निर्णय जुडा हुआ है और सर्वज्ञके निर्णयके साथ क्रमबद्धपर्यां का निर्णय जुडा हुआ है' ऐसा होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'क्रमबद्धपर्यायका निर्णय न हुआ तो सर्वज्ञका निर्णय नहीं होता और सर्वज्ञका निर्णय न हुआ तो क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नहीं होता।' सर्वज्ञका निर्णय जब होता है तब क्रमबद्धपर्याय का अभाव होता है। अत: क्रमबद्धपर्यायके निर्णयका अभाव होनेसे वह सर्वज्ञके निर्णयका कारण कैसे हो सकता है? क्रमबद्धपर्यायका निर्णय जब होता है तब सर्वज्ञके निर्णय का अभाव होता है। अत: क्रमबद्धपर्यायके निर्णयके समय सर्वज्ञके निर्णय का अभाव होनेसे वह सर्वज्ञका निर्णय क्रमबद्ध-पर्यायके निर्णय का कारण कैसे हो सकता है? वस्तुत: घाति-कर्मोंका नाश होनेपर जीव की सर्वज्ञता व्यक्त होती है। सर्वज्ञ बना हुआ जीव सब कुछ जाननेवाला होनेसे वह पर्यायों की क्रमबद्धता को जानता है ऐसा कहा जाता तो ठीक होता। युक्ति और युक्त्याभास इनमें होनेवाली परस्परविरूद्धता को जानना चाहिये।

आगे इसी पृष्ठपर लिखा है कि – 'सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञताका स्वरूप समझना है। जिसप्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ में आते हैं तो उसके पूर्व स्वप्नोंमें आते हैं; उसीप्रकार जिस आत्मामें सर्वज्ञता प्रगट

होती है, प्रगट होनेके पूर्व उसे वह समझमें आती है। सर्वज्ञता समझमें आये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। अभी तो सर्व-ज्ञता समझमें ही नहीं आ रही है, प्रगट होनेकी बात ही कहां है ? सर्वज्ञता की समझ बिना, स्वीकृति बिना धर्म की उत्पत्ति ही संभव नहीं है; तो फिर उसकि स्थिति, वृद्धि और पूर्णताका तो प्रश्न ही कहां उठता है? सर्वज्ञता की श्रद्धाके बिना देवशास्त्रगुरु की सच्ची श्रद्धा भी संभव नहीं हैं; क्यों कि सच्चे देवका स्वरूप ही सर्वज्ञता और वीतरागता है। शास्त्रका मूल भी सर्वज्ञ की वाणी है। गुरू भी तो सर्वज्ञकथितमार्गानुगामी होते हैं। साधुओं को आगमचक्षु कहा है। सर्वज्ञकथितमार्गका निरूपण शास्त्रोंमें है। शास्त्रों की प्रामाणिकता के अभावमें गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कैसे होगा ? अतः देवशास्त्रगुरुका सच्चा स्वरूप समझनेके लिए सर्वज्ञताका स्वरूप समझना अति आवश्यक है।'

तीर्थंकर भगवानके गर्भावतरणके पूर्व भगवान जिस माता के गर्भ में जिस समय अवतीर्ण होते हैं उसके पूर्व जिनमाता जिन सोलह स्वप्नों को देखती है उनमें एक भी स्वप्नमें भगवानके आनेका उल्लेख नहीं मिलता। महापुराण पर्व बारहवेंमें १०२ से १२० तक के श्लोकोंमें सोलह स्वप्नोंका वर्णन मिलता है। उनमें भगवान के अपनी माँ के स्वप्नमें आनेकी बातका निर्देश नहीं मिलता। सर्वज्ञता प्राप्त करनेका प्रथम उपाय सम्यक्त्व की प्राप्ति है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होते ही जीवमें देवशास्त्रगुरुविषयक श्रद्धा उत्पन्न होती है। शास्त्रस्वाध्याय और गुरूपदेशसे जीव शुद्धात्मस्वभावाभिमुख होता है। जो जीव सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होते ही शुद्धात्मस्वभावको जानता है वही उसके अभिमुख होता है। शुद्ध आत्माके स्वरूप को जानना ही सर्वज्ञका स्वरूप

समझना है। इसप्रकार विचार करनेपर स्पष्ट होता है कि सर्वज्ञताकी प्राप्तिका प्रारम्भिक उपाय सम्यक्त्व ही होनेसे सर्वज्ञके स्वरूपको समझनेका प्रारंभिक उपाय दूसरा नहीं है। जैन सिद्धान्तके अनुसार मोक्षकी प्राप्तिके अर्थात् सर्वज्ञताकी प्राप्तिके लिए पुरुषार्थ का प्रारंभ होता है और क्षीणकषाय बन जानेपर चारों घातिकर्मोंका नाश होकर सर्वज्ञताकी प्राप्ति होती है। यद्यपि जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान शुद्ध निश्चयनकी दृष्टिसे शुद्ध आत्माके नहीं है तो भी सम्यक्त्वीको अशुद्ध गुणस्थानक्रमसे शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्त करनी पड़ती है। क्या यह गुणस्थान-क्रम सर्वज्ञके द्वारा नहीं जाना जाता? ये चौदह गुणस्थान पर्यायरूप नहीं हैं? ये चौदह गुणस्थान क्रमबद्धपर्यायरूप नहीं हैं? जिस आत्मा में सर्वज्ञता प्रकट होती है वह निश्चितरूपसे सम्यक्त्वी होता है और सम्यक्त्वी होनेसे उसमें सर्वज्ञता प्रकट होनेके पूर्व सर्वज्ञता उसकी समझमें अवश्य आई हुई होती है। शिवभूति मुनिराजने जब मोक्षकी प्राप्ति कर ली थी तब उन्होंने सर्वज्ञताकी प्राप्ति कर ली थी यह अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जाता है। दीक्षाकालमे वे अल्पज्ञ थे, किन्तु सम्यक्त्वी थे। दिक्षाकालमें उन्हें सर्वज्ञताका स्वरूप ज्ञात नहीं था तो भी उन्होंने सर्वज्ञताकी प्राप्ति कर ली थी। दीक्षा ग्रहणके बाद योग्य समय आनेपर उन्हें सर्वज्ञताका स्वरूप अवश्य ज्ञात हुआ होना चाहिये। अतः सर्वज्ञताके स्वरूप की प्राप्तिके लिए जिसप्रकार प्रारंभिक उपाय सम्यक्त्व होता है उसप्रकार सर्वज्ञता का ज्ञान नहीं होता। सर्वज्ञता प्रकट होनेके पूर्व सर्वज्ञताका ज्ञान अवश्य होता है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह ज्ञान सर्वज्ञता की प्राप्तिका प्रारंभिक उपाय है। प्रतिसमय दो या तीन

सम्यक्त्वी होते हैं ऐसा आगमवचन है। सम्यक्त्वी को सर्वज्ञताका ज्ञान आजकल भी होता है। ऐसा होते हुए भी कालवशात् सर्वज्ञताकी अर्थात् आर्हन्त्यकी प्राप्ति नहीं होती। सोलापूरमें सोनगढवालोंका जो शिबिर लगा हुआ था उसमें विद्वद्रत्न श्रीमान खीमजी भाईने इस कालमें भी जीव मोक्षकी प्राप्ति कर ले सकता है ऐसा आमतौरपर कहा था। जो जीव इस कालमें मोक्षकी प्राप्ति कर ले सकता है वह जीव सर्वज्ञताकी भी प्राप्ति कर ले सकता है यह अपने आप सिद्ध हो जाता है। जिन सोनगढवालोंको सर्वज्ञताके स्वरूपका ज्ञान हुआ है वे इस कालमें भी सर्वज्ञताकी प्राप्ति अवश्य कर लेंगे ऐसी सोनगढवालोंकी मान्यता है। आपने तो सर्वज्ञताका स्वरूप जान लिया है। इस मन्तव्यका प्रचार करनेवाले श्रीकानजी भाईका जसलोकमें ही मोक्षकल्याणक हुआ होगा। कुछ भी हो किंतु आपकी यह कल्पना आगमसमर्थित न होनेसे मात्र मनोनीत है।

देवशास्त्रगुरुकी सच्ची श्रद्धाका नाम ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन सप्तप्रकृतियों के उपशमादिसे व्यक्त होता है। सर्वज्ञकी श्रद्धा देवशास्त्रगुरुकी सच्ची श्रद्धाका कारण है ऐसा माननेसे सर्वज्ञकी श्रद्धाकी उत्पत्ति मिथ्यात्वकालमें होनी है यह भाव स्पष्ट हो जाता है। बादरायणके सूत्रोंपर भाष्यकार अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्यने भाष्यके तर्कपादमें सर्वज्ञकी सिद्धि की है। सर्वज्ञताकी श्रद्धाके विना ऐसा कार्य किया जाना असंभव है क्या? सर्वज्ञताकी श्रद्धा करनेवाले अद्वैववेदान्ती भाष्यकार शंकराचार्य अरिहंत देव, जिनागम और जिनगुरुके सच्चे श्रद्धानी थे क्या? अतः सम्यक्त्वोत्पत्तिके बाद सर्वज्ञताकी जो श्रद्धा

उत्पन्न होती है वही सच्ची श्रद्धा होती है और ऐसी श्रद्धा करनेवाला जीव ही अरिहंत भगवानको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जान सकता है। सच्चे देव ही वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं। ऐसे सर्वज्ञ देवकी, सर्वज्ञदेवोपदिष्ट आगमकी और सर्वज्ञदेवोपदिष्ट-आगमानुसारी गुरुकी और सच्ची सर्वज्ञता की सच्ची श्रद्धा सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, मिथ्यादृष्टि नहीं।

नार्किकचूडामणि आचार्य समन्तभद्रने सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है । उन्होंने सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं बताया है। सिद्धान्तग्रन्थों में सम्यक्त्वोप्तत्ति का कारण सप्त-प्रकृतियों के उपशमादि बताए गये हैं। सर्वज्ञता की सच्ची श्रद्धाको सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं बताया है। सर्वज्ञताकी श्रद्धाको सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बताना आपके मस्तिष्क की उपज है।

आगे पृ. ७६ पर लिखा है कि – "कुछ लोगों का कहना है कि आप 'क्रमबद्धपर्याय को सर्वज्ञ के साथ क्यों लपेटते हैं? उसे सीधी वस्तुसे सिद्ध कीजिए न?' 'भाई! हम लपेटते नहीं, वह लिपटी हुई ही है; क्यों कि 'सर्वज्ञता' की की श्रद्धा विना 'क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा एवं 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा विना 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा संभव नहीं है।' "

" 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा के विना 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा न होना और 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धाके विना 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा न होना" इससे अन्योन्याश्रयनामक दोष यहां है यह स्पष्ट हो जाता है। अन्योन्याश्रयदोष वस्तुनिर्णयमें बाधक होता है। जैनन्यायसे यह बात सुतरां

स्पष्ट हो जाती है। अतः क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा सर्वज्ञता की श्रद्धा के साथ लिपटी हुई है यह कथन अर्थशून्य है। डॉ. साहब आप न्यायतीर्थ भी हैं। अतः आप प्रमेयकमलमार्तण्ड को देखने की कृपा करें। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा सर्वज्ञता की श्रद्धाके साथ लिपटी हुई है इस अभिप्रायका सप्रमाण स्पष्टीकरण आपने क्यों नहीं किया ? इस आपके कथनसे 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दश-हस्ता हरीतकी' यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है। जिसका अस्तित्व में आना ही असंभव है उस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का उत्पन्न होना असंभव है और जिसका अस्तित्व ही नहीं है अर्थात् जिसका सद्रूपत्व बनता ही नहीं उसकी श्रद्धाको सर्वज्ञता की श्रद्धाके साथ लपेटना वन्ध्यास्तनन्धय की श्रद्धा करनेके समान है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – 'सर्वज्ञता' का सहारा लिये बिना भी 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि की जा सकती है, वस्तुस्वरूप के आधारपर हम विस्तारसे 'क्रमबद्ध' सिद्ध कर भी आये हैं, तथापि सर्वज्ञतासे उसे अलग करनेका आग्रह भी क्यों ? "

निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे उपादानसे पर्याय की उत्पत्ति होना असंभव है.; क्यों कि निमित्त मिलनेपर ही अपनी पर्याय के रूपसे परिणत होना उपादानभूत द्रव्यका स्वभाव है। यही वस्तुस्वरूप है। जब सहकारिकारणकी सर्वथा अकिं-चित्करताके कारण पर्यायों की उत्पत्ति होना ही असंभव है तब उनकी क्रमबद्धता बनती ही नहीं। जिनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती उनकी सर्वज्ञज्ञानविषयता असंभव है। अतः क्रम-बद्धपर्याय का सर्वज्ञताके साथ संबंध घटित करने का

दुराग्रह क्यों ? जो पर्यायें वस्तुतः अस्तिरूप होती हैं वे अवश्य-मेव सर्वज्ञज्ञान के विषय बनती हैं। जिनका तीनों कालोंमें अस्तित्व नहीं बन सकता उन्हें भगवान असद्रूप से जानते हैं।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – " सर्वज्ञताके आधार-पर क्रमबद्धपर्याय सिद्ध करनेका एक कारण तो यह है कि सर्वज्ञता जैनदर्शन में सर्वमान्य है, उसमें किसीको भी विवाद नहीं है। अतः क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करनेका यह एक ठोस आधार है। तथा जिन लोगों को सर्वज्ञताकी बाहरसे ही सही, थोडीबहुत श्रद्धा है ; उन्हें सर्वज्ञताके आधारपर ' क्रमबद्ध ' समझने में सुविधा रहती है। "

प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तात्मक – अनेक गुणात्मक होता है। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। वह अन्य द्रव्य की सहकारिता प्राप्त होनेसे अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होता है। एक गुणकी अनेक पर्यायें होती हैं और वें क्रमसेही उत्पन्न होती हैं। पूर्व-पर्यायका नाश होनेसे ही उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है। एक गुणकी एक साथ अनेक पर्यायें नहीं होती। एक द्रव्य की जो अनेक पर्यायें होती हैं वें क्रमसे ही उत्पन्न होती हैं, युगपत्-अक्रमसे उत्पन्न नहीं होती। सारांश, एक द्रव्यकी या उसके एक गुण की अनेक पर्यायें क्रमसे ही उत्पन्न होती हैं। एक द्रव्यके अनेक गुणों की पर्यायें एक साथ अर्थात् अक्रमसे होती। अतः एक गुणकी अनेक पर्यायें क्रमसे उत्पन्न होनेवाली होनेसे और एक गुणकी एक पर्याय एक द्रव्यके अनेक गुणोंकी पर्यायोंके साथ उत्पन्न होनेवाली होनेसे पर्याय कथंचित् क्रमभावी और कथंचित् अक्रमभावी होती है। सारांश, पर्यायें क्रमभावी ही होती हैं यह

कथन मिथ्या एकान्तरूप है। सर्वज्ञता के आधार पर असत् की सत्ता की सिद्धि की जा सकती है क्या ? दूसरी बात यह है कि जो बात वस्तुस्वभावभूत होती है, युक्तिसिद्ध, आगमसिद्ध और प्रतीतिसिद्ध होती है उसको सिद्ध करनेके लिए सर्वज्ञताके आधारकी क्या आवश्यकता है ? असत्सत्ताक क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि युक्त्यागमप्रतीतियोंसे सिद्ध होना असंभव होनेसे डॉ. साहब को सर्वज्ञता का आधार लेना आवश्यक जँचा हो।

पृष्ठ ७७ पर लिखा है कि– 'दूसरी बात यह भी है कि क्रमबद्धपर्याय का विषय अतिसूक्ष्म है; उसे सर्वज्ञता के आधार बिना साधारण बुद्धिवालोंके गले उतारना असंभव नहीं तो कठिण अवश्य है। मैं आपसे ही कहता हूँ कि सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगमके आधारविना आप एक लाख योजनका ऊंचा सुमेरु पर्वत ही समझा दीजिए। आखिर आपको यही तो कहना होगा कि शास्त्रोंमें लिखा है और शास्त्र सर्वज्ञकथित है। जब आप इतना स्थूल एक लाख योजन का सुमेरु पर्वत भी सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगमके विना सिद्ध नहीं कर सकते तो फिर क्रमबद्धपर्याय जैसे सूक्ष्म विषयके समझानेमें हमसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगमका सहारा छोडनेको क्यों कहते हैं ?'

जिस मृत्पिण्डसे जिस समय घट बनता है उस समय उसी मृत्पिण्डसे कुण्ड, सकोरा आदि नहीं बनते। मृत्तिकासे जो पिण्ड आदि पर्यायें मृत्तिका और घटके बीचमें उत्पन्न होती हैं वे भी क्रमसे होती हैं। मनुष्य की बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्व ये अवस्थाएं अर्थात् पर्यायें क्रमसे ही होती हैं। मनुष्य बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्व इन अवस्थाओंको क्रमसे ही अनुभवता है। आम की

मंजरी से पके आमकी अवस्थातककी सभी अवस्थाओंको मनुष्य जानता है। आमके गुणोंके क्रमिक परिवर्तनों को भी मनुष्य जानता है। सामान्य मनुष्य की अवस्था या पर्याय इन शब्दोंके प्रयोग नहीं करता इतना ही। विशिष्ट मनुष्य इन शब्दोंका प्रयोग भी करता है। इन पर्यायोंकी क्रमबद्धता को जाननेके लिए सर्वज्ञका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। मनुष्यादि जीवों की भूतकाल की और भविष्यकालकी अनंत पर्यायोंके देश, काल और प्रकारोंको जाननेके लिए सर्वज्ञकी आवश्यकता होती है। भूतकालकी कुछ पर्यायोंको और भविष्यकाल की कुछ पर्यायों को अवधिज्ञानवाला जीव भी जानता है। अत: पर्यायोंके क्रमको जाननेके लिए सर्वज्ञकी ही आवश्यकता होती है ऐसा नहीं है। सारांश, पर्यायोंकी क्रमबद्धताको सामान्य मनुष्य जीव सामान्यतया जाननेमें समर्थ होनेसे पर्यायोंकी क्रमबद्धताका विषय स्थूल है, अतिसूक्ष्म नहीं है। उसीप्रकार पर्यायोंके देश, काल और प्रकारोंको जाननेके लिए सर्वथा सर्वज्ञका आश्रय लेनेकी भी आवश्यकता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञता इनमें साध्य-साधकभाव नहीं है। ऐसा होने हुए भी खींचातानी करके उनमें साध्यसाधनभाव घटित किया जा रहा है।

सुमेरुपर्वत का दृष्टान्त न होकर दृष्टान्ताभास है। प्रत्येक पर्यायकी क्रमबद्धता सामान्यजनगोचर है, जब की सुमेरुपर्वत सर्वज्ञगोचर और विशिष्टजीवगोचर है। अत: सुमेरुपर्वत का दृष्टान्त डॉ. साहबके मन्तव्यकी सिद्धि करनेमें सहायक नहीं हो सकता। यहां सूक्ष्मताका और स्थूलताका प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। सूक्ष्म वही होता है जो सर्वथा अतीन्द्रिय होता है। पर्यायोंकी क्रमबद्धता सामान्यजनगोचर होनेसे सूक्ष्म है ही नहीं।

जब वह सूक्ष्म भी नहीं है तब वह अतिसूक्ष्म कसे हो सकती है? विशिष्ट संसारी जीव सुमेरुपर्वत को देख सकता है या नहीं? क्रमबद्धपर्यायका उल्लेख आपको कौनसे आगमग्रंथमें मिला? क्रमनियमितपर्याय और क्रमबद्धर्याय ये शब्द अभिन्नार्थक-एकार्थक नहीं हैं। इनकी भिन्नार्थता की सिद्धि प्रारंभमें की गई है। अतः 'क्रमनियमितपर्याय' के द्वारा आगममें 'क्रमबद्धपर्याय' इस शब्दके अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती? इससे 'क्रम-बद्धपर्याय जैसे सूक्ष्म विषयके समझानेमें हमसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञ-कथित आगम का सहारा छोडनेको क्यों कहते हैं?' यह प्रश्न व्यर्थ है; क्योंकि जबतक 'क्रमबद्धपर्याय' इस शब्दका प्रयोग आगममें प्रत्यक्षतया बताया नहीं जाता है तबतक डॉ. साहबको सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगमका सहारा छोडना ही पडेगा। 'क्रमनियमित' शब्दको छोड़कर 'क्रमबद्ध' शब्दके प्रयोगका क्या प्रयोजन था? बताइए।

इसी पृष्ठपर आगे कहा है कि– 'यदि सर्वज्ञता का स्वरूप आपकी दृष्टिमें स्पष्ट होता और उसपर आपका विश्वास भी होता तो क्रमबद्धपर्याय भी सहज स्वीकृत हो जाती। फिर यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि आप क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धिके लिए सर्वज्ञताका सहारा क्यों लेते हो?'

क्रमबद्धपर्याय पर विश्वास कराने की यह एक युक्ति है। क्रमबद्धपर्याय पर मेरा विश्वास नहीं है ऐसा कहनेसे अपनी दृष्टिमें सर्वज्ञताका स्वरूप स्पष्ट नहीं है अर्थात् सर्वज्ञताका ज्ञान अपनेको नहीं है और सर्वज्ञता के स्वरूप पर अपना विश्वास नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है ऐसा कहा जायगा इस डरसे लोग

क्रमबद्धपर्याय पर विश्वास करेंगे इस अभिप्रायसे डॉ. भाहबने उक्त कथन किया है। वस्तुत: जिसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकती उसको कौन स्वीकार कर सकता है ? अत: जो डराने का प्रत्यन किया गया है वह निष्फल है।

इसी पृष्ठ पर आग लिखा है कि – " अच्छा एक मिनिट ' क्रमबद्धपर्याय की बात छोड भी दीजिए, फिर भी ' सर्वज्ञता ' का निर्णय तो करना ही पडेगा। उसके बिना तो देव–शास्त्र–गुरू का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होगा। "

जो सम्यग्दृष्टि होता है वह नियमसे सर्वज्ञता पर विश्वास करता है; क्योंकि उसकी देव–शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा होती है। देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा करना ही सर्वज्ञताकी श्रद्धा करना है। सर्वज्ञके स्वरूपपर श्रद्धा होनेसे ही तो वह सर्वज्ञावस्थाकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। सम्यग्दृष्टि को सर्वज्ञता का निर्णय करना ही पडता है ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि अल्पज्ञ शिवभूति मुनिराजमें सर्वज्ञताका निर्णय करनेकी शक्ति ही नहीं थी। गुरु–वचन को प्रमाण मानकर वे दीक्षित हुए थे। इन्हीं मुनिराजने सर्वज्ञता की प्राप्ति कर ली थी। न उन्हें दीक्षाग्रहणकालमें क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान था और न उन्होंने सर्वज्ञताका निर्णय भी किया था। वे अवश्य भेदज्ञानी बने हुए थे। इस विषयमें श्रुतसागरकृत अष्टप्राभृत की टीका द्रष्टव्य है।

पृष्ठ ७८ पर लिखा है कि– ' देव–शास्त्र–गुरुकी रक्षा का नारा लगानेवालोंने कभी देव–शास्त्र-गुरु के सच्चे स्वरूप पर भी गौर करनेका कष्ट उठाया है ? क्या सर्वज्ञता को समझे

बिना देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझा या समझाया जा सकता है ?

सबसे पहले डॉ. साहबको शिवभूतिके दृष्टान्त पर विचार करना चाहिये । बादमें देव-शास्त्र-गुरुकी रक्षाका नारा क्यों लगाया जा रहा है इस बातपर विचार करना चाहिये । सर्वज्ञता को समझना शुद्ध आत्मस्वरूपको समझाना नहीं है क्या ? शुद्ध आत्मा सर्वज्ञ नहीं होता क्या ? शुद्ध आत्माका स्वरूप आगमके द्वारा जाना जाता है और अनुभूतिके द्वारा भी जाना जाता है। सरागावस्थ जीव अनुभूतिके द्वारा शुद्ध आत्माके स्वरूप को जाननेमें असमर्थ होते हैं । उनके लिए शुद्धात्मस्वरूप को जानने के लिए एक आगम ही और गुरूपदेश ही शरण हैं । जो आगम के द्वारा शुद्धात्मस्वरूप को जानते हैं, उसपर विश्वास करते हैं वे सर्वज्ञता को नहीं समझ सकते क्या ? वे देव-शास्त्र-गुरुके सच्चे स्वरूपको नहीं जानते क्या ? जो आपके माने हुए क्रम-बद्धपर्याय को मानते हैं, स्वीकार करते हैं उन्हें ही सर्वज्ञता का निर्णय होता है क्या ? देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा का नारा क्यों लगाया जा रहा है इसपर विचार किया जाता है । जो आगम-वचनोंके अर्थ का विपर्यास करते हैं, जो प्रकरण को छोडकर आगमवचनों का अपने मन्तव्यके अनुकूल अर्थ कर लेते हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्दभगवानके और आचार्यप्रवर अमृतचंद्रसूरिके अपने मन्तव्य के प्रतिकूल वचनोंको लोगोंसे छुपाते हैं, जो निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर और उडाकर आगमका और वस्तुस्वरूप का विरोध करते हैं और स्वतंत्र पंथ की की स्थापना करनेके लिए प्रयत्न करते हैं वे धर्मका विध्वंस करनेके

लिए कटिबद्ध नहीं हुए हैं क्या ? ऐसी अवस्थामें लोग धर्म-रक्षा का या देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा का नारा नहीं लगायेंगे तो क्या करेंगे ? यह नारा झूटा है इसकी सिद्धि उक्त आक्षेपोंका और तत्सदृश अन्य आक्षेपोंका निराकरण करके क्यों नहीं करते ? आप चाहे तो उक्त आक्षेपों को मैं सिद्ध कर सकता हूँ। क्या इसप्रकार का मायाचार करनेवालों को ही सर्वज्ञताके स्वरूपका निर्णय होता है ? क्या वे ही देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझ सकते हैं और समझा सकते हैं। क्या क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करनेवाले ही सर्वज्ञता को या देव-शास्त्र-गुरुके सच्चे स्वरूप को समझ और समझा सकते हैं ?

इसी पृष्ठ पर आगे लिखा है कि- 'आगम के संरक्षकों को क्या यह भी बताना पडेगा कि आगमकी सबसे पहली शर्त है-उसका सर्वज्ञकथित (आप्तोपज्ञ) होना। तथा सर्वज्ञकथित आगम निश्चित भविष्यकी असंख्य घोषणाओं से भरा पडा है।'

आगम सर्वज्ञप्रणीत होनेसे ही उसकी प्रमाणभूतता है। यदि आपको यह अभिप्राय मान्य है तो समयसारादि ग्रंथों की प्रमाणभूतता को पूर्णतया स्वीकार क्यों नहीं करते हों ? 'न जातु रागादिनिमित्तभावं...' इस कलशको, बाह्येतरोपाधि...' इस स्वयंभूतस्तोत्रकी कारिकाओं कोऔर अन्य शास्त्रीयप्रमाणों-को क्यो नही विचारके विषय बनाया गया ? सर्वज्ञ भगवान भविष्यकालीन पर्यायोंके देश, काल, प्रकार और क्रमको अवश्य जानते हैं। आचार्य कुंदकुंदने स्पष्टरूपसे कहा है कि जो आग-मके एक अक्षरको भी स्वीकार करता नहीं वह मिथ्यादृष्टी होता

है। आपके गुरुदेव नें प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग की प्रमाणभूतता को स्वीकार नहीं किया है। आगमकी भविष्यकी असंख्य घोषणाओंको सम्यग्दृष्टि या आगमश्रद्धालु जीव अवश्य स्वीकार करते हैं, भविष्यकालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंके देश, काल, प्रकार और क्रमकी सर्वज्ञकथित घोषणाओंको स्वीकार करते हैं। आपके अनुसार जब पर्यायोंकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती तब उनकी क्रमबद्धता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'क्या करणानुयोगका एक भी विषय विना सर्वज्ञ कथित आगमके आधारके सिद्ध किया जा सकता है, समझाया जा सकता है ? क्या आप आठ कर्मोंकी सत्ता, उनका बंध, उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उद्वेलन आदि विना सर्वज्ञकथित आगमके आधारके सिद्ध कर सकेंगे ? इसीप्रकार अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंकी सिद्धिका आधार क्या बनाओगे ?'

जीवकी जो अशुद्ध व्यंजनपर्यायें उत्पन्न होती हैं अर्थात् विभावव्यंजनपर्यायोंकी उत्पत्ति होती है क्या उनकी उत्पत्तिमें कर्म निमित्तकारण नहीं होता ? यदि होता है तो निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर बताकर क्यों उडा दिया जा रहा है ? आपने 'सब कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा' ऐसा जो कहा है (पृष्ठ ५०) वह निमित्तकी अकिंचित्करता का सूचक नहीं है क्या ? पृ. ५१ पर आपने 'ज्ञानकी जिस पर्यायमें जिस ज्ञेयको जाननेकी योग्यता है, वह पर्याय उसी ज्ञेयको अपना विषय बनायेगी, उसमें किसीका कोई हस्तक्षेप नहीं चल सकता' ऐसा

जो लिखा है उस विषयमें निम्न प्रश्न उपस्थित होते है। मति-ज्ञान अवधिज्ञानके विषयको क्यों नहीं जानता ? अवधिज्ञानके विषयको न जाननेका कारण अवधिज्ञानावरणकर्मका उदय है या दूसरा कोई ? अवधिज्ञानी मन:पर्ययज्ञानके विषयको क्यों नहीं जानता ? मन:पर्ययज्ञानके विषयको न जाननेका कारण मन:पर्ययज्ञानावरण कर्मका उदय है या दूसरा कोई ? शुद्धतमज्ञानका कार्य सूक्ष्म, अन्तरित और दूर अर्थोंको प्रत्यक्ष जानना है। यही उसका स्वभाव है। इस स्वभावके व्यक्ती-भवनमें प्रतिबन्धक कारण करणानुयोगमें कर्म माना है। शुद्ध-तमज्ञानके स्वभावका प्रतिबन्धक कारण कर्म बताया गया है। यह विषय करणानुयोग का है। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानना करणानुयोगके विषयको ठुकराना ही है। आप स्वयं करणानुयोगके विषयको अर्थात् करणानुयोगको ठुकरा रहे हो और करणानुयोगके बलपर स्वमान्य सिद्धांतकी सिद्धि करनेका प्रयत्न कर रहे हो। क्या यह शिष्टसम्मत पद्धति है ? लोग करणानुयोगके विषयको सर्वज्ञकथित करणानुयोगके आधारसे ही सिद्ध करते है, उस आधारको ठुकराकर नहीं। प्रकृत विषय करणानुयोगका ही है। कौनसे करणानुयोगके शास्त्रमें कर्मरूप निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता होनेपर भी जीवकी पर्यायें या ज्ञानकी पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा कहा है ? ड्राइव्हरके और पेट्रोलके कारण मोटर दौडती है ऐसा नहीं है; मोटरको दौडना होता है इसलिये मोटर दौडती है ऐसा कहनेवाले निमित्तको ठुकराते हैं और नियतिवादका प्रचार करते हैं। नियतिवाद इससे भिन्न क्या है ? जो निमित्तको ठुकराते हैं और नियति-वादका प्रकटरूपसे प्रचार करते हैं उनके समर्थक करणानुयोग

की जब बातें करते हैं तब उनका मायाचार प्रकट हो जाता है। निमित्तका कार्योत्पत्तिके विषयमें उल्लेख करना और उसको सर्वथा अकिंचित्कर बताना इस क्रियाको क्या कहा जाय ?

इसी पृष्ठ पर आगे कहा हैं कि– ' इन सम्पूर्ण विषयों व इस प्रकारके अन्य विषयों के पठन-पाठन के समय आपको यह प्रश्न क्यों उपस्थित नहीं हुआ कि सर्वज्ञकथित आगमके आधार के विना इन्हें सिद्ध किया जावे, आज ही यह नया प्रश्न क्यों ? '

आप सर्वज्ञोपज्ञ आगमके आधारसे क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि निमित्तकी अकिंचित्करताके मन्तव्यको छोडे बिना नहीं कर सकते। युक्ति और प्रतीतिके अनुसार निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि करनेमें असमर्थ होनेसे आप सर्वज्ञका अवलंब लेकर उस विषयको लोगोंके गले उतारना चाहते हों। वस्तुतः आप चारों अनुयोगोंमें से किसी भी अनुयोगको पूर्णतया नहीं मानते हैं। आपके गुरुदेवने भी नहीं माना है। आचार्य कुंदकुंदप्रणीत समयसारको संपूर्णरूपसे प्रमाणभूत न माननेसे और आचार्य अमृतचंद्रके वचनोंको पूर्ण-रूपसे प्रमाणभूत न माननेसे द्रव्यानुयोग को, निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे और गोम्मटसारके (कर्मकाण्ड के) कथन को पूर्णरूपसे प्रमाणभूत न माननेसे करणानुयोग को, देशव्रत को और महाव्रतको केवल शरीरक्रियारूप बतानेवाले अपने गुरुके मन्तव्य को प्रमाणभूत मानकर चरणानुयोगको प्रमाणभूत न माननेवाले आपने करणानुयोग की बातें सामने रखकर क्रमबद्धपर्याय को लोगोंके गले उतारनेका जो प्रयत्न किया है वह मायाचारका कार्य नहीं है तो क्या है ?

जैनन्याय किसी भी विषय की सिद्धि प्रथम युक्ति के बलपर करता है और बादमें आगमप्रमाण पेश करता है। प्रमेयकमल-मार्तण्ड, अष्टसहस्त्री आदि ग्रंथोंमें यही पद्धती देखी जाती है। जो जिनागमको नहीं मानते उनके लिए शास्त्रीयप्रमाण पेश करना व्यर्थ है। प्रश्नकर्ताके जैनत्व को गौण मानकर आगमका और सर्वज्ञका सहारा लेकर क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धि आप क्यों नहीं करते हो? क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि युक्ति और प्रतीतिके आधारसे करके बादमें आगमप्रमाण पेश करके अपने मन्तव्यका दृढीकरण क्यों नहीं करते? अतः उस विषयको सर्वज्ञतासे अलग किया गया तो क्या हानि है?

इसी पृ. ७८ पर आगे लिखा है कि-'भाई! जैसा कि कहा गया है सर्वज्ञ धर्मका मूल है, तदनुसार धर्मरक्षकोंको सर्वज्ञका निर्णय तो करना ही होगा। आखिर एक जैनदर्शन ही तो ऐसा दर्शन है जो प्रत्येक आत्माके परमात्मा बननेकी बात करता है; बात ही नहीं करता, परमात्मा बननेका मार्ग बताता है, उस पर चलने की प्रेरणा देता है, और छाती ठोक कर विश्वास दिलाता है कि इस मार्गपर चलनेवाले अवश्य परमात्मा बनते हैं।'

सर्वज्ञोंकी परम्परा अनादिसे चली आयी है और धर्मकी परम्परा भी अनादिसे चली आयी है। धर्म का अनु-सरण - पालन करने से जीव सर्वज्ञ होते हैं और सर्वज्ञके द्वारा बताए गए परम्परागत धर्म का अनुसरण किया जाता है। अतः बताइए की सर्वज्ञता का मूल धर्म है या धर्मका मूल सर्वज्ञता है? क्या कौन किसका मूल है यह बताया जा सकता है? यहाँ बीज-वृक्षन्याय चरितार्थ हो जाता है। ऐसा होते हुए भी छद्मस्थों

को सर्वज्ञता की प्राप्तिके लिए सर्वज्ञोपदिष्टधर्म का ही पालन करना चाहिये। तथापि सर्वज्ञता का निर्णय किया जानेपर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है यह कथन आगमसमर्थित नहीं है। निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करता के कारण पर्याय जब उत्पन्न हो ही नहीं सकती है और जब आगम उसका समर्थन नहीं करता तब उसको कैसे स्वीकार किया जाय ? 'तदनुसार धर्मरक्षकों को सर्वज्ञका निर्णय तो करना ही होगा' इसप्रकार के उपालंभ की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि शास्त्राभ्यासके द्वारा उन्होंने सर्वज्ञका निर्णय कर लिया हुआ ही होता है। आपका मन्तव्य उन्हें मान्य नहीं इसलिये यह अस्त्र-क्षेपण है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – 'क्या परमात्मा बनने के पूर्व परमात्मा का स्वरूप समझना भी जरूरी नही है ? यदि है तो फिर सर्वज्ञता की चर्चा से विरामका आग्रह क्यों ? क्रमबद्धपर्याय का ही क्या, आचार्योंने समस्त जिन -सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वज्ञता के आधारपर ही किया है। हम किस-किस सिद्धान्तके प्रतिपादनमें सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगमको तिलाञ्जलि देंगे ?'

परमात्मा बनने के पूर्व की अवस्था मिथ्यात्वरूप भी होती है और सम्यक्त्वरूप भी होती है। सम्यक्त्वोत्पत्तिके समय परमात्मस्वरूप समझना आवश्यक होता है ऐसा नहीं है। नरक गतिमें वेदनाओंके कारण जब नारकी के सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब तीसरे नरक के नीचे के नरकमें उत्पन्न हुआ नारकी परमात्मस्वरूपको जानता है क्या ? वह सर्वज्ञ का निर्णय कर सकता है ?

क्या ? तिर्यंच को जब सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब या बादमें वह सर्वज्ञका निर्णय कर सकता है क्या ? यह निश्चित है कि कषायों का अभाव होनेपर महाव्रती को आत्मानुभूतिके द्वारा परमात्मस्वरूपका ज्ञान अवश्य होता है और वह निर्णीत होता है। अनुभूति के पूर्वकालमें सम्यक्त्वोत्पत्तिके बाद भी सर्वज्ञ-विषयक निर्णीत ज्ञान शास्त्रस्वाध्याय और गुरूपदेशसे अवश्य होता है।

उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए चर्चा की आवश्यकता नहीं। दीक्षाग्रहणकालमें शिवभूतिमहराज को परमात्मस्वरूप का-सर्वज्ञस्वरूप का ज्ञान नहीं था। अज्ञानी-अल्पज्ञ होनेपर भी उन्होंने परमात्मस्वरूप की-सर्वज्ञस्वरूप की प्राप्ति कर ली थी। वीत-रागता की प्राप्ति होनेपर आत्मानुभूति अपने आप प्राप्त हो जाती है। यह ज्ञान सर्वज्ञता की प्राप्ति होनेके पूर्वकाल में ही होता है। निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता के कारण या उसके अभाव के कारण जब पर्यायें उत्पन्न हो ही नहीं सकती तब अनुत्पन्न अत एव असत् पर्यायोंकी क्रमिकता की सिद्धि सर्वज्ञता के आधार पर कैसे की जा सकती है ? क्या खरशृंग की, वन्ध्यास्तनंधय की, आकाशकुसुम की सिद्धि सर्वज्ञज्ञानके आधार-पर की जा सकती है ? क्रमबद्धपर्याय जब सैद्धान्तिक विषय है ही नहीं तब उसके प्रतिपादनमें सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगम उसकी सिद्धि करनेमें असमर्थ होनेसे उनको अपने आप तिला-ञ्जली मिल जाती है। जब आगम आपके मन्तव्यका समर्थन नहीं करता तब आप ही उसको ताकमें रख देते हों।

आगे पृ. ७९ पर लिखा है कि- ' परमात्मा बननेके लिए क्या अपनी आत्मा को जानना-अनुभव करना आवश्यक

नहीं है ? आचार्य कुन्दकुन्दके उक्त कथनमें तो स्पष्ट लिखा है कि जो अरहंत को द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है, वह अपने आत्माको जानता है और जो आत्मा को जानता है वह मोह का नाश करता है । '

परमात्मा को जानने के लिए निश्चयनय की दृष्टिसे अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है तो भी उस आत्मा का अनुभव करना पूर्ण वीतराग अवस्थामें ही संभव है । पूर्ण वीतराग अवस्थामें चर्चा बन नहीं सकती ; क्यों कि परमवीतराग अवस्था की प्राप्ति होते ही आत्मानुभूती हो जाती है । चर्चा तो सराग अवस्थामें ही हो सकती है । इस अवस्थामें आत्मस्वरूपानुभूति की प्राप्ति होना असंभव होता है । ' जो जाणदि अरहंतं ' इस गाथामें जो ' जो ' यह पद है वह महाव्रतीको दर्शानेवाला सर्वनाम है । यह महाव्रती जीव भाव-लिंगी होता है । यह भावलिंगी मुनि जब अरहंत भगवान को उक्त प्रकारसे जानता है तब वह अपने शुद्ध आत्माको जानता है । अपने शुद्ध आत्मा को जाननेपर मुनिराज अपने पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण वीतराग अवस्थाको प्राप्त होकर आत्मानुभवन करता है । प्रवचनसार की ८१ वीं गाथा की तत्त्वदीपिका को और गाथा ७९ की तत्त्वदीपिका को देख लीजिए । अत: अपनी आत्मा का अनुभवन करना अत्यंत आवश्यक है इसमें संदेह नहीं ; किन्तु असद्भूत क्रमबद्ध-पर्याय को जाननेके लिए आत्मानुभवन की आवश्यकता नहीं है । सराग अवस्थामें आत्मानुभवन करना असंभव है । क्रमबद्धपर्यायका निर्णय वीतराग अवस्थामें ही किया जाता है

क्या ? सातवें नरकमें जो वेदनानिमित्तक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह परमात्मस्वरूप को जाननेसे होता है – अनुभवनेसे होता है क्या ? वहाँ परमात्मस्वरूप की–सर्वज्ञता की चर्चा होती है क्या ? सम्यक्त्वप्रतिबन्धक जो सात कर्मप्रकृतियाँ होती हैं वे मोहनीयकी प्रकृतियाँ होती हैं। 'मोहो खलु जादि तस्स लयं' इस गाथा ८० के चतुर्थ चरणमें जो 'मोहो' यह पद पाया जाता है उससे आप उन सात प्रकृतियों का ग्रहण करते हों क्या ? उन सात प्रकृतियोंका नाश करनेके लिए अरहंतको जानने के द्वारा अपनी आत्माका अनुभव करनेकी आवश्यकता उस गाथाके द्वारा बताई गई है क्या ? गाथा में जो 'मोहो' यह पद पाया जाता है उससे चारित्रमोहका ही ग्रहण होता है। इस चारित्रमोह का पूर्ण नाश अपनी आत्मा के अनुभवन के कारण से ही होता है। महाव्रतका पालन करनेवाले जीव के अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका अभाव होता है और महाव्रतके पालनमे क्रमसे संज्वलन कषाय का अभाव होता है। आचार्य समन्तभद्रने 'रागादेर्विनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' इस वचन के द्वारा चारित्रमोह का नाश महाव्रतके पालनसे होता है ऐसा स्पष्ट कहा है। ध्यान का अन्तर्भाव चारित्र में ही है। इस संयम से ही पूर्ण वीतरागता प्राप्त होती है और वीतरागता की प्राप्ति होते ही आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। यही अपनी आत्मा को जानने की प्रक्रिया है। अरहंत को जाननेसे अपनी आत्माके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है और आत्मस्वरूपविषयक जो मोह–अज्ञान होता है उसका नाश होता है और जीव मोहनीयका पूर्णरूप से नाश करने के लिए उद्यम करने लग जाता है। प्रवचनसार की गाथा २०२ की तत्त्व–

दीपिकाको देख लेनेके लिए में डॉ. साहबको अनुरोध करता हूँ।

पृ. ७९ पर आगे लिखा है कि- क्या देवशास्त्र गुरु की रक्षा उनके स्वरूपको जाने बिना ही हो जावेगी ? वे तो अपने स्वरूपमें सदा सुरक्षित हैं, उन्हें हमारी सुरक्षाकी आवश्यकता नहीं है। यदि हमें अपनी सुरक्षा करनी हो तो उनके सही स्वरूपको समझें। इसमें हमारी और हमारे धर्मकी सुरक्षा है। धर्मरक्षाकी बात करनेवालों को थोड़ा-बहुत ध्यान इस ओर भी देना चाहिये।'

डॉक्टरसाहेब की दृष्टिमें क्रमबद्धपर्यायको स्वीकार न करनेवाले देवशास्त्रगुरुके स्वरूपके ज्ञानसे वंचित हैं। विरोधियोंके देवशास्त्रगुरुस्वरूपविषयक अज्ञानके कारण वे चिन्तातुर हैं--अत्यन्त चिन्ताग्रस्त हैं; क्यों कि वे विरोधी महाव्रतके पालनको केवल शारीरिक क्रिया नहीं मानते, आजकलके सभी मुनियोंको द्रव्यलिंगी नही मानते, सवस्त्रको स्वामी और गुरु नहीं कहते, आगमवाक्यों को तोड़मरोड़कर उनका स्वानुकूल अर्थ नहीं करते, निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर नहीं मानते, वस्तुस्वरूप का विपर्यास करना नहीं चाहते। यदि विरोधियोंने महाव्रतपालनादि नहीं किया तो ही वे देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा कर सकते हैं। जो उक्त बातें स्वीकार करते हैं वे ही देवशास्त्र गुरुकी और अपनी रक्षा करते हैं। यदि सर्वज्ञको जानना और मानना हो तो असत्सत्तात्मक क्रमबद्धपर्यायको स्वीकार करना ही चाहिये। जो क्रमबद्धपर्याय का विरोध करते हैं वे सर्वज्ञता को नहीं जानते और मानते और जो सर्वज्ञताको नहीं जानते और मानते वे मिथ्यादृष्टि होते हैं और जो मिथ्यादृष्टि होते हैं वे

देवशास्त्रगुरुकी और अपनी रक्षा नहीं कर सकते। क्या डॉक्टर-साहब छाती ठोककर कह सकते हैं कि क्रमबद्धपर्याय का विरोध करनेवालों को देव-शास्त्र-गुरुके सहीस्वरूप का ज्ञान नहीं होता ? क्या आप और आपके सतीर्थ्य ही देव-शास्त्र-गुरुके सही स्वरूप को जानते है ? आपने अपने उपरितन कथनके द्वारा जो उपदेश दिया है उसके कारण में आपका आभार मानता हूँ।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि – ' आगे चल कर उसी प्रवचनसार की ८२ वीं गाथामें कुन्दकुन्दाचार्य घोषणा करते हैं

" सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥

सभी अरहंत भगवानों ने उसी विधिसे कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया है और अन्य आत्माओं को परमात्मा बननेका उपदेश भी वही दिया है अर्थात् वही मार्ग बताया है- ऐसे अरहंतोंको नमस्कार हो। "

" उसी विधिसे अर्थात् ८०-८१ वीं गाथामें बताई गई विधिसे उन्होंने स्वयं मोक्ष प्राप्त किया तथा उपदेश भी वही दिया। ८०-८१ वीं गाथामें बताया गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है वह अपने आत्माको जानता है और उसका मोह नष्ट होता है ; तत्पश्चात् रागद्वेष को छोडकर शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है अर्थात् पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करता है। यही विधि सर्वज्ञता प्राप्त करने की है, जिससे सभी अरहंतोंने सर्व-ज्ञता प्राप्त की है और करनेका उपदेश दिया है। प्रवचनसार

गाथा ८२ की टीका ही में आचार्य अमृतचन्द्रने तो यहाँ तक कहा है कि सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रकारान्तर असंभव हैं। "

मैं इस कथन को पूर्णरूपसे स्वीकार करता हूँ तो भी ऐसा प्रश्न खडा हो जाता है कि मोक्ष की प्राप्ति कर लेनेके लिए कर्मक्षय करने की जो आवश्यकता बताई गई है उससे निमित्त की किंचित्करता की सिद्धि नहीं होती क्या ? यदि कर्मरूप निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता तो मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेका पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता पडती ? महाव्रतरूप संयमका पालन करना ही कर्मयय करने के लिए पुरुषार्थ करना है। महाव्रतके पालन को केवल शरीर की क्रिया बताकर उसको उडा देने से कर्म का क्षय हो सकता है क्या ? कर्मक्षयके विना मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है क्या ? क्या घातिकर्मके क्षयके अभावमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है ? अब बताइए की संयमपालनरूप पुरुषार्थ को उडा देनेसे कर्मोंका क्षय होना असंभव होनेसे मोक्षकी अर्थात् सर्वज्ञताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। संयम को सर्वथा उडा देनेवालेके मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है। गाथा ८१ में और उसकी तत्त्वदीपिकामें शुद्धात्माकी अनुभूतिकी प्राप्तिके लिए राग और द्वेषका अर्थात् चारित्रमोहका निर्मूलन आवश्यक बताया है। रागादिका निर्मूलन संयमके पालनसे होता है। " 'अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति ' इस उत्थानिका का " 'भगवंतोंने स्वयं अनुभव करके बताया है कि मोक्षका पारमार्थिक मार्ग यह एक ही है ' इस निर्णयको दृढ करते हैं "

ऐसा गाथा ८२ वीं की इस उत्थानिकाका अर्थ है। पारमार्थिक मोक्षमार्ग निर्विकल्पसमाधिके द्वारा आत्मानु - भवन करनारूप है यह अर्थ गाथा ८०-८१ वीं की तत्त्वदीपिकासे निर्णीत होता हैं। इस निर्णयको गाथा ८२ वीं की तत्त्व-दीपिकाके अर्थने निर्णीत कर दिया है। डॉ. साहबने 'मति व्यवस्थापयति' इन उत्थानिकाके शब्दोंको पकडकर भाष्य किया है। इस भाष्यका मूल्य शून्य है। इस भाष्यके बाद (पृ.८१ पर) उन्होंने 'सर्वज्ञता' और क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा-प्रतीति बिना मति व्यवस्थित नहीं होती' ऐसा एक वाक्य लिखा है। डॉ. साहबने जो भाष्य किया है उससे पता चलता है कि उनकी दृष्टिमें 'व्यवस्थित' इस शब्दका अर्थ 'स्थिर' ऐसा है। गाथा ८२ की तत्त्वदीपिकाके देखनेसे ज्ञात होता है कि उस शब्दका अर्थ 'दृढ, सुनिश्चित' ऐसा है। " 'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धासे और प्रतीतिसे अर्थात् ज्ञानसे ही मति,-बुद्धि व्यवस्थित अर्थात् स्थिर होती है। जिनको 'क्रम-बद्धपर्याय' की श्रद्धा नहीं होती है उनकी बुद्धि व्यवस्थित नहीं होती, चंचल-अस्थिर होती है। जिनको 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति और श्रद्धा नहीं होती उनको मोक्षमार्गका निर्णय नहीं होता; क्योंकि उनकी बुद्धि चंचल-अस्थिर होती है। 'क्रम-बद्धपर्याय' की जो श्रद्धा नहीं करते और जिनको 'क्रमबद्ध-पर्याय' का ज्ञान नहीं होता वे परमार्थ मोक्षमार्गका निर्णय नहीं कर सकते" ऐसा आचार्य अमृतचंद्रने नहीं लिखा है। क्या वे भी भवदभिमत 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा करनेवाले न होनेसे और उन्हें उसका ज्ञान न होनेसे चंचल-अस्थिर बुद्धिवाले थे ?

आचार्य कुंदकुंदभगवान भी अस्थिर बुद्धिवाले थे क्या ? आप ही और आपके गुरुदेव ही स्थिर बुद्धिवाले हैं क्या ?

आगे पृ. ८३ पर लिखा है कि– ' सर्वज्ञताके निर्णयसे मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्तृत्वका अहंकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापनेका पुरुषार्थ जागृत हो जाता है, परमें फेरफार करनेकी बुद्धि समाप्त हो जाती है; इसकारण तत्संबंधी आकुलता–व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होनेके साथ–साथ अनन्तशान्ति का अनुभव होता है। सर्वज्ञताके निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् जब ही आत्मा, आत्माके आश्रय से वीतराग–परिणति की वृद्धि करता जाता है तब एक समय वह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है। आत्मासे परमात्मा बननेका यही मार्ग हैं। '

सब जैन सर्वज्ञ को मानते हैं इस बातको आपने ही कहा है। सर्वज्ञता को मानना सर्वज्ञ को माननेसे भिन्न नहीं है। सर्वज्ञताको माननेवाले अर्थात् उसकी श्रद्धा करनेवाले होनेपर भी सभी जैन क्रमबद्धपर्याय को माननेवाले और उसकी श्रद्धा करनेवाले नहीं हैं। जो सर्वज्ञता की श्रद्धा करते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जा सकता। यदि वे उपचारसे–व्यवहारसे सम्यग्दृष्टि हैं तो क्या क्रमबद्धपर्याय को माननेवाले निश्चयसम्यग्दृष्टि हैं ? सर्वज्ञताके अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपके निर्णयसे मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्तृत्वका अहंकार इतना ही नहीं अपि तु परभावकर्तृत्व भी छूट जाता है, शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ जागृत होता

है और फलतः अनन्तचतुष्टयात्मक शुद्ध आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। यहां एक ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि 'सहज ज्ञातादृष्टापनेका पुरुषार्थ जागृत होता है' इसका अर्थ क्या है? स्वाभाविक ज्ञातापनेकी और दृष्टापनेकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न जागृत होता है अर्थात् प्रयत्न करनेके लिए प्रारंभ किया जाता है ऐसा अर्थ तो नहीं समझा जा सकता है; क्यों कि पुरुषार्थका अर्थ आप वीर्य करते हैं। अस्तु। सर्वज्ञताके अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपके निर्णयसे पूर्वोक्त लाभ होते हैं, उन लाभोंके लिए क्रमबद्धपर्यायके निर्णय की आवश्यकता नहीं होती। क्रम-बद्धपर्यायके ज्ञानसे उतने लाभ होते हैं यह डॉ. साहबका कथन स्वगृहमान्य है। समयसार की ३०८–३११ तक की गाथाओंकी आत्मख्यातिटीकामें क्रमबद्धपर्यायके ज्ञानसे मतिका व्यवस्थित होना आदिके लाभ तत्काल प्राप्त होते हैं ऐसा निर्देश नहीं किया गया है। 'सर्वज्ञताके निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धासे आकुल-व्याकुलताका अभाव और अनन्तशान्तिका अनुभव होता है' ऐसा विधान कौनसे आगमग्रंथमें पाया जाता है? डॉ. साहबने अनन्तशान्तिका लाभ तत्काल होता है अर्थात् जिससमय क्रमबद्ध-पर्यायकी श्रद्धा उत्पन्न होती है उसीसमय अर्थात् सराग अवस्थामें भी अनन्तशान्तिका लाभ होता है ऐसा जो कहा है वह मिथ्या है-गलत है। शान्तिका अर्थ निर्विकार अर्थात् वीतराग अवस्था है। अतः अनंत शान्तिका अर्थ परमवीतरागता है। उसके 'अनन्त' इस विशेषणसे परम या अविनश्वर शान्तिका अर्थात् परमवीत-रागताका बोध होता है। अब यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि-क्या सराग जीवको अनन्त शान्तिके अर्थात् परमवीतरागताके लाभकी प्राप्ति हो सकती है? आगमके अनुसार परमवीतरागता

की प्राप्ति क्षीणकषायगुणस्थानमें ही होती है। अतः इस कथनको आगमविरुद्ध क्यों न माना जाये ? अतीन्द्रिय आनन्दसे स्वाभाविकभावभूत सुखका बोध होता है। स्वभावभावभूत सुखकी प्राप्ति आत्माके शुद्ध स्वभावकी प्राप्ति होनेपर होती है। सराग अवस्थामें जो सुख–आनंद प्राप्त होता है वह इंद्रियजन्य होता होता है। 'अतीन्द्रिय आनंदके साथ साथ अनन्त शान्तिका अनुभव होता है' इस वाक्यसे परमवीतरागताका बोध होता है। जब अतीन्द्रिय आनन्द और अनन्त शान्ति परमवीतरागतारूप या पूर्ण वीतरागतारूप हैं तब 'इसके पश्चात् जब वही आत्मा आत्माके आश्रयसे वीतराग परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय वह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञताको स्वयं प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यके प्रयोगका प्रयोजन ही क्या रहा ? क्या अनन्त शान्ति परमवीतरागतासे भिन्न है ? क्या परमवीतरागता पूर्णवीतरागता की और सर्वताकी साधक होती है ? क्या साध्य और साधन एकरूप होते हैं ? क्या सर्वज्ञ परमवीतराग नहीं होते ? सर्वज्ञके अनन्त शान्ति नहीं होती क्या ? सर्वज्ञताका निर्णय और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पूर्णवीतरागताके पूर्व सराग अवस्थामें ही होता है और पूर्णवीतरागताके पूर्व ही अनन्त शान्तिका लाभ होता है ऐसा जो डॉ. साहबका कथन है वह मनमाना है और सिद्धान्त–विरुद्ध है। अतः 'इसके पश्चात्... प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यकी निष्प्रयोजनता सिद्ध हो जाती है। अनन्तशान्तिसे सर्वज्ञताका भी ग्रहण होता है; क्योंकि अनन्तशान्तिका अर्थात् परमवीतरागताका स्वामी वस्तुतः सर्वज्ञ ही होता है। सारांश, यह कथन डॉ. साहबके साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता।

द्वितीयखण्ड

क्रमबद्धपर्यायसमीक्षा

डॉ. साहबने इस खण्डमें ' कुछ प्रश्नोत्तर ' दिये हैं। इन प्रश्नोत्तरोंके विषयमें मै अपने विचार व्यक्त कर रहा हूं। इस विषयमें विद्वान पाटक भी अपने विचार व्यक्त करेंगे ऐसी आशा है। प्रथम प्रश्न इसप्रकार है–

१) प्रश्न – समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीकामें समागत जिन पंक्तियोंको ' क्रमबद्धपर्यायके समर्थनमें प्रस्तुत किया जाता है. उनका आशय तो मात्र इतना ही है कि जीव, अजीव नहीं है और अजीव जीव नहीं है। उसमें तो मात्र दो द्रव्योंकी भिन्नता बताई है, उसमेंसे पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं–यह बात कहाँ निकलती है ? (पृ. ८५)

उत्तर– – उक्त पंक्तियोंमें दो द्रव्योंकी मात्र भिन्नता सिद्ध नहीं की गई है. अपि तु स्पष्ट कहा गया है कि " जीव क्रमनियमित अपने परिणामोंमे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमनियमित परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। " (पृ. ८६)

इससे स्पष्ट होता है कि डॉ. साहब उक्त गाथाओंके द्वारा जीव और अजीव इनमें भेद बताया गया है इस अभिप्रायको स्वीकार कर रहे हैं। स्वभावभेदके कारण जीव और अजीव में भेद है ही। जो बात सिद्ध है उसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जीव और अजीव को विभावभावरूपसे परिणति होनेपर भी जीव अपने स्वभाव को छोडकर अजीव नहीं होता

और अजीव अपने स्वभावको छोड़कर जीवरूपसे परिणत नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कौनसा भी पदार्थ अपने स्वभाव को छोडकर अन्य द्रव्यके रूपसे परिणत नहीं होता, फिर भले ही उसका आत्यंतिकरूपसे विभावपरिणमन हो जावे। एक द्रव्य अन्य द्रव्यका उपादानकर्ता नहीं होता और अन्य द्रव्यका उपादेय–कर्म–परिणाम भी नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका निमित्तकर्ता भी नहीं होता। दो योग्यतासम्पन्न द्रव्योंमें निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य होता है। दो द्रव्योंमें उत्पाद्योत्पादकभाव और उपादानोपादेयभाव नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामके रूपसे नियतरूपसे परिणत होता है इसमें संदेह नहीं, किन्तु उस परिणतिका नियामक निमित्त होता है–सहकारिकारण होता है। जीवके विभावरूप परिणामके कालका, स्थलका और प्रकारका नियामक कर्म होता है और कर्म–योग्य पुद्‌गलवर्गणाओंकी कर्मरूपपरिणतिका जीव अर्थात् जीवका विभावभाव सहकारिकारण होता है। लकडी की कुर्सीके रूपसे जो परिणति होती है उसके स्थल, काल और प्रकारका नियामक बढईरूप द्रव्य सहकारिकारण होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनका कर्ता स्वयं होता है इसमें संदेह नहीं; क्यों कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामके रूपसे परिणत होता है। प्रत्येक द्रव्यका अपने परिणामके रूपसे जो परिणमन होता है वह सह–कारिकारण मिलनेपर ही होता है। मैं फिरसे यह कहता हूं कि द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी सहकारिकारण मिलनेपर ही अपने परिणामके रूपसे परिणत होता है। सहकारिकारणके अभावमें या सर्वथा अकिंचित्करतामें द्रव्यका अपने परिणामके

रूपसे परिणत होना मानना युक्तिके, आगमके और प्रतीतिके विरुद्ध है।

३०८ से ३११ तक की गाथाओंकी उत्थानिका और अंतिमपंक्ति यद्यपि आत्माके अकर्तृत्व का उल्लेख करती है तो भी आत्मा कर्ता होता ही नहीं ऐसा नहीं है। आत्मा परद्रव्यका उपादनकर्ता नहीं होता ऐसा ही भाव अभिप्रेत है; क्योंकि आत्मख्यातिमें वही अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

उक्त गाथाओं की आत्मख्यातिमें जो क्रमनियमित यह सामासिक पद पाया जाता है उसका अर्थ क्रमबद्ध ऐसा नहीं है, अपि तु 'कर्मके द्वारा नियत किया गया' ऐसा है। इस बातका खुलासा इस ट्रेक्टके प्रारंभमें ही किया गया है।

आगे पृ. ८६-८७ पर लिखा है कि– 'जो ज्ञानगुण अभी कुमतिज्ञानरूप है, वह बदल कर अगले क्षण सुमतिज्ञान हो सकता है, सुमतिज्ञानसे पलटकर ज्ञान अगले क्षणमें केवलज्ञानरूप हो सकता है; पर ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह रसरूप हो जाय, रंगरूप हो जाय या सुखरूप हो जाय। पर्याय के बदलाव की भी एक मर्यादा है, और वह भी नियमित है; वह हमारी इच्छानुसार नहीं, बल्कि अपने निश्चितक्रमानुसार बदलती है यह बात यहां स्पष्ट की गई है।'

क्षायोपशमिक ज्ञान की जो कुमतिज्ञानरूप अवस्था है उसका कारण मिथ्यात्व कर्म नहीं है क्या? यदि नहीं है तो कुमतिज्ञानको जीवका वैभाविकभाव न मानकर स्वाभाविकभाव मानना होगा। यदि उसको स्वाभाविकभाव माना तो उसका अभाव कभी नहीं होगा और आगमविरोध हो जायगा। आगम

तो क्षायिकभावरूप शुद्धतम ज्ञानको आत्माका स्वभाव बताता है। वह जो बदलकर सुमतिज्ञानरूप होता है उसका कारण मिथ्यात्व का उदय नहीं है क्या ? यदि है तो ज्ञान की पर्यायके परिवर्तन का कारण मिथ्यात्वका नाश हो जानारूप निमित्त है यह स्पष्ट हो जाता है। सुमतिज्ञानसे पलटकर ज्ञान अगले क्षण जो केवलज्ञानरूप होता है उसका कारण–निमित्त ज्ञानावरणीय–कर्मका क्षय है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानका परिवर्तन निमित्तके सद्भावमें ही होता है, उसके अभावमें नहीं। इस नियत परिवर्तन का नियामक निमित्त ही होता है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः क्रमनियमित यह जो शब्द है उसका अर्थ कर्मनियमितक्रम ऐसा होता है। अतः पर्यायका क्रम निमित्तनियमित है, केवल बद्ध नहीं है। अस्तु। जो सुमतिज्ञान केवलज्ञानके रूपसे परिवर्तित होता है वह सुखरूपसे परिवर्तित नहीं होता ऐसा जो ऊपरके उद्धरणमें कहा गया है उसके विषयमें 'केवलज्ञान और सुख इनमें सर्वथा भेद होता है क्या ?' ऐसा प्रश्न खड़ा होता है। जो शुद्ध ज्ञायकभाव है उसमें अनंतसुख अंतर्भूत नहीं है क्या ? दूसरी बात यह है कि पर्यायका बदलाव भी निमित्त–नियमित है, निर्निमित्तक नहीं हैं, जैसा कि निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेवाले मानते और कहते हैं। यह बदलाव हमारी इच्छानुसार नहीं यह कथन ऐकान्तिक है। कर्मकी निर्जरा करनेसे जो ज्ञानके वैभाविकस्वरूपमें शुद्धिरूपसे परिवर्तन होता है उसको सकामनिर्जरा कहते हैं। यह सकामनिर्जरा इच्छाके अभावमें होती है क्या ? यह परिवर्तन बुद्धिपूर्वक होता है। अबुद्धिपूर्वक भी परिवर्तन होता है इसमें संदेह नहीं; किंतु वह जीवके दैवके–कर्मके कारण होता है। स्वामिसमन्तभद्रने कहा है

कि– ' अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः । बुद्धिपूर्वव्यपे-क्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ॥ ' अतः पर्यायोंके क्रमका निश्चय निमित्ताधीन होता है । यह स्पष्ट है । वह निश्चय विना निमित्तके नहीं हो सकता । इससे स्पष्ट हो जाता है कि पर्यायका बदलाव निश्चितक्रमानुसार ही होता है और उसका निश्चायक निमित्त होता है ।

आगे पृष्ठ ८७ पर लिखा है कि– ' एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी परिणमन नहीं करता, करे तो वह उसरूप हो जाय अर्थात् जब वह उसरूप होवे तब वह उसे परिणमा सकता है, अन्यथा नहीं । अजीव को परिणमाने-बदलनेके लिए जीव को अजीवरूप होना होगा । जब वह स्वयं अजीवरूप हो, तब वह अजीवके परिणमनका कर्ता हो सकता है, और ऐसा कभी होता नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने क्रमनियमित परिणामोंमें परिणमता–बदलता हुआ जीव ही रहता है, अजीव नहीं होता । '

लेखक महोदयका कहना है कि मिट्टिको पिण्डरूपसे या घटरूपसे परिवर्तित करनेके लिए अपने चेतनस्वभावका त्याग करके अचेतन मिट्टीके रूपसे परिणत होना पड़ता है । कुम्हार यदि मिट्टीके रूपसे परिणत न हुआ तो वह मिट्टीको पिण्डरूपसे या घटरूपसे परिवर्तित नहीं कर सकता । मिट्टीको पिण्डरूपसे या घटरूपसे परिवर्तिन करनेके लिए कुम्हारको अपने चेतन-रूपका त्याग करके अचेतन मिट्टीका रूप दिनमें कितने दफे ग्रहण करना पड़ेगा और कितने दफे अपने स्वरूप को ग्रहण करना पड़ेगा और कौनसा कार्य करनेके लिए ? इस प्रश्नका उत्तर लेखक-

महोदयको देना होगा। उनका यह प्रयत्न भ्रम फैलानेके लिए किया जा रहा है। घटकी उत्पत्ति करनेवाले अर्थात् मिट्टीके स्वरूपको परिवर्तित करनेवाले कुम्हारको मिट्टीके रूपसे परिवर्तित होते हुए किसीने देखा है क्या ? कुम्हार मिट्टीको घटरूपसे परिणमाता है और मिट्टीके रूपसे परिणत भी नहीं होता यह सारी दुनिया जानती है। निमित्त या सहकारिकारण निमित्तकर्ता कहा जाता है। वह उपादानसे भिन्न होता है, उपादानकी उपादेयके रूपसे होनेवाली परिणतिमें सहकारिकारण होकर उपादानकी स्वयं परिणत होनेकी असमर्थताको खंडित करता है और बलाधान करता है। कार्यकी-उपादेयकी-पर्यायकी-परिणामकी उत्पत्ति होने तक सहकारी होता है।जो सहकारी होता है वह नियमसे सहचारी होता है; किन्तु जो सहचारी होता है वह सहकारी होता है और नहीं भी होता। अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी होनेवाली परिणतिमें सहकारी होनेसे वह परिणमन करनेवाला या निमित्त-कर्ता कहा जाता है। लकडीको कुर्सीके रूपसे बढई परिणमाता है, मिट्टीको कुम्हार घटरूपसे परिणमाता है यह चक्षुर्वै सत्यं है। अतः एक द्रव्य दूसरेका कुछ भी परिणमन नहीं करता यह मन्तव्य प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। जो जन्मान्ध होता है वह भी लेखक महोदयके उक्त वक्तव्यको स्वीकार नहीं कर सकता। जीव या अजीव निमित्त मिलनेपर विभावपरिणामोंके रूपसे परिणत होता हुआ भी अपने स्वभावको छोड़कर अन्यद्रव्यके रूपसे परिणत नहीं होता, क्योंकि उसके स्वभावमें केवल विकार उत्पन्न होता है, उसका स्वभाव नष्ट नहीं होता।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– 'दूसरी बात यह है कि यद्यपि जीव अपने परिणामों का कर्ता है तथापि उसे करने का

कुछ बोझा उसके माथेपर नहीं है, क्यों कि वह परिणमन भी सहज होता है और अपने नियमित क्रम में होता है। यही बात यहां स्पष्ट की गई है। पुद्‌गलादि अजीव द्रव्य अपने परिणमनका कोई बोझा नहीं रखते, तो क्या उनका परिणमन रुक जाता है। यदि नहीं, तो फिर जीव ही अपने माथे पर बोजा क्यों रखे ? '

लेखक महोदय लोगों को भ्रममें डालनेमें बड़े चतुर मालुम होते हैं। जीवके परिणाम स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उसी प्रकार अर्थ और व्यंजन के भेदसे भी दो प्रकारके होते है। स्वभावपर्यायें शुद्धजीवोपादानक होती हैं और विभावपर्यायें अशुद्धजीवोपादानक होती हैं। अजीव की स्वभावपर्यायें कालद्रव्यनिमित्तक होती हैं और विभावपर्यायें जीवद्रव्यनिमित्तक भी होती हैं और कालद्रव्यनिमित्तक भी होती हैं। जीवकी विभावपर्यायें कर्मोदयनिमित्तक होती हैं और स्वभावपर्यायें कर्मक्षयनिमित्तक होती हैं। जीव की जो अर्थपर्यायें उत्पन्न होती है उनका बोझा जीवके माथेपर नहीं होता है, क्योंकि अर्थपर्यायों के रूपसे कालकी सहकारितासे परिणत होना जीवका स्वभाव है। अशुद्ध जीवकी जो विभावपर्यायें उत्पन्न होती हैं उनका बोझा विभावभावनिमित्तक कर्मका बोझा विभावभावके रूपसे परिणत होकर जीवने अपने माथेपर उठा लिया है। अशुद्ध जीव का यह परिणमन सहज नहीं होता; क्यों कि वह नैमित्तिकभावरूप होता है। आगममें ऐसे परिणामों को स्वपरप्रत्यय कहा है और अर्थपर्यायों को स्वप्रत्यय कहा है। नैमित्तिकभावरूप वैभाविकभावों की स्वप्रत्ययता की अर्थ-पर्यायों के स्वरूपको या स्वप्रत्ययताको लोगों के सामने

रखकर सिद्धि करना चाहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभावपर्यायों की आगमोक्त स्वपरप्रत्ययता को छिपाकर लेखक महोदय सर्वज्ञोक्त आगमका विरोध कर रहे हैं। क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि करने के लिए सर्वज्ञताका अवलंब करना और विभावपर्यायों की सहजता की सिद्धि करनेके लिए व्यंजनपर्यायों की आगमोक्त अर्थात् सर्वज्ञोक्त स्वपरप्रत्ययता को छिपाना यह कहां की बुद्धिमानी है ? इससे स्पष्ट होता है कि लेखकमहोदय न सर्वज्ञको मानते हैं और न सर्वज्ञ की वाणीको और न उनके उपदिष्ट विषय को मानते है। वे सिर्फ येन केन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। पुद्‌गलादि अजीव द्रव्यका परिणमन भी निर्निमित्तक नहीं होता, क्यों कि वह द्रव्य अपनी परिणतिमें सहकारिकारण की अपेक्षा रखते ही हैं। यह अभिप्राय कुम्हार और बढई के दृष्टान्तों के द्वारा सिद्ध किया गया है। द्रव्यकी परिणति को अहेतुक मानना वस्तुस्वरूपका विरोध करना है। लेखकमहोदय अपना उल्लू सीधा करनेके लिए-द्रव्यपरिणति को निर्हेतुक सिद्ध करने के लिए तुले हुए हैं। उनकी जो जिनागम-पर और जिनेन्द्र भगवानपर श्रद्धा है उसका स्वरूप ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो रहा है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि ' परिणमनको निश्चित बताकर द्रव्यगुणका कुछ अधिकार कम नहीं किया गया है अपितु बोझा हटाया है; क्योंकि वह अपने परिणामका अधिकृत कर्ता और भोक्ता तो है ही।'

इस परिच्छेदके पूर्ववर्ती परिच्छेदमें उन्होंने कहा है कि परिणामका बोझा जीवके माथेपर नहीं है और इस परिच्छेदमें

कहा है कि द्रव्य-गुणका बोझा हटाया है। क्या यह स्ववचन विरोध नहीं है? लेखक महाशयने जीवके कर्तृत्व का और भोक्तृत्व का निषेध भी किया है और यहाँ उसके कर्तृत्वको और भोक्तृत्व को स्वीकार भी किया है। जीवका यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व निश्चयनयकी दृष्टिसे है या व्यवहारनयकी दृष्टि से है? निश्चयनयकी दृष्टिसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व बनता ही नहीं। व्यवहारनयकी दृष्टिसे अवश्य बनता है, किंतु लेखक महोदय व्यवहारको मिथ्या मानते हैं। लेखकमहोदयका कौनसा कथन ठीक माना जाय यह समझमें नहीं आ रहा है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि 'द्रव्य और गुणोंके बारेमें हम सबका विश्वास है कि उनमें कुछ फेरफार संभव नहीं है, अतः उनके बदलनेका हमें विकल्प भी नहीं उठता। पर परिणमनशील होनेसे पर्यायके संबंधमें जगत की कुछ ऐसी धारणा है कि उसमें फेरफार किया जा सकता है। अतः उसमें फेरफार करनेकी बुद्धि होती है।'

लेखकमहोदय स्वयं भ्रममें हैं। मूल वस्तुका सद्भाव बनाये रखकर उसके कुछ अंशोंका परिवर्तन करनेका नाम फेरफार करना-बदल करना है, वस्तुका नाश करके उसको अन्यवस्तुके स्वभावसे युक्त करना फेरफार या बदल करना नहीं है और ऐसा फेरफार-बदल-परिवर्तन हो भी नहीं सकता; क्यों कि जिसका नाश होता है उसका अभाव होनेसे उसका बदल कैसे हो सकता है? वस्तुमें किया जानेवाला या होनेवाला फेरफार वस्तुके सद्भावमें ही किया जा सकता है या हो सकता है। मिट्टीका घर मिट्टीका परिवर्तन नहीं है क्या? पर्यायें द्रव्यपरिवर्तनका कारण

होता ही नहीं क्या ? ज्ञानगुणका बिमित्तके मिलनेपर अज्ञान रूपसे परिवर्तन होता ही नहीं क्या ? ज्ञानका अज्ञानके रूपसे जब परिणमन होता है तब ज्ञानगुणका सर्वथा विनाश होता है क्या ? मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय होनेपर ज्ञानका जब अज्ञान–रूपसे परिवर्तन होता है तब ज्ञानका सर्वथा विनाश होना माना तो मिथ्यात्वका नाश होनेपर जो ज्ञान व्यक्त होता है वह कहांसे आता है ? उसी प्रकार जीवका जब गत्यंतररूपसे परिणमन होता है तब जीवद्रव्यका सर्वथा नाश होता है क्या ? अत: द्रव्य और गुणोंमें कुछ भी फेरफार संभव नहीं है यह मन्तव्य कपोल–कल्पित है। उपादानभूत द्रव्यका जो परिणाम होता है वह उपादा–नके सदृश भी होना है और विसदृश भी होता है। परिणाम-परिणा–मीमें तादात्म्य होनेसे स्वपरिणामीमें फेरफार अवश्य व्यक्त होता है। यदि परिणाम द्रव्यके फेरफारका कारण न होता तो बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य इन तीन अवस्थाओंमें दिखाई देनेवाले भेदका-वैस-दृश्य का अभाव हो जाता और जीवकी बाल्यावस्थाका परिवर्तन कदापि नहीं होता। द्रव्यमें फेरफार न होता तो द्रव्यकी परिण–मनशीलता का अभाव होकर द्रव्य कूटस्थनित्य बन जाता और कूटस्थताके कारण अर्थक्रियाका अभाव होकर द्रव्यका ही अभाव हो जाता। संसारमें जब द्रव्योंका सद्भाव दिखाई दे रहा है तब द्रव्यके फेरफारकी-परिवर्तनकी अर्थात् परिणमन के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है। क्या फेरफारका अस्तित्व परिणमनसे–परिव–र्तनसे भिन्न होता है? द्रव्य और गुणमें फेरफार का अभाव मानना और उनको परिवर्तनशील भी मानता युक्तिसंगत कैसे हो सकता है? सकामनिर्जराके द्वारा उत्पत्स्यमान पर्याय की उत्पत्ति रोकी जाती है।

पृष्ठ ८८ पर लिखा है कि 'द्रव्यगुणके साथ पर्याय भी स्वसमयकी सत् है-उसमें भी अपनी इच्छानुसार कोई फेरफार नहीं किया जा सकता है। जब हमें यह विश्वास हो जावेगा तो उसमें फेरफार करनेकी बुद्धिभी नहीं रहेगी।'

विभावभावात्मकपर्याय कर्मनिमित्तक होती है। यदि उसका उत्पाद कर्मरूप निमित्तके अभावमें होता है ऐसा माना तो विभावभावके रूपसे परिणत होना जीवका स्वभाव बन जायगा और यह स्वभाव शुद्ध अवस्थामें भी बना रहेगा। विभावभावका सद्भाव मुक्त अवस्थामें बना रहनेसे वहाँ दोनों प्रकारके स्वभा-वोंका सद्भाव माननेका प्रसंग खड़ा हो जायेगा। अतः निमित्तके अभावमें विभावपर्यायका प्रादुर्भाव नहीं माना जा सकता। सकामनिर्जरा इच्छापूर्वक होनेसे उत्पत्स्यमान पर्याय का अभाव हो जानेपर उसके स्थानमें अन्यपर्यायका जो प्रादुर्भाव होगा वह पर्याय उक्तपर्यायसे भिन्न होनेसे यह भिन्न पर्याय परिवर्तित पर्याय ही कही जायगी। उत्पन्न हुई पर्याय परिवर्तित नहीं की जा सकती यह सत्य है। अतः उत्पत्स्यमानपर्याय भी परिवर्तनीय नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। पर्याय स्वसमयकी सत् तब हो सकती है जब की वह उत्पन्न हुई होती है, उत्पस्यमान पर्याय अनुत्पन्न होनेसे उसका स्वसमय घटित नहीं हो सकता। अतः पर्याय की सर्वथा और सर्वदा अपरिवर्तनीयता घटित नहीं हो सकती। उसको सर्वथा और सर्वदा अपरिवर्तनीय माना तो सकामनिर्जराका भी अभाव मानना पडेगा। पूर्वपर्यायका नाश ही उत्तरपर्यायका उत्पाद होनेसे पूर्वपर्यायका परिवर्तन ही है। पर्याय और पर्यायी इनमें तादात्म्य होनेसे पर्यायीका परिवर्तन

होना पर्यायके परिवर्तनके अभावमें असंभव है। अतः पर्यायीके परिवर्तनसे पर्यायके परिवर्तन की सिद्धि हो जाती है। जिसका बंध निकाचित होता हैं उस कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न होनेवाली पर्याय अवश्य अपरिवर्तनीय होती है इसमें संदेह नहीं।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि 'जो लोग पर्यायको अपनी इच्छानुसार बदलना चाहते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि पर्यायोंके अनादि-अनंत प्रवाहक्रममें वे भूतकालकी पर्यायें बदलना चाहते हैं या वर्तमान की या भविष्यकी? भूतकालकी पर्यायें तो बदली नहीं जा सकती, क्योंकि वे स्वयं बदल चुकी हैं, समाप्त हो चुकीं है, अतः उनमें तो फेरबदल की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अब रहीं वर्तमान और भविष्यकी पर्यायें। वर्तमान पर्याय भी हो ही रहीं है, उसमें भी क्या किया जा सकता है? इसपर यदि कर्तृत्वके अहंकारसे ग्रस्त कोई अज्ञानी कहे कि वर्तमान पर्यायमें कुछ क्यों नहीं किया जा सकता है? लो मैं उसे अभी उखाड़ फेकता हूँ। उससे कहते हैं भाई.! जरा विचार तो करो वह उत्पन्न तो हो ही गई है, अतः उसे उत्पन्न होनेसे रोकना तो संभव नहीं है। अब रही बात उखाड़ फेकनेकी, सो भाई उसका काल ही एकसमय है। एकसमय बाद वह स्वयं उखड़ जाने वाली है, उसमें तुम्हारा क्या काम? दूसरी बात यह भी तो है कि हमारे क्षयोपशमज्ञा-नमें वह पर्याय उत्पन्न होनेके असंख्य समय बाद आती है। जब तक हम उसे उखाड़ने की सोचेंगे तब तक तो वह कभी की उखड़ चुकी होगी। इसपर यदि वह कहे की न सही भूतकालकी और वर्तमानकी पर्याय, भविष्यकी पर्याय तो हम बदल ही सकते हैं। उनसे कहते हैं कि भविष्य की पर्याय अभी है ही कहाँ–जो आप उन्हें बदलेंगे?'

अब यहां प्रश्न खडा होता है कि पर्यायोंका जो अनादि–अनंत प्रवाहक्रम है उसमें जो प्रवाही पर्यायें होती हैं उनका परिवर्तन होता है या नहीं ? यदि उनका परिवर्तन होता हो तो पर्यायों की परिवर्तनशीलता सिद्ध हो जाती है। यदि उनका परिवर्तन नहीं होता हो तो प्रवाह की अनादि–अनंतताके कारण पर्यायका एकसमयमात्रवर्तित्व नष्ट हो जायगा और उनका प्रवाह ही नहीं बनेगा। दूसरी बात यह है कि भूतकाल की पर्याय नष्ट होकर वर्तमानकाल की पर्यायका उत्पाद होना और वर्तमान–की पर्यायका नाश होकर भविष्यकालकी पर्यायका उत्पाद होना यह परिवर्तन नहीं क्या ? इसीका नाम परिवर्तन है और इसी प्रकारसे पर्यायोंका अनादिसे अनंतकालतक प्रवाह चलता रहता है। भूतकाल की पर्याय का जब नाश हुआ और उसकी अनंतर उत्तर काल की पर्याय का उत्पाद हुआ तबही भूतकालकी पर्याय का परिवर्तन हुआ। वर्तमानकाल की एक–मात्रसमयस्थितिक पर्यायका नाश और भविष्यत्कालवर्तिनी एकसमयमात्रस्थितिक पर्यायका उत्पाद होना ही वर्तमानकाल की पर्याय का परिवर्तन है। इसीप्रकार भविष्यकालकी पर्यायका परिवर्तन होता है। आपने जो कहा है कि वर्तमानकाल की पर्यायके नाश की क्रियाको प्रारंभ करनेके पहले ही वर्तमानकाल की एकसमयमात्रस्थितिक पर्यायका नाश हो जाता है उससे वर्तमानकाल की पर्याय की परिवर्तनीयता सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः लेखकमहोदयके कथनसे पर्यायकी परिवर्तनशीलता सिद्ध हो जाती है। विद्वान लेखकमहोदयके कथनसे ही जब पर्यायों की परिवर्तनीयता सिद्ध हो जाती है तब उसको दुबारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमानकालकी पर्यायके नाश

की चर्चा करते हुए उन्होंने पर्यायकी एकसमयमात्रस्थितिकता के द्वारा पर्यायको जो इच्छानुसार बदलना चाहते हैं उनका मुह बंद करनेका जो प्रयत्न किया है उसके बारेमें ऐसा प्रश्न खडा होता है कि क्या पर्याय एकसमयमात्रस्थितिक ही होती है ? क्या लेखकमहोदयकी मनुष्यपर्याय एकसमयमात्रस्थितिक है । अर्थपर्यायही एकसमयमात्रस्थितिक होती है; किंतु व्यंजनपर्याय एकसमयमात्रस्थितिक नहीं होती । क्या व्यंजनपर्यायका नाश नहीं किया जा सकता ? जीवकी व्यंजनपर्यायका उसका घात करके नाश नहीं किया जा सकता ? अजीव की व्यंजनपर्यायका भी नाश नहीं किया जा सकता ? प्रतीतिसिद्ध बातका विरोध करना उचित है क्या ? शंकाकार की वर्तमानकाल की व्यंजन-पर्यायके नाश की बातका अर्थपर्याय की एकसमयमात्रस्थिति-कताका अवलंब होकर जो विरोध किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि शंकाकरके अभिप्रायका प्रतिवाद करनेकी शक्ति लेखकमहोदयमें नहीं है । स्थूलपर्यायों के विषयमें लेखकमहोदयने मौन क्यों पकड रखा है ?

पर्यायनियामक निमित्त बाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकार का है । घटपर्याय का नियामक बाह्यहेतु कुम्हार है और अभ्यन्तरहेतु मिट्टीकी योग्यता है। जीवकी विभावपर्यायका कर्मोदय बाह्य निमित्त है और अशुद्धजीवकी योग्यता अभ्यंतर निमित्त है । कर्मोदयरूप बाह्य निमित्त ही जीवकी विभाव-पर्यायका नियामक है । मिट्टीरूप उपादान की योग्यता का सद्भाव होनेपर ही बाह्य प्रेरक निमित्त कुम्हार अपनी इच्छा-नुसार घटादि जब बनाता है तब मिट्टी और घटके बीचमें अनेक

पर्यायों का अपनी इच्छाके अनुसार उत्पाद और विनाश करता है। इससे स्पष्ट होता है कि पर्यायों की उत्पत्ति इच्छानुसार भी होती है। सकामनिर्जरासे भी यह अभिप्राय व्यक्त होता है। जीवकी पर्यायें इच्छापूर्वक भी होती हैं और इच्छाके अभावमें भी होती है। जो पर्यायें कर्मोदयनिमित्तक होती हैं वे इच्छाके अभावमें होती हैं और जो पर्यायें सकामनिर्जराके कारण होती हैं वे पर्यायें इच्छापूर्वक होती हैं। मिट्टी की घटादि पर्यायें और लकडीकी चौकी आदि पर्यायें इच्छापूर्वक होती हैं। सारांश, पर्यायें इच्छापूर्वक भी होती हैं और इच्छापूर्वक नहीं भी होती।

आगे पृ. ८९ पर लिखा है कि – 'इसपर यदि यह कहा जाय कि भविष्यमें बुरी पर्यायें नहीं आने देंगे, अच्छी अच्छी पर्यायें लावेंगे; तो यह प्रश्न खडा होगा कि कौन पर्याय अच्छी है, कौन बुरी इसका निर्णय कौन करेगा? विभिन्न रूचयः हि लोक :– इस नीतिके अनुसार अच्छे-बुरे का निर्णय भी असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।'

जीव आगमोक्त तपश्चरणके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करके आत्माकी शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम पर्यायोंके रूपसे परिणत नहीं कर सकता क्या? ये पर्यायें अच्छी नहीं हैं क्या? सांसारिक पर्यायोंमें सुखात्मक पर्यायें अच्छी और दुःखात्मक पर्यायें बुरी नहीं है क्या? प्रयत्नके द्वारा कर्मोदय अनुकूल होनेपर बुरी पर्यायका नाश करके अच्छी पर्यायकी उत्पत्ति नहीं की जा सकती क्या? पापाचरण के द्वारा अच्छी पर्यायका नाश करके बुरी पर्यायके रूपसे संसारी जीव परिणत नहीं होता क्या? आगमके अनुसार अशुभ परिणामरूप पर्याय बुरी और शुद्ध तथा शुभ

पर्याय अच्छी नहीं है क्या ? तद्भवमोक्षगामी जीवके शुभ और शुद्ध परिणाम होते ही नहीं क्या ? जीव परिणामोंकी अच्छाई और बुराई का ज्ञान आगमसे होता ही नहीं क्या ? परिणामोंकी अच्छाई और बुराईका ज्ञापक सर्वज्ञोपज्ञ आगम होता है इस बातपर लेखकमहोदयका विश्वास नहीं है यह इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है। 'भिन्नरूचिर्हि लोकः' इस वचन पर उनका विश्वास है यह इससे स्पष्ट होता है। लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे भले-बुरेका निर्णय होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है ऐसा जो उनका अभिप्राय है वह अपेक्षाकृत सत्य है। दुनियाके अंदर विश्वासार्ह महापुरुष विद्यमान है ही नहीं क्या ? सुप्रीम कोर्टका निर्णय सर्वथा बुरा ही होता है क्या ? छोड दीजिये इस चर्चाको। आप सर्वज्ञ के वचनको प्रमाण मानते हो या नहीं ? यदी नहीं मानते हो तो सर्वज्ञकी सिद्धिके लिए आपके द्वारा किया जानेवाला प्रयत्न लोकप्रतारणार्थ है यह सिद्ध हो जायगा। यदि मानते हो तो 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' इस सूत्रके अनुसार शुभ परिणाम से अच्छी पर्याय की और अशुभपरिणामसे बुरी पर्यायकी उत्पत्ति होती है इस कथनको स्वीकार करना होगा। आगमके वचन को आपको स्वीकार करना होगा। इस प्रकार तो आपके ऊपर के कथनका मूल्य शून्य हो जायगा। आपके मन्तव्यकी सिद्धिके लिए आपने आगमवचनोंको छिपाया है। यह आपने अच्छा नहीं किया :

इसी पृष्ठपर आगे कहा है कि 'यदि कोई कहे कि हम अपनी रुचिके अनुसार निर्णय करेंगे, उनसे कहते हैं कि यदि आप सिर्फ अपनी ही भावी पर्यायके कर्ता बनते तो बात अलग

थी; पर आप तो पर पदार्थोंकी भी पर्यायें अपने अनुकूल बदलना चाहते हैं, उनमें इष्ट-अनिष्ट का निर्णय मात्र आपकी ही इच्छासे कैसे होगा? जगतमें अन्य प्राणी भी तो हैं, उनकी इच्छाके व्याघात का प्रसंग अवश्य आवेगा।'

जीव अपनी पर्यायको बदल सकता है इतना ही नहीं अपितु पर की पर्याय भी बदल सकता है और वह भी अपने अनुकूल। परकी योग्यता हो तो उपदेशके द्वारा उसकी मानसपरिणामात्मक पर्याय बदल सकता है। श्रीकानजीभाईने यही तो किया। एक जीव पर जीवकी द्रव्यपर्याय भी बदल सकता है। अचेतन द्रव्यकी पर्याय भी बदल सकता है। कुम्हार, बढई, सुवर्णकार, लुहार आदि यही काम करते हैं। एक जीव दूसरे जीव की अबुद्धिपूर्वक होनेवाली पर्यायका कर्ता-निमित्तकर्ता नहीं भी बन सकता। अन्य प्राणियोंकी इच्छा की अनुकूलता होनेपर या नहीं होनेपर भी उनकी द्रव्यपर्याय या अन्य पर्याय परिवर्तित की जा सकती है। जो अन्य जीवकी पर्याय का परिवर्तन करता है वह उसकी इच्छाके व्याघात का विचार भी नहीं करता। इससे स्पष्ट हो जाता है की जीवस्वपरपर्यायपरिणति का अपनी इच्छाके अनुसार निर्णय कर सकता है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि 'दूसरे, क्या आपको पता है कि भविष्यमें अमुक पर्याय आनेवाली है जिससे आप यह निर्णय कर सके कि अमुक पर्याय को बदलकर अमुक पर्याय बदलकर मै अमुक पर्यायको लाऊंगा। यदि नहीं तो फिर यह अहंकार झूठा ही सिद्ध हुआ कि मैंने ऐसा नहीं होने दिया और ऐसा किया, क्यों की जो कार्य संपन्न हुआ है-वह नहीं होने वाला था-

अन्य होनेवाला था—इसका निर्णय कैसे होगा? कैसे हो सकता है वही होनेवाला हो, जिसे आप कहते हैं कि मैंने ऐसा किया है। बहुत दूर जाकर भी भविष्य की पर्यायों में फेरफार करने की बात सिद्ध कर पाना संभव नहीं है, अतः व्यर्थ प्रयाससे क्या लाभ? अन्ततो गत्वा यह स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ निजरूप ही रहता है, पर-रूप नहीं होता।'

मरीज अपनी वर्तमानकालकी अवस्थाको बदल कर भविष्यमें उत्पन्न होनेवाली मरण पर्याय को बदलनेका प्रयत्न करता है और उसका प्रयत्न सफल भी होता है। यदि उसे अपनी मरणरूप भावी पर्यायका पता न होता तो वह अपनी वर्तमान-कालकी पर्यायको बदलनेका प्रयत्न कदापि नहीं करता। अवधिज्ञानिमुनिराजके द्वारा भविष्यकालमें उत्पन्न होनेवाली पर्याय को जानकर—उसका निर्णय कर भावी हीन पर्यायका परिवर्तन कर अच्छी पर्यायके रूपसे परिणत हो सकता है। क्या अपनी भविष्यकालकी पर्यायका ज्ञान जीवको किसी भी प्रकारसे नहीं होता ऐसा ऐकान्तिक नियम है? यदि ऐसा नियम होता तो जीव कदापि पुरूषार्थ नहीं करता। वर्तमान अवस्थाका परिवर्तन होकर अच्छी अवस्थाकी उत्पत्ति होती है इस बातको जाननेवाला ही जीव पुरुषार्थ करता है और अपने पुरूषार्थके द्वारा अपनी दुरवस्थाको परिवर्तित करता है—बदलता है। पर्याय—अवस्था बदली जा सकती है ऐसा दृढ विश्वास होनेसे और अवस्थापरि-वर्तन को प्रत्यक्ष देखतेसे जीव अपनी अवस्थाका परिवर्तन करनेके लिए प्रयत्न करने लग जाता है और प्रयत्नकार आवश्यक फल

भी पाता है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमानकालकी पर्याय परिवर्तित की जा सकती है, बदली जा सकती है। अतः पर्याय अपरिवर्तनीय नहीं है। भविष्यकालमें आनेवाले आर्थिकसंकटरूप पर्यायको व्यापारी अपने बौद्धिक कौशल्यद्वारा और तदनुकूल प्रयत्नके द्वारा परिवर्तित करता है और सम्हल जाता है। संसारावस्थाका नाश और मुक्तावस्थाकी प्राप्ति यह पर्याय परिवर्तन नहीं है क्या ? इस पूर्वोक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि पर्याय परिवर्तनीय है अर्थात् पर्याय परिवर्तित की जा सकती है और स्वस्वभावानुसार परिवर्तित होती है। पर्यायें क्रमनियमित होती हैं और उनके क्रमका नियामक कर्म है। नियामक कर्मके अभावमें पर्यायोंका क्रम नियमित नहीं हो सकता। जो पर्यायोंके क्रमकी नियमितता नियामकके अभावमें होती है ऐसा मानते हैं वे अहेतुक नियतिवादके समर्थक हैं।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि '(२) प्रश्न-यदिकोई किसीको नहीं परिणमाता तो यह परिणमन होता कैसे है, इसे कौन कर जाता है ? यदि कभी यह परिणमन रुक जाय तो? अथवा कभी धीरे धीरे हो और कभी तेजीसे-इसका नियामक कौन होगा ? उत्तर-प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, ध्रुवताके समान परिणमन भी उसका स्वभाव है, उसे अपने परिणमनमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है, क्यों कि स्वभाव परनिरपेक्ष ही होता है। यह परिणमन कभी रुक जाय-इसका प्रश्न ही नहीं उठता, क्यों कि परिणमन भी इसका नित्य स्वभाव है। अर्थात् नित्यपरिणमनशील प्रत्येक द्रव्यका सहज स्वभाव है। जल्दी और देरी होनेकी भी कोई समस्या नहीं है, क्यों कि पर्याय एकसमय की ही होती है। किसी पर्यायका दो समय रुकनेका प्रश्न ही नहीं

उठता और एक समयके पहले समाप्त होनेका भी प्रश्न संभव नहीं है। अब रही बात यह कि यह सब कौन करता है? उसके संबंधमें बात यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियां पडी हैं, निरन्तर उल्लसित हो रही हैं. उनके द्वारा ही यह सब सहज होते रहता है।'

प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य पतिणमनशील होनेपर भी अपने स्वभावके अनुसार निमित्तके मिल जानेपर ही वह अपने परिणामके-पर्यायके-कार्यके रूपसे परिणत होता है। आचार्य अकलंकदेवने स्पष्ट रूपसे कहा है कि निमित्तके-सहकारिकारण के अभावमें द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होनेमें असमर्थ होता है। आचार्य समन्तभद्रने स्वयम्भू-स्तोत्रमें एक श्लोकके द्वारा और आचार्य अमृतचंद्रसूरीने समयसार कलशके द्वारा कहा है कि निमित्तके मिलनेपर ही उपादेयके अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होनेका द्रव्यका स्वभाव है। व्यंजनपर्याय की उत्पत्तिमें कर्म निमित्त-सहकारिकारण पडता है और अर्थपर्यायकी उत्पत्ति में कालद्रव्य सहकारिकारण होता है। आचार्य विद्यानंदने श्लोकवार्तिकमें यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अत: द्रव्यको अपने परिणमनमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है यह कथन युक्ति, आगम और प्रतीतिके विरुद्ध है। स्वभाव निरपेक्ष होता है यह कथन निमित्तके मिलनेपर ही पर्याय रूपसे परिणत होनेका द्रव्यका स्वभाव है इस आचार्योंके अभि-प्रायके विरुद्ध होनेसे ग्राह्य नहीं है। आचार्यप्रोक्त द्रव्यस्वभाव परनिरपेक्ष होता है यह कथन ठीक है; किंतु द्रव्यका निमित्तके अभावमें या सर्वथा अकिंचित्करता के सद्भावमें अपनी पर्यायके

रूपसे परिणत होनेका स्वभाव नहीं है। अर्थपर्यायके रूपसे नित्य परिणत होनेका द्रव्यका स्वभाव नहीं रुकता, क्यों कि कालरूप सहकारिकारण का सर्वदा सद्भाव होता है; किंतु विभावभावात्मक पर्यायों की उत्पत्ति रुक सकती है, क्यों कि निमित्तकासहकारिकारणका सदा सद्भाव नहीं होता। अशुद्ध द्रव्य विभावभावात्मक परिणामके रूपसे परिणत होनेके सर्वथा अभिमुख होता है तो भी विशिष्ट निमित्तके अभावमें विशिष्ट विभावाभावात्मक पर्यायके रूपसे परिणत नहीं होता। लेखक महोदय पर्याय को एकसमयवर्ती ही मानते हैं। उनसे मैं पूछता हूं की उनकी मनुष्य पर्यायका काल एकसमयमात्रप्रमाण है क्या ? उनकी पर्यायका काल अनेकवर्षप्रमाण है यह स्पष्ट है। एकसमयप्रमाण न होनेसे वे पर्यायरूप नहीं है क्या ? वस्तुतः ये व्यंजनपर्यायरूप हैं। उनके आयुकर्मका उदय नहीं है क्या ? क्या आयुकर्मके उदयके अभावमें जीवकी जीवनयात्रा बन सकती है ? क्या लेखकमहोदय की मनुष्यपर्याय निर्निमित्तक है – मनुष्यगतिनामकर्मादिके और आयुकर्मके उदयके अभावमें उत्पन्न हुई है ? उनकी जब मनुष्यपर्याय उत्पन्न हुई थी तब कर्मरूप निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर था ? उनकी उत्पत्तिमें उनके माता-पिता भी निमित्तकारण नहीं थे ? क्या वे उपादानकारण थे ? एक कार्यकी उत्पतिके दो उपादानकारण हो सकते हैं ? लेखकमहोदय एक पर्यायकी उत्पत्ति दो उपादानकारणोंसे नहीं मानते हैं। अस्तु। दूसरी बात यह है कि 'एक पर्याय दो समय नहीं रुकती' यह कथन ऐकान्तिक है। अर्थपर्याय दो समय नहीं रुकती है यह कथन अर्थपर्याय की दृष्टिसे ठीक है; किंतु व्यंजनपर्याय की दृष्टिसे मिथ्या है, प्रत्यक्षके विरुद्ध है। 'यह सब कौन करता है ?'

इस प्रश्नका उत्तर लेखकमहोदयने ' द्रव्यगत शक्तियों के कारण सब सहज होता है ' ऐसा उत्तर देकर निमित्तको और पुरुषार्थ को उडा दिया है और निर्हेतुक नियतिवादका समर्थन किया है। इस उत्तरके द्वारा आचार्य कुंदकुंदभगवानके वचनका विरोध किया गया है। आचार्य भगवानने पंचास्तिकायमें निमित्तके प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ऐसे दो भेद किये हैं। आगममें निमित्त का और निमित्तकर्ताका उल्लेख मिलता है। निमित्तको सर्वथा उडा देकर लेखकने आगमका ही विरोध किया है।

पृ. ९० पर पं. जीने भावशक्तिका, अभावशक्तिका, भावाभावशक्तिका और अभावभावशक्तिका, स्पष्टीकरण करनेका प्रयत्न किया है और उसके द्वारा पर्यायों की उत्पत्ति सहकारिकारणके अभावमें होती है यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इन शक्तियों के लक्षणमें सहकारिकारण का निर्देश नहीं है इसका अर्थ यह नहीं है कि पर्यायों की उत्पत्ति निमित्तके अभावमें होती है। यह शक्तिविषयकप्रतिपादन आचार्य अमृतचंद्रजीने ही किया है। इन्ही आचार्य महाराजने समयसार की गाथा २७८-२७९ की आत्मख्याति टीका लिखी है। उस टीका के द्वारा उन्होंने बताया है कि सहकारिकारण के अभावमें कार्यकी-पर्यायाकी उत्पत्ति नहीं होती। आचार्य कुंदकुंदकी गाथाओं का यही अभिप्राय है। वे गाथाएं निम्नप्रकार हैं -

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहि दव्वेहिं॥ २७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहि दोसेहिं ।। २७९ ।।

अर्थ – जिसप्रकार शुद्ध स्फटिकमणी रागादिरूपसे स्वयं (निमित्तभूत अन्य द्रव्यके अभावमें) परिणत नहीं होती, दूसरे लाल आदि वर्णवाले द्रव्योंसे वह ललाई आदि रंगस्वरूपसे परिणत किया जाता है इसीप्रकार शुद्धस्वरूपवाला ज्ञानी स्वयं (सहकारिकारणभूत कर्मरूप अन्यद्रव्यके अभावमें) रागादिभावोंके रूपसे परिणत नहीं होता, वह दूसरोंके (कर्मों के) द्वारा रागादि दोषों के रूपसे परिणमाया जाता है ।

इस आगमप्रमाणसे यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य विभाव-पर्यायके रूपसे सहकारिकारणके मिल जानेपर ही परिणत होता है। उक्त गाथाओंकी आत्मख्यातिके द्वारा आचार्य अमृतचंद्रसूरीने यही अभिप्राय व्यक्त किया है। यही अभिप्राय आचार्यमहाराजने निम्न कलशके द्वारा व्यक्त किया है। देखिए –

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथाऽर्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१७५।।

अर्थ – आत्मा अपने रागादिभावोंका सूर्यकान्तमणिके समान कदापि निमित्त नहीं होता, उसकी रागादिरूपसे होनेवाली परिणतिमें पर (कर्म) का संग ही निमित्तकारण होता है। यह वस्तुका स्वभाव उदयको प्राप्त होता है–प्रकट होता है।

जो आचार्य निमित्तके अभावमें पर्यायकी–कार्यकी उत्पत्ति नहीं होना-निमित्तके मिल जानेपर ही उपादानभूत द्रव्यसे पर्यायकी उत्पत्ति होना द्रव्यका स्वभाव है ऐसा कहते हैं,क्या आप वें पर्यायकी उत्पत्ति निमित्तके अभावमें सहज होती है ऐसा कह सकते हैं ? आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानंदि आदि प्राक्तन आचार्योंका एक ही अभिप्राय है। अतः उक्त शक्तियोंके लक्षणमें यद्यपि निमित्तका उल्लेख नहीं है तथापि उसका सद्भाव मानना ही होगा। अतः ये शक्तियां भी पर्यायकी उत्पत्ति निमित्तके अभावमें होती है इस बातकी सिद्धि करनेमें असमर्थ हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

पृ. ९१ पर लिखा है कि – 'प्रश्नः– पर्यायको स्वसमयमें कौन लाता है और एक समय बाद कौन हटाता है ? पर्याय स्वसमयमें आ ही जावे और अगले समय हट जावे–इसका नियामक कौन है ? यदि पर्याय स्वसमयपर न आये तो उसे कौन लावे और एकसमय बाद भी न हटे तो कौन हटाये ? ऐसी स्थितिमें या तो द्रव्य पर्यायसे खाली हो जावेगा या एक समयमें दो दो पर्यायें हो जावेंगी।

उत्तरः– इसकी आप चिन्ता न करें। ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें एक ऐसी भी शक्ति है जिसके कारण वर्तमान पर्यायका नियमसे आगामी समयमें अभाव हो जायगा; उस शक्तिका नाम है भावाभावशक्ति। तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण आगामी समयमें होनेवाली पर्याय नियमसे उत्पन्न होगी ही।इस शक्तिका नाम है अभावभावशक्ति। जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियमसे होगी

ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्यमें है जिसका नाम है भावाभावशक्ति। तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिससमय नहीं होनी है, वह नियमसे नहीं होगी, उस शक्तिका नाम है अभावाभावशक्ति। उक्त छह (?) शक्तियोंका स्वरूप यह सुनिश्चित सिद्ध करता है कि जिस द्रव्यकी, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादानके अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वयं नियमसे उसी सयम, वैसी ही होती है उसमें परकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं रहती।'

पर्यायकी उत्पत्ति निमित्तके अभावमें होती है इस अपने मन्तव्यकी सिद्धि करनेके लिए लेखकमहोदय सिर्फ अर्थपर्यायको लेकर चर्चा करते हैं। व्यंजनपर्याय की चर्चा को टालते हैं। अर्थपर्याय एक क्षणमात्रवर्ती होती है। उसका अस्तित्वकाल एक समयमात्र होता है। पदार्थ परिमणनशील होनेसे प्रतिसमय उसका उत्पादव्यय होता रहता है। इस परिणतिमें एकसमयमात्रकाल उसकी उत्पत्तिमें सहकारिकारण होता है और वह एकसमय–प्रमाणकाल व्यतीत होते ही उस पर्यायका विनाश होता है। इससे स्पष्ट होता है कि अर्थपर्यायकी उत्पत्तिका और व्ययका नियामक एकसमयप्रमाणकाल ही नियामक होता है। सभी अर्थ–पर्यायें समान होती हैं और उनके नियामक एकसमयप्रमाणकाल ही होता है। प्रत्येक अर्थपर्यायके निमित्तभूत कालके समय भिन्न भिन्न होते हैं। द्रव्यकी अर्थपर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। इन पर्यायोंकी परंपरा कदापि खंडित नहीं होती। एक अर्थपर्यायका अभाव हुआ तो एक समय पर्यायरहित होगा। द्रव्य यदि एकपर्यायरहित हो सकता है तो सभी पर्यायोंसे रहित क्यों नहीं होगा? सभी अर्थ–

पर्यायोंसे रहित होनेपर द्रव्य कूटस्थनित्य बन जायगा, कूटस्थ बन जानेपर अर्थक्रियाशून्य बन जायगा और अर्थक्रियाहीन बन गया तो द्रव्यका ही अभाव हो जायगा। द्रव्यका अभाव होता ही नहीं। अतः द्रव्य एक समय भी अर्थपर्यायरहित नहीं होता। अतः पर्यायको स्वसमयमें लानेका और एक समय बाद उसको हटानेका प्रश्न उठता ही नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अर्थपर्यायको स्वसमयमें लानेवाला और स्वसमयके बाद उसको हटानेवाला निमित्तकारणभूत समय ही होता है अर्थात् वही नियामक होता है। सारांश, जब पदार्थ एक समय भी पर्यायरिक्त नहीं होता तब वह पर्यायसे खाली होनेका और एक समयमें दो दो पर्यायें होनेका प्रसंग आ ही नहीं सकता। मेरी दृष्टीमें उक्त प्रश्नका यह उत्तर है। यह उत्तर नियामककी दृष्टीसे दिया गया है। दूसरी बात यह है कि उपादानकी योग्यता हो तो ही निमित्त अपना कार्य करता है। द्रव्यमें पर्यायरूपसे परिणत होनेकी योग्यता-शक्ति हो तो ही निमित्त अपना काम करता है। जिसप्रकार मिट्टीमें घटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता हो तो ही कुम्हाररूप निमित्त अपने योगोपयोगके अवलंबनसे मिट्टीकी घटरूपसे होनेवाली परिणतिमें सहकारी-निमित्तकारण हो सकता है। रेतीसे घटपर्यायकी उत्पत्ति योग्यतासे संपन्न होनेपर भी कुम्हार नहीं कर सकता; क्योंकि घटादिकार्यरूपसे परिणत होनेकी योग्यता का रेतिमें अभाव होता है। मिट्टीमें घटपर्यायका व्यय होनेकी शक्ति होती है। इसी शक्तिके कारण घटपर्यायका व्यय होता है। आत्मामें भी विद्यमान पर्यायके व्ययरूप शक्ति विद्यमान होती है। यदि यह शक्ति आत्मामें नहीं होती तो उसकी वर्तमान पर्यायका अस्तित्व बना रहनेका प्रसंग खड़ा हो जाता और प्रतिसमय

उत्पन्न होनेवाली अर्थपर्यायोंका अभाव हो जाता। इसप्रकार भी पदार्थका अभाव हो जानेका प्रसंग खड़ा हो जाता। अतः द्रव्यमें पर्यायके व्ययकी शक्ति होती है यह स्पष्ट हो जाता है। इस शक्तिका नाम भावाभावशक्ति है। यह शक्ति भावशक्ति जिस-प्रकार उत्पत्तिकालका निश्चय नहीं कर सकती उसप्रकार व्यय-कालका भी निश्चय नहीं कर सकती। जीवकी व्यंजनपर्यायके उत्पत्तिकालका और व्ययकालका नियमन निमित्त करता है। जीवकी पर्यायके उत्पत्तिकालका नियमन आयुकर्म करता है और व्ययकाल का भी नियमन आयुकर्म ही करता है। इसीप्रकार जीवके अन्य पर्यायोंका नियमन भी कर्मरूप निमित्त ही करता है। अर्थपर्यायका नियमन निमित्तभूत एकसमयप्रमाण काल ही करता है। पर्यायके उत्पत्तिकालका और व्ययकालका नियमन भावशक्ति और भावाभावशक्ति नहीं करतीं। 'पर्यायकालनियामक भावशक्ति और भावाभावशक्ति होती हैं' यह लेखकमहोदयकी सुज्ञता है, आचार्य अमृतचंद्रसूरीकी नहीं है। लेखकमहोदयने शक्तियोंका क्या भाव समझ रखा है समझमे नहीं आता।

पृष्ट ९२ पर लिखा है कि ' प्रश्न– जब हम अपनी पर्याय को भी नहीं बदल सकते तो फिर हमारे परिणमनका कर्ता भी हम क्या रहे ? उत्तर– 'हम अपनी पर्याय को भी नहीं बदल सकते' जब यह कहा जाता है तब उसका आशय यह होता है कि हम उसके निश्चित क्रममें कोई फेर-बदल नहीं कर सकते; यह नहीं होता कि उसके परिणमनके कर्ता भी हम नहीं है। छठवें प्रश्नके उत्तरमें जिन छह शक्तियों की चर्चा की गई है वे द्रव्यकी स्वशक्तियां ही तो हैं, उनके कारण ही तो पर्याय स्वस-

मयमें ही होती है। इसलिए अपनी पर्यायका कर्ता तो द्रव्य है हि। जिनवाणीमें एक अपेक्षा यह भी आती है–जिसमें पर्यायका कर्ता पर्यायको कहा जाता है, द्रव्य को नहीं। त्रिकाली उपादान की अपेक्षा पर्याय का कर्ता वह द्रव्य या गुण कहा जाता है। यह पर्यायकी स्वतंत्रता की चरम परिणति है, जो उसके सहज क्रमनियमित परिणमनको सिद्ध करती है। परिणमनशीलता द्रव्यका सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्यको अपने परिणमनमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। कोई भी द्रव्य एकसमयको भी परिणमनसे खाली नहीं रहता। यदि एकसमय भी परिणमन रुक जाये तो द्रव्यका द्रव्यत्व ही कायम न रहे। द्रवणशीलता–परिणमन–शीलताका नाम ही द्रव्य है।'

लेखक महोदय कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हैं ऐसा मेरा विश्वास है। पर्याय की उत्पत्ति कर्माधीन होती है। औप–शमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और औदयिक–भाव कर्माधीन हैं। कर्मके उपशमसे औपशमिकभाव, क्षयसे क्षायिकभाव, क्षयोपशमसे क्षायोपशमिकभाव और उदयसे औदयिकभाव उत्पन्न होता है। इन भावोंका निश्चित क्रम कौनसा है बताइए। आपकी दृष्टिमें इन भावोंका क्रम किसीके द्वारा नियमित या नियत किया जाता है या अपने–आप नियत होता है? यदि किसीके द्वारा नियमित या नियत किया जाता हो तो उसका नियमन कर्म करता है या सर्वज्ञ करता है? यदि सर्वज्ञ करता हो तो आगमविरोध खडा हो जाता है; क्यों कि आगमानुसार सर्वज्ञ पर्यायों के क्रमका निया–

मक नहीं है। यदि वह अपने आप नियत होता है ऐसा कहना हो तो अहेतुक नियतिवादकी सिद्धि हो जाती है। यदि उसका नियामक कर्म होता है ऐसा माना तो निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता है इस आपके मन्तव्यका विरोध खडा हो जाता है। मेरी दृष्टिमें जीवकी पर्यायों के क्रमका नियामक कर्म ही है। जिससमय जीव कर्मबन्ध करता है उसी समय उसके उदयका काल निश्चित होता है। इस बद्ध कर्मके उदयकालके पूर्व यदि उस कर्म की निर्जरा की गयी तो उस कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली पर्याय का क्रम कहाँ रहा ? अत: 'हम उसके (पर्याय के) निश्चित क्रममें कोई फेर-बदल नहीं कर सकते' यह कथन मिथ्या और आगमविरूद्ध है। अर्थपर्यायका क्रम नहीं बदला जा सकता यह कथन ठीक है; किंतु इससे विभावपर्यायों का क्रम नहीं बदला जा सकता इस कथन की विपर्यस्तता सिद्ध हो जाती है। यद्यपि अर्थपर्याय की उत्पत्ति और विनाश कालके अधीन होनेसे और काल का अभाव कदापि न होनेसे अर्थपर्यायोंके क्रमका भंग नहीं होता और जीव उसका भंग करनेका प्रयत्न भी नहीं करता। अर्थपर्यायकेरूपसे जीव जब परिणत होता है तब वह उस पर्यायका उपादान-कर्ता होता है। विभावपर्यायके रूपसे जीव जब परिणत होता है तब वह उस विभावात्मकपर्यायका भी उपादान कर्ता होता है। संसारी जीव अपने परिणामों के द्वारा सकामनिर्जरा करके भावी पर्यायोंके क्रमको बदल सकता है। द्रव्यकी स्वशक्तियाँ जो बताई गई हैं उनके कारण पर्याय स्वसमयमें होती हैं यह कथन मनगढंत है; क्यों कि उन शक्तियों के लक्षणमें ऐसा निर्देश नहीं

पाया जाता। अतः जीव अपनी पर्याय के क्रममें बदल कर सकता है यह स्पष्ट है।

इसी उद्धरणमें 'पर्यायका कर्ता पर्यायको कहा जाता है, द्रव्यको नहीं' ऐसा जो कहा है वह अविचारितरमणीय है। कौनसे ग्रंथमें ऐसी अपेक्षा आई है? कर्ता शब्दसे उपादानकर्ता का ही ग्रहण लेखकमहोदयको इष्ट है, निमित्तकर्ता नहीं, क्यों कि वे निमित्तकर्ता को मानते नहीं। उपादानकर्ता का अपने स्वरूपसे अपने उपादेयमें-पर्यायमें-परिणाममें-कार्यमें अन्वित होना यह वस्तुस्वभाव है। मिट्टी अपने स्वरूपसे अपनी घटरूप पर्यायमें अन्वित होती है। यदि एक पर्याय आगेकी दूसरी पर्याय का उपादानकर्ता मानी गई तो वह पर्याय अपनी उपादेयभूत पर्यायमें अन्वित होती है ऐसा माननेका प्रसंग खडा हो जायगा। यदि मनुष्यपर्यायरूपसे परिणत हुए जीवकी मनुष्यपर्याय देवपर्याय की उपादान कर्ता मानी गई तो मनुष्यपर्यायका अपने स्वरूपके साथ देवपर्यायमें अन्वित होनेका प्रसंग खडा हो जायगा। जीवकी मिथ्यात्वपर्यायको सम्यक्त्वपर्याय का उपादानकर्ता माना तो मिथ्यात्वपर्यायका अपने स्वरूपके साथ सम्यक्त्वपर्यायमें अन्वित हो जाने का प्रसंग खडा हो जायगा और सम्यक्त्वपर्याय मिथ्या-त्वपर्यायसे युक्त हो जायगी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान ही सम्य-ग्मिथ्यात्वगुणस्थान बन जायगा। अतः एकपर्याय दूसरे पर्यायकी कर्ता नहीं हो सकती। पर्यायविशिष्ट द्रव्य उत्तरपर्यायका उपादानकर्ता बन सकता है। द्रव्यकी पूर्वपर्यायका नाश ही उत्तरपर्याय का उत्पाद है। यदि पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायका कर्ता माना तो पूर्व पर्यायको ध्रुव मानना होगा पूर्व पर्यायको

ध्रुव माना तो उसका क्षणिकत्व ही नष्ट हो जायगा; क्यों कि पर्यायका नाश होता ही है। यदि पं. जी विचारते तो ऐसा विधान कभी भी न कर पाते। जो त्रैकालिक होता है वही उपादान हो सकता है। एकसमयकालप्रमाण अर्थपर्याय उत्तर अर्थपर्यायकी उपादान कैसे हो सकती है? अतः एक पर्याय को दूसरी पर्याय का उपादानकर्ता नहीं माना जा सकता। लेखक महोदयने जो 'क्षणिक उपादानकी अपेक्षा तत्समय की योग्यता ही कार्यकी नियामक होनेसे पर्याय को ही पर्याय का कर्ता कहा जाता है' ऐसा लिखा है वह चित्य है। उपादन और उपादेयमें—पर्यायमें कार्यकारणभाव या कर्तृकर्मभाव होता है या नहीं? यदि होता है तो उनमें पौर्वापर्य होना ही चाहिये। कमसे कम दो समयों के बिना पौर्वापर्य बन ही नहीं सकता। क्षणिक उपादान द्रव्यरूप होता है या पर्यायरूप होता है? जिनागम द्रव्यको क्षणिक नहीं मानता। द्रव्यको क्षणिक माननेवाले बौद्ध ही होते हैं। जैन तो अर्थपर्याय को क्षणिक मानते हैं। इस अर्थ-पर्याय को उपादान माना और उसकी पर्यायरूपसे परिणति होती है ऐसा माना तो पौर्वापर्यको मानना होगा। पौर्वापर्य माना तो अर्थपर्यायका क्षणिकत्व नष्ट ही जायगा। दूसरी बात यह है कि उत्तरपर्यायमें पूर्वपर्यायका स्वरूपके साथ अन्वित होना मानना पडेगा। अतः एक अर्थपर्याय को दूसरी अर्थपर्यायको उपादान कर्ता मानना गलत है।

लेखकमहाशयने आगे जो 'परिणमनशीलता द्रव्यका सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्यको अपने परिणमनमें परकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है'

ऐसा लिखा है वह युक्ति विरुद्ध है और आगमविरुद्ध है। इस कथन के द्वारा लेखक महाशय निमित्त और पुरुषार्थको उड़ाकर अहेतुक नियतिवाद का समर्थन कर रहे हैं। निमित्तकी सार्थकता और निरर्थकता के विषयमें पहले बहुत कुछ लिखा गया है।

पृष्ठ ९३ पर लिखा है कि 'वे (पर्यायें) स्वभावमें से सहज आती हैं, उन्हें कहींसे लाना नहीं पड़ता; वे परमुखापेक्षी नहीं हैं। यदि उन्हें अन्यकी अपेक्षा हो तो द्रव्य पराधीन हो जावे या परिणमन उसका स्वभाव न रहे, क्यों कि स्वभावको परकी अपेक्षा नहीं होती। जिसमें परकी अपेक्षा हो वह स्वभाव कैसा?

लेखकमहाशयने वस्तुस्वभावको गलत समझा है। आचार्य समन्तभद्र, अकलंकदेव, विद्यानंद और अमृतचंद्र आदि ने वस्तु-स्वरूपको जैसा बताया उससे विपरीतरूपसे समझा है। उक्त आचार्योंने 'निमित्त मिलनेपर ही परिणमनशील वस्तुका अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होना वस्तुका स्वभाव है' ऐसा वस्तुका स्वभाव है ऐसा स्पष्ट रूपसे कहा है। इस वस्तुस्वभावका लेखक महाशयने उक्त कथनसे विरोध किया है। निमित्तके अभावमें वस्तुका परिणमन रुक जाता है। उसका परिणमन रुक जानेसे वस्तु कूटस्थनित्य बन जानेसे उसकी अर्थक्रियाका अभाव हो जानेके कारण वस्तुका ही अभाव हो जानेकी और उसकारण जगत का अभाव हो जानेका प्रसंग खड़ा हो जायगा। वस्तुकी स्वतंत्रताका अर्थ पंडितजीने नहीं समझा है। 'प्रधानीभूतधा-त्वर्थक्रियाश्रयवृत्तित्वं स्वातन्त्र्यं; स्वतंत्रः कर्ता' इस लक्षणके अनुसार जिसमें परिणमनक्रिया होती है वही स्वतंत्र होता है और वही कर्ता होता है। 'यः परिणमति स कर्ता' इस लक्षणके

अनुसार भी जिसमें परिणतिक्रियाकी उत्पत्ति होती है वही स्वतंत्र होता है और वही द्रव्य उपादानकर्ता होता है। ऐसा ही कर्ता अपनी पर्यायरूपसे होनेवाली परिणतिमें परमुखापेक्षी नहीं होता। इस प्रकार द्रव्यकी स्वतंत्रता निर्बाध होनेसे उसे परकी अपेक्षा नहीं होती, वह कभी भी पराधीन नहीं होता। निमित्त मिलनेपर ही उसकी स्वतंत्रता व्यक्त होती है। सहकारिकारण बलाधान करता है इसका क्या अर्थ है ? उपादान परिणमनशील होनेपर भी वह सहकारिकारणके अभावमें स्वयं परिणत होनेमें असमर्थ होता है। इस असमर्थताका अभाव सहकारिकारण बला-धान करके करता है अर्थात् उपादान की असमर्थताका खंडन करता है ऐसे आचार्य अकलंक देवके कथनका लेखक महाशय विरोध कर रहे हैं यह सब अहेतुक नियतिवाद के समर्थन के लिये किया जा रहा है।

इसी पृष्ठपर लिखा है कि ' प्रश्न– जब हम पर का कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर हमारी स्वतंत्रता ही क्या रही ? उत्तर– क्या परमें कुछ करने का नाम ही स्वतंत्रता है ? जब यह कहा जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता तब उसका अर्थ आप मात्र इतना ही क्यों लेते हैं कि आप दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, यह क्यों नहीं लेते की आपका भी कोई कुछ नहीं कर सकता ? जब आप यह विचार करेंगे तब आपको स्वतंत्रता अनुभव होगी कि देखो मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड सकता। '

यहांपर यह प्रश्न खडा होता है कि मिट्टीसे जब घट बनता है तब कुम्हारके योगोपयोग कार्यकारी नही होते क्या? योग का

अर्थ है क्रिया और उपयोगका अर्थ है मानस परिणाम । कुम्हारकी क्रिया घटपरिणतिके अनुकूल होनेपर ही घटपर्यायकी उत्पत्ति होती है । क्रियारूपसे परिणति का उपादानकर्ता कुम्हार होता है और उस क्रियाका घटोत्पत्त्यनुकूल परिणाम घटोपादानभूत मृत्पिण्डपर होकर घटोत्पत्ति होती है । कुम्हारकी यह घटोत्पत्त्यनुकूल क्रिया उपयोगपूर्वक होती है । इस क्रियाके कारण कुम्हार घटका उत्पादक निमित्तकर्ता है ऐसा कहा जाता है। घटोत्पत्त्यनुकूल क्रिया का कर्ता होनेपर भी स्वरूपके साथ मिट्टीके समान घटमें अन्वित न होनेके कारण वह उपादान कर्ताके समान कर्ता न होनेके कारण उसका कर्तृत्व उपचरित है । कुम्हार घटोत्पत्त्यनुकूल क्रियाके कारण घटकर्ता कहा जाता है । अतः निमित्त उपादानसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ नहीं कर सकता यह कथन प्रतीति का अतिलंघन करता है । जिसका परिणाम उपादान के ऊपर होता है ऐसी जो क्रिया है उसका निमित्त कर्ता होनेसे उसकी स्वतंत्रता सिद्ध होती है। पर्यायकी उत्पत्तिमें जिसप्रकार उपादान स्वतंत्र होता है उस प्रकार निमित्त भी स्वतंत्र होता है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता ऐसा जो कहते हैं उनसे यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' इस सूत्रवचनका क्या अर्थ है ? क्या एक जीव दूसरे जीवको सुखी या दुःखी नहीं कर सकता ? जब जीव सुखी या दुःखी होता है तब सातावेदनीय या असातावेदनीयका का उदय और बाह्य नोकर्म कारण नहीं होते क्या ? द्रव्यकर्म पुद्गल द्रव्य है और नोकर्म चेतन या अचेतन द्रव्य है । ये कर्मनोकर्म जीवकी सुखदुःखात्मक परिणतिमें सहकारिकारण नहीं होते क्या ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका

कुछ भी कर नहीं करता ' यह आपकी ही मनगढंत कल्पना है। राजवार्तिक की निम्नपंक्तियां पढ़िए। ये पंक्तियां देखिये 'लोके हि कश्चित् स्वस्य सुखं कुर्वन् परस्यैकस्य सुखं करोति, कश्चित् द्वयोः कश्चिद् बहूनाम्। कश्चित् दुःखमात्मनः कुर्वन् परस्यैकस्य द्वयोः बहूनां वा दुःखं करोति। कदाचिद् द्वौ बहवो वाऽऽत्मनः सुखं दुःखं वा कुर्वन्तः परस्यैकस्य द्वयोर्बहूनां वा सुखं दुःखं वा उत्पादयन्ति।' (रा. वा. ५।११।४) अर्थ 'अपने लिए सुख उत्पन्न करनेवाला कोई जीव दूसरे एकके लिए सुख उत्पन्न करता है, दूसरा कोई दो के लिए, कोई अनेक जीवोंके लिए सुख उत्पन्न करता हैं। कोई अपने लिए दुःख उत्पन्न करनेवाला दूसरे एकके लिए, दोके लिए या अनेकोंके लिए दुःख उत्पन्न करता है। कदाचित् दो या अनेक जीव अपने लिए सुख या दुःख उत्पन्न करते हुए दूसरे एक के लिए, दोके लिए अथवा अनेकोंके लिए सुख या दुःख उत्पन्न करते हैं।' इस आगमवचनका लेखकमहाशय 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता' इस वाक्यके द्वारा विरोध कर रहे हैं। पं. जी महाशयने इस ट्रेक्ट में स्थानस्थानपर आगमका विरोध किया है। आगमवचनों का विरोध करना इन्होंने अपना ध्येय ही बना रखा है।

कर्मोदयके अभावमें नोकर्म कुछ नहीं करता। क्या एक जीव दूसरे जीवकी हिंसा नहीं कर सकता? मारनेवाले जीवका पापकर्म जब उदयमें आता है और मारे जानेवाले जीवका भी पापकर्म जब उदयमें आता है तब एक जीव दूसरे जीव का घात करता है। एक जीवके द्वारा दूसरे जीवकी हिंसा की जानेपर भी यदि हिंसक जीव दूसरे जीवको हिंसा न करता हो तो कसाईकी

भी अहिंसकता सिद्ध हो जायगी, खूनी भी निरपराध सिद्ध हो जायगे । अहिंसाके सिद्धान्तका परिहार हो जायगा और जैनदर्शन की नींव ही उखाड़ दी जायगी । यद्यपि हिंसासे जीवद्रव्यका नाश नहीं होता तथापि मारनेवाले के और मरे जाने वालेके परिणाम अशुभ हो जाते हैं । यही दोनों की हिंसा है । दूसरे के द्वारा आत्मा और शरीरका वियोग होना यही तो मरण है । जब एक जीवके द्वारा दूसरे जीवका शरीरसे वियोग किया जाता है तब दूसरे जीव का मरण होनेपर भी एक जीव दूसरे जीवका कुछ भी करता नहीं ऐसा कहना कहांकी बुद्धिमानी है ? इस उपदेश को सुनकर जैन कसाईका उद्यम करने लग जायंगे । इससे तीर्थका नाश हो जायगा ।

पृष्ठ ९४ पर लिखा है कि ' क्रमबद्धपर्याय की बात तो अनंत स्वतंत्रताकी सूचक है । इसको बुद्धिपूर्वक हृदयसे स्वीकार करनेवाले को तो अनंत स्वतंत्रता की प्रतीति होती है । यह जानकर किसको प्रसन्नता नहीं होगी कि हमारा सुख दुःख, जीवन मरण, भला-बुरा सब कुछ हमारे अधिकारमें है, उसमें किसीका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है ।'

' क्रमबद्ध पर्याय अनंत स्वतंत्रता की सूचक है ' यह कथन कैसे सिद्ध हो सकता है ? पर्यायकी की उत्पत्तिका अपने आप प्रादुर्भाव होना और उनके क्रमका भी नियामकके सर्वथा अभा-वमें बनना इन कारणोंसे क्रमबद्धपर्याय अनंत स्वतंत्रता की सूचक है क्या ? यह क्रमबद्धपर्याय अहेतुक नियतिवादकी सिद्धि करने-वाली है; क्यों कि पर्याय की उत्पत्ति भी अहेतुक है व उनका क्रम भी अहेतुक है । वस्तुतः उक्त कथन मनगढंत होनेसे मिथ्या

है। 'इसको (क्रमबद्धपर्यायको) बुद्धिपूर्वक हृदयसे स्वीकार करनेवाले को तो अनंत स्वतंत्रता की प्रतीति होती है' यह कथन भी मनमाना है। अनंत स्वतंत्रता सिद्धोंके ही होती है; क्यों कि वहां अनंत स्वतंत्रताके बाधक कर्मका अभाव होता है। अतः स्वतंत्रताका अनुभव सिद्धोंको ही प्राप्त होता है। अतः आप ऐसा क्यों नहीं कहते कि जिससमय जीव क्रमबद्धपर्याय का स्वीकार हृदयसे करता है उसको उसी समय मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्रमबद्धपर्याय का हृदयसे स्वीकार मोक्षप्राप्तिका साधकतम साधन नहीं है क्या ? आपने तो क्रमपर्याय का हृदयसे स्वीकार किया है। अतः आपको मोक्षकी प्राप्ति हो गई होगी। आप तो अभीतक सशरीर हैं। हो सकता है आपके सिद्धान्तके अनुसार मोक्षावस्थाप्राप्त आपसरीखा जीव सशरीर ही होता हो। आगे लिखा है कि यह जानकर किसको प्रसन्नता नहीं होगी कि हमारा सुख-दुःख, जीवन-मरण, भला-बुरा हमारे अधिकारमें हैं, उसमें किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।' इसका अर्थ ऐसा मालुम होता है कि उक्त सुख-दुःखादि क्रमबद्धपर्यायके हृदयसे स्वीकार करने न करनेपर अवलंबित है। यह अभिप्राय अमृतचंद्रसूरिके वचनके अर्थात् आगमके विरुद्ध है। आचार्य अमृतचंद्रसूरीने कहा है कि—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम ।।

इससे स्पष्ट होता है कि सुख-दुःख, जीवित-मरण आदि

कर्मोदयके अधीन है। आचार्यप्रवर भगवान कुन्दकुन्द का भी यही अभिप्राय है। आचार्य कुंदकुंदका और अमृतचंद्र का गौरव-पूर्वक उल्लेख करके लोगों की आंखोंमें धूल झोंकनेका माय।चार बारबार किया गया है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि ' यह जानकर भी जिसको प्रसन्नता न हो, समझना चाहिये या तो वह गुलाम वृत्तिका व्यक्ति है या फिर अन्योंको बनाकर रखने की वृत्तिवाला है ? '

न क्रमबद्धपर्याय अनन्तस्वतंत्रताकी सूचक है, न इस क्रम-बद्ध पर्यायको हृदयसे स्वीकार करनेवाले जीव को अनन्त स्वतंत्रताकी प्राप्ति है और न कर्मबद्धजीवके अधिकारमें सुखदुःख, जीवनमरण आदि है तथा सुखदुःखादि, जीवनमरण कर्मोदयके अधीन है। ये सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि आगमके अनुसार कर्मोदयके विना होना असंभव होनेसे इसमें कर्मोदयका अधिकार होनेसे ' उसमें किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है ' ऐसा कहना आगमका विरोध करना है। यह जानकर भी जो क्रमबद्ध पर्यायको स्वीकार करता है वही गुलामवृत्तिका व्यक्ति है। यह दूसरों को गुलाम बनाकर रखनेकी वृत्तिवाला है ऐसा निःसन्देह जानना। लेखक महाशय जो आगमको मानते हैं-क्रमबद्धपर्यायको हृदयसे स्वीकार नहीं करते वे गुलामवृत्तिके व्यक्ति हैं ऐसा कहकर आगमको माननेवालेको गुलामवृत्तिवाले कहते हैं। आगमको माननेवाले गुलामवृत्तिके हैं ऐसा अभिप्राय लेखक महोदयका होनेसे वे जिनागमको माननेवाले नहीं है-ठुकरानेवाले हैं। वे दिगंबर जैन नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि होनेपर भी उन्होंने जो आगमवचनोंका आश्रय लिया है वह-

लोगोंको ठगानेके लिए है यह स्पष्ट हो जाता है। जो जिना-गमको मानते हैं और श्रद्धा भक्ति करते हैं वे निश्चितरूपसे भव्य हैं, सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा मैं समझता हूं। जो आजकलके सभी मुनियोंको द्रव्यलिंगी अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं वे जिनागम-विरोधी होनेसे निश्चितरूपसे वे ही मिथ्यादृष्टि हैं, जैन नहीं है।

पृ. ९७ पर लिखा है कि– "प्रश्न– जब सुख:दुख, जीवन-मरण सब कुछ नियत है, स्वकालमें ही होते हैं, तो फिर अकालमृत्यु नाम की तो कोई चीज ही नहीं रही; जब कि शास्त्रोंमें अकालमृत्यु की चर्चा आती है, तत्त्वार्थसूत्रके दूसरे अध्यायके अन्तिम सूत्रमें अकालमृत्युकी बात साफ-साफ लिखी है? उत्तर– विषभक्षणादि द्वारा होनेवाली मृत्युको अकालमृत्यु कहा जाता है यह कथन आयुकी उदीरणा या अपकर्षण की अपेक्षा किया जाता है; अथवा अपेक्षित मृत्युसे पहले होनेवाले मरण की अपेक्षा यह कथन होता है, वस्तुस्थिति की अपेक्षा नहीं; क्यों कि केवली भगवान के ज्ञानमें तो जिस काल उसका होना ज्ञात हुआ था, उसी कालमें हुआ है; अतः वह भी स्वकालमरण ही है, अकालमरण नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमें भी आयु-कर्म की स्थितिके अपकर्षणकी बात ही कही गई है। तत्त्वार्थसूत्रके जिस सूत्रमें उक्त चर्चा है, वह इसप्रकार है–

"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसङ्ख्येयवर्षा-
युषोऽनपवर्त्यायुषः ॥"

उत्पाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवसे मोक्ष जानेवाले और असंख्यात वर्षकी आयु-वाले भोगभूमियों की आयु अपवर्तनरहित होती है, अर्थात् उनकी

आयुका उसी भवमें अपवर्तन नहीं होता। आयु दो प्रकारकी होती है (१) भुज्यमान आयु और (२) बध्यमान आयु। जिस आयुको जीव वर्तमानमें भोग रहा है, उसे भुज्यमान कहते हैं और जो आयु बंध तो गई है, पर जिसका उपभोग अगले भवमें होगा, उसे बध्यमान आयु कहते हैं। बध्यमान आयुकी स्थिति में तो सभीका अपकर्षण हो सकता है, पर भुज्यमान आयुका अपकर्षण उक्त सूत्रमें कथित जीवों के नहीं होता है- यह बताना उक्त सूत्रका उद्देश है।

राजा श्रेणिकने तेतीस सागरकी नरकायुकी स्थिति बांधी थी और उसका अपकर्षण होकर चौरासी हजार वर्षकी रह गई, पर यह पूर्व भवमें ही हुआ; नरकायुका उपभोग आरंभ होनेके बाद उसका अपकर्षण संभव नहीं है। जबकि उक्त सूत्रमें कथित जीवों को छोड़कर अन्य जीवों की आयुका अपकर्षण उसी भवमें भी हो जाता है। यह संपूर्ण चर्चा आयुके अपकर्षण की है, इससे क्रमबद्धपर्याय की निश्चितता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

प्राश्निक का प्रश्न है कि जब सुखदुःख, जीवनमरण आदि सब कुछ नियत है अर्थात् उनका क्रम निश्चित है तब अकाल मरण कोई चीज ही नहीं रहती; क्योंकि आयुका अपकर्षण या उसकी उदीरणा होना असंभव हो जाता है। उनका कहना है कि 'विषभक्षणादि द्वारा होनेवाली मृत्युको अकाल मृत्यु कहा जाता है। यह कथन आयुकी उदीरणा या अपकर्षण की अपेक्षा किया जाता है; अथवा अपेक्षित आयुसे पहले होनेवाले मरण की अपेक्षा यह कथन होता है, वस्तुस्थिति की अपेक्षा नहीं; क्योंकि केवली भगवानके ज्ञानमें तो जिसकाल उसका मरण

होना ज्ञात हुआ था, उसी काल में हुआ है; अतः वह भी स्वकालमरण ही है, अकालमरण नहीं।'

लेखक महाशयने 'विषभक्षणादि द्वारा होनेवाली मृत्युको अकालमृत्यु कहा जाता है यह कथन शास्त्रीय है' इस बातको स्वीकार किया है यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'यह कथन आयुकी उदीरणा या अपकर्षणकी अपेक्षा किया जाता है' ऐसा जो कहा गया है उसके विषयमें प्रश्न खड़ा होता है कि उदीरणा या अपकर्षण का स्वरूप क्या है? 'अपक्वपाचनमुदीरणा' अर्थात् अनुदयप्राप्त कर्मको उदयमें लानेको उदीरणा कहते हैं और पूर्वबद्ध कर्मके स्थिति अनुभागको कम करना ही अपकर्षण है। किसी जीवके प्रथम सौ वर्षोंका बंध हुआ और जिस समय आयुकर्मका बंध हुआ उस समय आयुकर्मस्थितिका और अनुभाग का भी बंध हुआ। बादमें परिणामविशेषके कारण उसे फिरसे साठ वर्षोंकी आयुका बंध हुआ। जिस समय साठ वर्षोंकी आयुका बंध हुआ उस समय जिस समय आयुके सौ वर्षोंका बंध हुआ था उस समय जो स्थिति और अनुभाग का बंध हुआ था उस समयकी स्थिति और अनुभागसे साठ वर्षोंके बंधके समय होनेवाले स्थिति और अनुभागका कम होनेका नाम ही अपकर्षण है। यदि सौ वर्षोंका पूर्वमें होनेवाला बंध ही नहीं होता तो उस समय स्थितिबंध और अनुभाग बंध ही न होने पाते। इन स्थिति और अनुभाग बंधोंके अभावमें साठ वर्षों की आयुके बंधके समय होनेवाले स्थितिबंध और अनुभागबंध कम होते हैं ऐसा कैसे कहा जा सकता है? इससे अपकर्षण का भी अभाव हो जाता है। बध्यमान आयुमें होनेवाले अपकर्षण का

अभाव होनेसे भुज्यमान आयुमें उदीरणा कैसे होगी ? पूर्वकालमें होनेवाले आयुके बंधका ज्ञान सर्वज्ञ भगवान को होता है यह निश्चित है। उसी प्रकार उत्तर कालमें होनेवाले आयुकर्मका बंध भी सर्वज्ञभगवानके द्वारा जाना जाता है। इसप्रकार दोनों बंधोंका ज्ञान सर्वज्ञ भगवान को होनेसे अपकर्षण की और उदीरणाकी भी सिद्धि होती है। जिस समय साठ वर्षकी आयुका उसके उदयके बाद क्षय होता है उदयावलीके बाहर स्थित आयुकर्मके निषेकों की उदीरणा होती है। सौ वर्षोंकी आयुका बंध होनेके अनन्तर जब परिणामविशेषके कारण साठ वर्षकी आयुका बंध होता है तब सौ वर्षोंकी आयुका अपवर्तन होता है। अतः सौ वर्षोंकी आयु ही अपवर्त्यायु कही जाती है। पूर्वबंधके अनन्तर होनेवाले आयुकर्मका उदय हो कर उसके क्षयके कारण जो मरण होता है उसको अकालमरण या अपमृत्यु कहते हैं और जो मरण आयुकर्मके पूर्वबंधके अनुसार अपवर्तनके अभावमें होता है वह ही स्वकालमरण है। अपवर्तनका भी अर्थ भी घटना है– कम होना है।

लेखक महाशयने 'अपेक्षित आयुसे पहले होनेवाले मरणकी अपेक्षा यह कथन होता है' ऐसा जो लिखा है उसके विषयमें यह प्रश्न खड़ा होता है कि 'अपेक्षित आयुसे' ऐसा जो कहा है उसका अभिप्रेत भाव क्या है ? इसका अभिप्राय मेरी दृष्टिमें अकालमृत्युको टालना है। यदि 'पूर्वबद्ध आयुसे' इसप्रकार शब्दप्रयोग करते तो अपवर्तनकी सिद्धि हो जाती और अकालमरणकी सिद्धि हो जाती। उदीयमान आयुके अपवर्तनका नाम ही कदलीघात है। केवली भगवानके ज्ञानमें पहले बंधे हुए आयुकी अपेक्षा जो मरण होनेवाला था वह न होकर बादमें बंधे हुए

आयुकी अपेक्षा जो मरण होता है उसीको अकालमरण कहते हैं। क्या पूर्वबद्ध आयुका ज्ञान केवली भगवानको नहीं होता है? अतः वस्तुतः पूर्वबद्ध आयुकी अपेक्षा मरण न होकर उत्तरकालमें बंधे हुए आयुकी अपेक्षा होनेवाला मरण अकालमरण ही है, स्वकाल-मरण नहीं है। राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ५३, वार्तिक १० देखिए-

'यथाऽवधारितपाककालात्प्राक् सोपायोपक्रमे सति आम्र-फलादीनां दृष्टः पाकः तथा परिच्छिन्नमरणकालात्प्राक् उदीरणा-प्रत्ययः आयुषो भवत्यपवर्तः।' अर्थ- 'जिसप्रकार पकनेके निर्णीत कालके पूर्व उपाय किया जानेपर आम्रफल आदिकोंका पक जाना देखा गया है उसी प्रकार (पूर्वबद्ध आयुके क्षयके द्वारा) निश्चित किये गये कालके पूर्व (अपक्वपाचनलक्षणवाली) उदीरणाके कारण आयुका अपवर्तन होता है।'

बद्धायुके क्षयका जो काल निर्णीत होता है उसके पहले उदीरणाके कारण जीवका जो मरण होता है उसको आयुका अपवर्तन कहते हैं। इस प्रमाणसे भी लेखक महाशयका कथन अप्रमाणभूत सिद्ध होता है। श्रीमान् पं. फूलचंदजी ने आचार्य पूज्यपादका 'वर्णनार्हद्रूपायोग्यानाम्' यह सूत्रवचन आ. पूज्य-पादका नहीं है ऐसा कहकर उस कथनको जिसप्रकार उडा दिया उसीप्रकार लेखक महाशयने आचार्यवचनोंको ठुकरा दिया तो इस चर्चाकी उनकी अपेक्षासे अंत ही हो गया ऐसा समझना होगा।

'बध्यमान आयुकी स्थितिमें तो सभीका अपकर्षण हो सकता है, पर भुज्यमान आयुका अपकर्षण उक्त सूत्रमें कथित जीवोंके नहीं होता है- यह बताना उक्त सूत्रका उद्देश है।'

'बध्यमान आयुकी स्थितिमें सभीका अर्थात् औपपादिक अर्थात् देव और नारकी, चरमोत्तमदेहवाले और असंख्येयवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयुकी स्थितिमें अपकर्षण होता है क्या ? इस सूत्रमें इस प्रकारका उल्लेख नहीं है और भाष्यकारोंने भी इस प्रकारका उल्लेख किया नहीं है। यदि इन जीवोंकी अगले जन्मकी आयुका जब बंध होता है तब उनकी आयुका अपवर्तन या अपकर्षण होता है ऐसा माना तो भुज्यमान आयुके कालमें विषसेवनादिके कारण होनेवाले मरणके कारण अपवर्तन होता है ऐसा मानना होगा; किंतु सूत्रवचनके अनुसार उक्त जीवोंकी आयुकी स्थिति और अनुभागमें अपकर्षण होता ही नहीं। अतः लेखकमहाशयका उक्त निष्कर्ष गलत है; क्यों कि उक्त जीवों की आयुकी स्थिति और अनुभागमें न आयुका बंध करनेपर अपवर्तन होता है और न बध्यमान आयुके कालमें भी। शेष जीवों की बध्यमान और भुज्यमान आयुमें भी अपवर्तन होता है। निम्न प्रमाण देखिए —

'आयुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां परिणामवशेन बध्यमानस्य आयुषः अपवर्तनमपि भवति। तदेवापवर्तनं घात इत्युच्यते। उदीयमानायुरपवर्तस्य कदलीघाताभिधानात् ॥'

अर्थ :— "आयुकर्म का बंध करनेवाले जीवों की परिणामके कारणसे बध्यमान आयुका अपवर्तन भी होता है। उसी अपवर्तन घात कहा जाता है; क्यों कि उदीयमान आयुके अपवर्तनका नाम कदलीघात है।"

इससे यह स्पष्ट है कि बध्यमान आयुकी स्थितिमें और अनुभागमें जिसप्रकार अपवर्तन होता है उसप्रकार भुज्यमान

आयुकी स्थिति और अनुभागमें भी अपवर्तन होता है किन्तु, बध्यमान आयुकी उदीरणा नहीं होती।

पृष्ठ ९८ में लिखा है कि – ' राजा श्रेणिक ने तेतीस सागर की नरकायुकी स्थिति बांधी थी और उसका अपकर्षण होकर चौरासी हजार वर्षकी रह गई, पर यह पूर्व भवमें ही हुआ; नरकायुका उपभोग आरंभ होनेके बाद उसका अपकर्षण संभव नहीं है। अब भी उक्त सूत्रमें कथित जीवों को छोडकर अन्य जीवों की आयुका अपकर्षण उसी भवमें भी हो जाता है। यह संपूर्ण चर्चा आयुके अपकर्षण की है, इससे क्रमबद्धपर्याय की निश्चिततामें कोई अन्तर नहीं पडता। '

राजा श्रेणिकने तेतीस सागर की जो नरकायुकी स्थिति बांधी थी वही उसका पूर्व बंध था और क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर चौरासी हजार वर्षकी जो स्थिति बांधी थी वह उसका दूसरा आयुबंध है। तेतीस सागरकी आयु कम होकर जो चौरासी हजार वर्षों की बन गई यही उसकी आयुका अपकर्षण है। यह अपकर्षण मनुष्य भवमें ही हुआ था। इस अपकर्षण के कारण उसे तेतीस सागर की आयु नहीं भोगनी पड रही। श्रेणिकने जो आत्मघात कर लिया था वही उसकी भुज्यमान आयुका अपवर्तन है। इसप्रकार भुज्यमान आयुका विषशस्त्रादिसे जो अपवर्तन किया जाता है वही कदलीघात या अकालमरण कहा जाता है। श्रेणिकने जब नरकायु का उपभोग करना प्रारंभ किया तब उदयावली के बाहर जो आयुकर्मके निषेक हैं उनकी उदीरणा होगी। वह उदीरणा अपकर्षण के

विना नहीं हो सकती । श्रेणिक की सप्तम नरक की नारकी की जो पर्याय उत्पन्न होना निश्चित हुआ था वह परिवर्तित होकर प्रथम नरक की पर्यायका उत्पाद होना यह पर्यायपरि- वर्तन नहीं है तो क्या है ? सातवें नरक का बंध और पहले नरकका बंध भगवान को ज्ञात था । अर्थात् पर्यायपरिवर्तन ज्ञात था । यदि श्रेणिक महाराजके प्रथम बंधके बाद द्वितीय बंध न होता तो उनकी उत्पत्ति सातवें नरक में अवश्य हो जाती । इससे स्पष्ट हो जाता है की सातवें नरक के नारकी की पर्याय निश्चित हो गई थी । दूसरे बंधके कारण सातवें नरक के नारकी की निश्चित पर्यायका परिवर्तन होकर प्रथम नरक के नारकी की पर्याय, जो कि बादमें निश्चित हो गई थी उत्पन्न हुई थी । यह बद्धक्रमवाली पर्याय नहीं है तो क्या है ? ऐसी बद्धक्रमवाली पर्याय के परिवर्तन को परिवर्तन नहीं मानना मनमानी करना नहीं तो और क्या है ?

इसी पृष्ठपर लिखा है कि – 'जिस आयुका उपभोग आरंभ नहीं हुआ है, उसमें तो सभी में अपकर्षण संभव है, पर उपभोग आरंभ हो जानेपर उक्त सूत्रमें कथित आयुका अप- कर्षण संभव नहीं है, यही बात उक्त सूत्रमें बतायी गई है ।'

पूर्वभवमें उत्तर आयुका उपभोग आरंभ नहीं होता । अत: उत्तरभवकी बध्यमान आयुका अपकर्षण होता है । उत्तर- भवकी आयु भुज्यमान होनेपर भी विषादिके कारण अपकर्षण होता है । इस अपकर्षण का नाम ही कदलीघात है । 'औप- पादिक ...' इत्यादिसूत्रमें 'अनपवर्त्यायुषः' इस पदके द्वारा

' औपपादिक, चरमोत्तमदेहवाले और असंख्येयवर्षो की आयु-वाले जीवों की आयु अनपवर्त्य-अपवर्तनीय नहीं होती ' ऐसा कहा है। अनपवर्त्य इस शब्द का अर्थ ' जिसका अपवर्तन नहीं हो सकता ' ऐसा है। ' जिस आयुका उपभोग प्रारंभ नहीं हुआ है, उसमें तो सभीमें अपकर्षण संभव है ' ऐसा जो लेखक-महाशयने निष्कर्ष निकाला है वह अनुचित है। ' औपपादिक, चरमोत्तमदेहधारी और असंख्येयवर्षो की आयुवाले इनकी भुज्यमान आयु परिवर्तित नहीं होती; क्यों कि उनके उसी भवमें बद्ध आयुके क्षयका अभाव होता है। बद्ध आयुका अपवर्तन उदीरणाके अभावमें नहीं होता है और उदीरणा उदयावलीमें न आये हुए कर्मोंके निषेकोंकी होती है। यह अप-वर्तन पूर्वभवमें बद्ध आयुकी उसी भवमें होनेवाले अपकर्षणके विना नहीं हो सकता। अतः औपपादिकादिजीवोंकी आयुका पूर्वभवमें अपवर्तन होनेवाले उत्तरभवकी आयुके अपकर्षणके अभावमें नहीं होता। अतः औपपादिकादिजीवोंकी पूर्वभवमें उत्तरभवकी आयुका और वर्तमानपर्यायकी आयुका अपवर्तन नहीं होता। अतः उक्त सूत्रका लेखक महाशयने जो निष्कर्ष निकाला है वह मनमाना और गलत है।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि- ' इससे कालकी नियमितता में कोई अंतर नहीं आता और न ही अन्य समवायोंकी उपेक्षा ही होती है; क्यों कि आयुका अपकर्षण भी तो अन्य समवायोंकी सापेक्षतासे होती है। वस्तुतः यह कथन अकाल-मृत्युका न होकर आयुके अपकर्षण का है।'

जब कालका कहीं पर भी अभाव नहीं होता तव उसकी अनियमिततामें कोई अन्तर पड़ना असंभव है। जब अन्य

समवाय समग्रतया कार्योंकी उत्पत्तिमें न उपादान कारण हो सकते हैं और न निमित्तकारण भी तब कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जो निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मान रहे हैं वे कार्योत्पत्तिमें निमित्तकी आवश्यकता की बात कैसे कर सकते हैं। पांच समवायोंकी कार्योत्पत्तिमें आवश्यकता नहीं हो सकती यह पहले स्पष्ट कर दिया है। पांच समवायोंका कथन दिगंबर आगमग्रंथोंमें नहीं पाया जाता है। 'आयुका अपकर्षण भी तो अन्य समवायोंकी सापेक्षतासे होता है' ऐसा जो कथन विद्वान लेखकमहाशयने किया है उसके विषयमें उन्होंने दिगंबर आगमका प्रमाण पेश नहीं किया है ; आयुके अपकर्षणका कारण जीवका परिणाम होता है। यह शास्त्रीय अभिप्राय है। अतः उत्तरआयुके अपकर्षणका कारण जीव का परिणाम होता है। इस आयुके अपकर्षणमें अन्य समवायोंकी अपेक्षा होती है। इस कथनका स्पष्टीकरण भी लेखकमहाशयने नहीं किया है। अपकर्षणकी अन्य समवायसापेक्षताका ज्ञान लेखक महाशय जैसे प्रकांड विज्ञानको हो सकता है, मेरे जैसे अज्ञानीको नहीं हो सकता। अतः इस ट्रेक्टके प्रकांड विद्वान लेखकमहाशयको उनके अपने मन्तव्यको मुझे समझानेके लिए नम्र निवेदन करता हूँ।

यहाँ मेरा प्रश्न यह है कि अपकर्षणके अभावमें अकालमरण होता है क्या ? कदलीघात अपकर्षणके अभावमें हो सकता है क्या ? च्यावित शरीर किसको कहते हैं ?

आगे इसी पृष्ठमें लिखा है कि– "इस सन्दर्भ में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार श्री जिनेन्द्रवर्णीका निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य

है– 'पांचवां प्रश्न है अकालमृत्युसंबंधी। समयसे पहले विष–भक्षण आदिसे होनेवाली मृत्युको 'अकालमृत्यु' कहते हैं। कर्म–सिद्धान्तके अन्तर्गत पूर्वबद्ध कर्मोंकी स्थिति आदिके घटने–बढनेको 'अपकर्षण' व 'उत्कर्षण कहते हैं और प्रकृतिके बदल जानेको 'संक्रमण' कहते हैं। समयसे पहले कर्मको उदयमें लाना 'उदीरणा' कहलाती है और समयसे पहले उन्हें झाड देना 'निर्जरा' कहलाती है।

आगम कथित ये सब विषय नियतिके बाधक हैं, ऐसी आशंका भी करनी योग्य नहीं, क्यों कि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके पानेपर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वतः होती है। तीव्र क्रोध आनेपर ही विषभक्षण आदिका कार्य होता है, उसके अभावमें नहीं। इसीप्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदिके संबंधमें भी जानना। क्योंकि अकालमृत्युका अर्थ आयुकर्मकी उदीरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अकाल तो केवल इसलिये कहा जाता है कि जितनी आयु बंधी, उतनी स्थिति पूरी नहीं की। वास्तवमें कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसकी स्थिति बन्धके अनुसार ही उदयमें आती है। बुद्धिहीन सूक्ष्म प्राणियों में भी ये उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा जैसा विकल्प उस उस समय आता है, वैसी वैसी प्रवृत्ति ही उस उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा वैसा ही नवीन बंध व उत्कर्षण आदि होता है। उत्कर्षण आदिके परिणाम कोई और हो और बंधके कोई और–ऐसा नहीं है। एक समयके जिस एक परिणाम या प्रवृतिसे बन्ध होता है, उसीसे उसी समय यथायोग्य उत्कर्षण, अपकर्षण आदि भी होते है, अतः इनसे नियति बाधित नहीं हो सकती।"

'समयसे पहले विषभक्षण आदिसे होनेवाली मृत्युको अकालमृत्यु कहते हैं' इस वाक्यमें 'समयसे पहले' ये जो दो शब्द हैं उनसे क्या समझना ? यह समय निश्चित होना चाहिये, क्यों कि यह निश्चित न हो तो 'पहले' इस शब्दसे ठीक बोध नहीं हो सकेगा। इस समय की निश्चिति पूर्वभवमें इस भवकी आयुका जो स्थितिबंध होता है उस स्थितिबंधके कारण होती है। इस उत्तर भवकी आयुकी स्थितिका जो पूर्वभवमें बंध होता है उस बंधके अनंतर परिणामके कारण इस भवकी स्थितिका जो फिरसे बंध होता है वह स्थिति पूर्व-स्थितिसे न्यून होती है। इस न्यून स्थितिका नाम 'अपसरण' है। परिणाम विशेषके कारण पूर्वभवमें फिरसे जो न्यूनस्थितिक बंध हुआ था उसके अनुसार ही पूर्व कालमें प्रथमबद्ध आयुकर्मकी स्थितिके अनुसार उत्तर भव-वर्ती जीवकी आयु होती है। दूसरे आयुबंधकी न्यूनस्थितिके अनुसार भुज्यमान आयुके कालमें पूर्वनिश्चित आयुकी पूर्णताकी अन्यूनता का अभाव पूर्वभवमें द्वितीय बार जो न्यून आयुस्थिति बंधी थी उसके अनुसार उत्तर भवमें जीव का मरण होता है तब आयुकर्मके जो निषेक उदयावली में आये हुए नहीं होते उनकी उदीरणा हो जाती है। यह आयुकर्मकी न्यून स्थिति पूर्ण हो जानेपर जो मरण होता है उसीका नाम अकालमरण या कदलीघात है। इस मरणका काल भी नियत होता है और वह पूर्णभवमें द्वितीयबार किये गए स्थितिबन्धके द्वारा नियमित किया गया है। यह नियति ही सम्यक् नियति कही जाती है। इस मरण से पूर्व निश्चितकालमें परिणमन हो जाता है यह निश्चित है। काल और स्थान के परिवर्तनका नाम क्रमभंग है। यह प्रतिपादन कर्मसिद्धान्तके अनुसार ही है। तीव्रक्रोध की

उत्पत्ति द्रव्यक्रोधके उदयमें आनेपर होती है क्या? यदि द्रव्यक्रोधके उदयमें आनेपर होती हो तो तीव्रभावक्रोधकी उत्पत्ति का नियामक द्रव्यक्रोध होता है यह सिद्ध होता है। यदि द्रव्यक्रोधके उदयरूप निमित्तके अभावमें तीव्र क्रोध आता हो तो जीवका तीव्रभावक्रोधके रूपसे परिणत हो जाना जीवका स्वभाव बन जायगा। 'अकाल-मृत्युका अर्थ आयुकर्मकी उदीरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है' इस वाक्यपर विचार किया जाता है। इसीभवका आयुकर्म इसीभवमें नहीं बांधा जाता है, वह पिछले भवमें ही बांधा जाता है। पूर्वकालमें बंधे हुए आयुकर्मका पूर्वभवमें अपकर्षण हो जानेपर ही उत्तर भवमें विषशस्त्रादिरूप बाह्य निमित्त मिलनेपर ही जीवका मरण हो जाता है। इस समय पूर्वभवमें पूर्वबद्ध आयुके उदयावलीमें न आये हुए कर्मो की उदीरणा होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आयुकर्मके अपकर्षणके अभावमें उसकी उदीरणा नहीं हो सकती।

आगे पृष्ठ ९९ में लिखा है कि 'अकाल तो केवल इसलिये कही जाती है कि जितनी आयु बंधी उतनी स्थिति पूरी नहीं की। वास्तवमें कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसकी स्थिति बन्धके अनुसार ही उदयमें आती है।'

वास्तवमें कर्म बन्धके अनुसार ही उदयमें आता है; किंतु जीवके अच्छेबुरे परिणामोंके अनुसार जब उत्कर्षण या अप-कर्षण होता है तब स्थितिबंधके अनुसार कर्मस्थिति उदयमें आती नहीं। पूर्वभवमें परिणाम विशेषके कारण पूर्वबद्ध आयुका अपकर्षण द्वितीय बंधके समय होकर जो स्थितिबंध होता है

उसके अनुसार उत्तरभवमें भी स्थितिबंध होता है। उसमें फिरसे अपकर्षण नहीं होता इसकारण उत्तरभवमें द्वितीय समयमें बांधी हुई स्थिति पूरी होती है। श्रेणिक की प्रथम नरक की ८४ हजार की बांधो हुई स्थितिमें अपकर्षणके अभावके कारण वह प्रथम नरक की ८४००० वर्षों की पूरी आयु भोगेगा और उत्कर्षण न होनेसे अधिक आयु भी नहीं भोगेगा। अतः उक्त कथन ठीक नहीं है। इससे आगेके कथनपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

पृष्ठ ९९ में लिखा है कि – " प्रश्न :– आप ऐसा क्यों कहते हैं कि केवली के ज्ञानानुसार प्रत्येक मृत्यु स्वकालमें ही होती है; क्यों कि इससे तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि किसी अपेक्षा अकालमृत्यु भी होती होंगी ? उत्तर :– होती तो क्या है, कही अवश्य जाती है। अपकर्षण, उदीरणा आदि की अपेक्षा इसप्रकारका कथन होता है। इसे क्षयोपशमज्ञानकी अपेक्षा भी कह सकते हैं। जैसे एक घडेमें दश लिटर पानी है और उसमें एक छेद भी है, जिसमें से वह पानी एक घंटेमें एक लिटर की रफ्तारसे निकल रहा है। यदि गणितज्ञसे पूछा जाए कि वह घडा कितने समयमें खाली हो जायेगा तो वह अपने गणितानुसार दश घंडे ही बतायेगा जो कि सही ही है , पर यदि किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाए कि वह घडा कब तक खाली हो जायेगा तो वह यह भी बता सकता है कि पांच घंटेमें। क्यों कि उसे यह भी पता है कि पांच घंटे बाद एक बालक की ठोकर से यह घडा ढुलक जाएगा और पानी निकल जायेगा। अब गणित की अपेक्षा उसे असमयमें खाली होना कहा जाएगा

और भविष्यज्ञानी अथवा वस्तुस्थितिकी अपेक्षा यह कहा जाएगा कि उसकी नियति ही यह थी; अतः स्वसमयमें अपनी होनहार के अनुसार उचित निमित्तपूर्वक ही सबकुछ घटित हुआ है।'

केवली भगवान के ज्ञानानुसार भी अकालमृत्यु होती है अर्थात् क्षायिकज्ञानानुसार भी अकालमृत्यु होती है। और क्षायोपशमिकज्ञानानुसार भी अकालमृत्यु होती है। पूर्वभवमें पहले होनेवाला ज्ञान भी केवलज्ञानका विषय होता है और परिणामविशेषके कारण दूसरी बार होनेवाला आयुकर्मका स्थितिबंध भी केवल ज्ञानका विषय होता है। अपकर्षणका कारण जो परिणामविशेष उसको भी जानते ही हैं। पूर्वभवमें बांधे हुए द्वितीय आयुकर्मको अर्थात् उसकी स्थितिको जाननेवाले होनेसे उत्तरभवमें द्वितीय आयुस्थितिकी मर्यादाको भी जानते हैं। पूर्वभवमें पहले बांधी हुई आयुकर्मकी स्थितिकी मर्यादा को भी जानते हैं। इसीकारण उदयावलीमें नहीं आये हुए कर्मोंकी उदीरणा भी जानते हैं। क्या केवली भगवान इन बातों को नहीं जानते? यदि जानते हैं तो अकालमृत्युको जानते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते? यदि जानते नहीं ऐसा कहोगे तो उनका सर्वज्ञत्व बाधित हो जायगा। क्षायोपशमिकज्ञानवाला भी पूर्वभवमें किये गये आयुकर्मके दो बंध, अपकर्षण और उत्तर भवमें होनेवाली उदीरणा इनको सर्वज्ञोपज्ञ आगमके द्वारा ही जानता है। अतः लेखक महाशय का उक्त कथन सर्वथा बेबुनियाद है और लोगोंको भ्रममें डालनेवाला है। ऐसे बेसिरपैरके कथनका मूल्य शून्य है।

अब घडेके दृष्टान्तपर विचार किया जाता है। लेखक महाशय दृष्टान्तों की फॅक्टरीके मालिक हैं। यह दृष्टान्त उनको

फॅक्टरीमें तयार हुआ है। गणितज्ञने दशलिटर पानी घडेमेंसे दश घंटोमें निकल जावेगा ऐसा जो कहा और भविष्यज्ञानीने पांच घंटोंमें निकल जावेगा ऐसा जो कहा वह ठीक नहीं है क्या? भविष्यज्ञानीने जो निर्णय दिया क्या वही यथार्थ है? क्या गणितज्ञके द्वारा दिया हुआ निर्णय यथार्थ नहीं है? यदि दोनों निर्णय ठीक हैं तो इस दृष्टान्तसे क्या लाभ? ऊपर बता दिया है कि अकालमृत्यु सर्वज्ञ प्रतिपादित है और छद्मस्थ जीव आगमके अर्थात् सर्वज्ञके उपदेशसे जानकर कहते हैं। सर्वज्ञने अकालमृत्युको स्वकालमृत्यु नहीं कहा है और आगमानुयायी सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ भी उसे स्वकालमृत्यु नहीं कहते। दोनों उसे अकालमृत्यु ही कहते हैं। यदि ऐसी मृत्युको आगममें स्वकालमृत्यु कहा हो तो उस शास्त्रीय कथन को प्रमाणरूपमें क्यों नहीं पेश किया? वस्तुतः ऐसा उल्लेख है ही नहीं। उपमान और उपमेयमें जिस प्रकार साम्य होता है उसीप्रकार वर्ण्यविषय और उदाहरणीय विषय इनमें साम्य होनेपर ही उन दोनोंमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव घटित होता है, अन्यथा नहीं। अतः ऊपरका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास ही है। उसीप्रकार दृष्टान्त उभयपक्षप्रसिद्ध होना चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि लेखकमहाशयकी फॅक्टरीमें खोटा माल तैयार होता है।

अकालमृत्युका कथन सर्वज्ञके द्वारा किया गया होनेसे उसको कोई भी श्रद्धालु अप्रमाण नहीं मानते, अप्रमाण माननेवाले लेखक महाशय ही हैं।

पृ. १०० पर लिख रहे हैं कि– 'उसीप्रकार किसी जीवने आयुकर्मकी स्थिति अस्सी वर्षकी बांधी है और चालीस

वर्षकी उम्रमें उसका अपकर्षण होना है या उसे उदीरणा होकर खिर जाना है वीस वर्षकी उम्रमें उसने अवधिज्ञानीसे जिसका की भविष्य का ज्ञान दशवर्षसे अधिक नहीं है, पूछा की इसका मरण कब होगा? असने अपने अवधिज्ञानसे उसकी आयुकी स्थिति जानकर बताया कि अस्सी वर्षकी उम्रमे। पर जब केवल ज्ञानी से पूछा तो उन्होंने बताया चालीस वर्षकी उम्रमें; तो हमें दोनोंमें से कोई एक झूठा लगेगा। पर ये कथन झूठ नहीं; किंतु सापेक्ष कथन होंगे। अवधिज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञानकी अपेक्षा उसे हम अकालमृत्यु कहेंगे और केवलज्ञानकी अपेक्षा स्वकालमें ही मरण हुआ कहा जायगा। अथवा स्वास्थ्य आदि देखकर हम अपेक्षा तो यह रखते हैं कि यह आदमी अस्सी वर्ष जियेगा, पर विषादिभक्षण से जब वह चालीस वर्षके उम्रमें ही मर जाता है तो कह देते हैं–असमयमें मरण हो गया है। हमारे इस ज्ञानका क्या आधार है कि उसे चालीस वर्षसे अधिक जीना था? विना इस ज्ञानके उसे अकाल कहना कथनमात्रके अतिरिक्त और क्या हो सकता है?'

पूर्वभवमें ही अपसरण होता है। एक जीवने जिस पूर्वभवमें आयुकर्मकी अस्सी वर्षों की स्थिती बांधी हुई होती है उसी भवमें परिणामविशेषके कारण फिर चालीस वर्षों की स्थिति बांधी। यह स्थिति उसने चालिस वर्षकी उम्रमें बांधी ऐसा नहीं है। ये आयु-कर्मके स्थितिबंध अगले भवकी अपेक्षासे हैं। उसी भवकी अपेक्षासे नहीं हैं। जिस पूर्वभवमें आयुकर्मकी स्थिति बांधी जाती है उसी भवमें स्थित्यपकर्षण होता है। उत्तरभवमें उसके दोनों बंध सत्तामें होकर द्वितीयबंध का उदय होता है और विषभक्षणादिके कारण जब

उसकी मृत्यु होती है तब उदयावलीमें न आये हुए कर्मनिषेकों की उदीरणा होती है। एकही भवमें अपसरण नहीं होता। क्या अगले भवकी बांधी हुई आयुकर्मकी स्थिति जिस पूर्वभवमें बांधी जाती है उसी भवमें आयुका उदय होता है ? उदीरणा तो बंधे हुए कर्मकी स्थिति की समाप्तिके पूर्व मरण होकर जो कर्म उदय में आया हुआ नहीं होता उसकी उदीरणा उत्तर भवमें ही होती है। पूर्वभवमें जिससमय आयुका द्वितीय बंध होता है उससमय उसका मरण होता है ऐसा नहीं है। वह पूर्व आयुका पूर्णतया भोग करता है। लेखकमहाशयने वस्तुत: न अपकर्षणका स्वरूप जाना है और न उत्कर्षण का और न उदीरणाका।

यहाँ एक दृष्टान्त पेश किया है। वह निम्नप्रकार है – 'एक अवधिज्ञानी की अवधिकी मर्यादा दश वर्षकी है। एक अस्सी वर्षकी आयुवाला मनुष्य वीस वर्षकी उम्रमें 'उसे मेरी उम्र कितनी है' ऐसा जब पूछता है तब वह अवधिज्ञानी उसकी उम्र अस्सी वर्षकी बताता है। इस विषयमें प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जिसकी अवधिज्ञान की मर्यादा दसवर्षकी है वह अस्सी वर्षकी आयु किस प्रकार बता सकता है ? केवलज्ञानी को पूछने-पर उन्होंने उसकी उम्र चालीस वर्ष की बताई। लेखक महोदय की दृष्टिमें दोनों कथन ठीक है। उस मनुष्यने केवलज्ञानीको जब पूछा तब उसकी उम्र वीस वर्षकी थी और केवल ज्ञानीने उस समय उसकी आयु चालीस वर्षकी बताई। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्तिका मरण साठ वर्षकी उम्रमें होगा। इस दृष्टान्तका अभिप्राय लेखक महाशय ही जान सकते हैं। उस व्यक्तिने अपनी वर्तमान आयुके विषयमें ही प्रश्न पूछे थे।

अकालमरणके विषयमें जो अपकर्षण और उदीरणाकी बातें कही जाती हैं वे दो भवोंकी बाते हैं। अतः उक्त मनुष्यके पूछनेका मतलब क्या है ? उक्त मनुष्य का दृष्टान्त दृष्टान्त न होकर दृष्टान्ताभास है। अतः केवलज्ञानकी अपेक्षा अकालमरण स्वकाल-मरण ही है ऐसा जो लेखक महाशयने कहा है वह निर्मूल है।

आगे ' स्वास्थ्य आदि देखकर - - - क्या हो सकता है ' ऐसा जो लिखा है वह भी निर्मूल है। उस चालीस वर्षकी उम्रमें मरनेवाले की उम्र अस्सी बताई गई है उस अस्सी वर्षकी आयुस्थितिवाले मनुष्य की जो अस्सी वर्षकी आयु बतायी जा रही है उस आयु का बंध पूर्व भवमें हुआ था या जिस भवमें वह चालिस वर्षकी उम्रमें मरगया था उस भवमें हुआ था। यदि अस्सी वर्षकी स्थितिवाले आयुकर्मका बंध पूर्व भवमें हुआ था तो चालीस वर्षकी स्थितिवाला बंध उसी पूर्वभवमें हुआ था ऐसा क्यों न माना जाय ? उसी भवमें अस्सी वर्षकी आयुकी स्थितिका अपकर्षण होकर चालीस वर्षकी रह गयी। अस्सी वर्षकी आयुका अपकर्षण हो जानेसे वह उत्तर भवमें उदय को प्राप्त नहीं होता। अपकर्षणके बाद चालिस वर्षकी स्थितिवाली आयुका बंध होता है। इस उत्तर भवमें चालीस वर्षकी स्थितिवाला आयुकर्म उदयको प्राप्त होता है। चालीस वर्षोंकी मर्यादा पूर्ण हो तो ही उसका मरण होता है और उसके अनुदयप्राप्त आयुकर्मके निषेकोंकी उदीरणा होती है। यह जो चालीसवर्षकी उम्रमें उस जीवका मरण बताया है वह विषशस्त्रादिके कारण होता है; क्यों की उसकी आयुका पूर्वभवमें जो अपकर्षण होता है उसका कारण उसी भवमें उसमें होनेवाले अशुभ परिणाम होते हैं।

आगे पृष्ठ १०१ में लिखा है कि– 'उक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मरण तो जब होना था तभी हुआ है, उसमें कोई फेरफार नहीं हुआ। जो कुछ भी अन्तर आया है वह मात्र कथनमें आया है। जिन शब्दोंमें 'अ' लगाकर निषेधवाचक बनाया जाता है, उसमें 'अकाल' भी एक शब्द है, जिसका अर्थ समयसे पहले न होकर कालसे भिन्न कोई अन्य कारण होता है। क्योंकि इस प्रकरणमें 'काल' शब्दका प्रयोग एक कारणके अर्थ में हुआ है। मृत्युरूपी कार्य होनेमें अनेक कारण होते हैं। कथनमें अनेक कारण तो एकसाथ आ नहीं सकते, अत: किसी एक कारणको मुख्य करके कथन होता है। जब कालको मुख्य करके कथन होता है, तब तो कालमृत्यु कहते हैं और जब काल मुख्यकारणरूपसे दिखाई न दे और कालसे भिन्न विषभक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दे तो उसे अकालमरण कहेंगे। अकालमृत्युकी परिभाषामें कहा भी गया है कि विषभक्षणादिके द्वारा होनेवाली मृत्युको अकालमृत्यु कहते हैं।'

मरणकाल का निश्चय निश्चायकके अभावमें होता है या सद्भावमें? यदि अभावमें होता हो तो बद्धायुके क्षीण होनेपर मरण होनेकी जो बात आगममें कही हुई है वह मिथ्या बन जायगी और अपकर्षण की और उदीरणाकी बातें भी निष्फल हो जायगी। यदि निश्चायकके सद्भावमें मरणकालका निश्चय होता हो तो बद्धायुकी निश्चायकता सिद्ध हो जाती है। यह आयुकर्मकी स्थितिका बंध अपकर्षण होनेके बाद होता है। इस का खुलासा इसके पहले ही किया गया है। यहां लेखक

महाशयने अहेतुक मरणकी सिद्धिके लिए प्रयत्न कर अहेतुक नियतिवाद की सिद्धि करनेका प्रयत्न किया है। बद्धायुकी बंधी हुई स्थितिका अंतकाल निश्चित होनेसे अगले भवमें विषशस्त्रादिसे होनेवाली मृत्युका काल भी निश्चित होता है। जो अन्तर आया है वह अपकर्षणके कारण आया हुआ होनेपर भी 'जो कुछ भी अन्तर आया है वह मात्र कथनमें आया है' इस वाक्यके द्वारा लेखकमहाशयने 'अपकर्षणको उड़ाकर महान् अपराध किया है। यह उनकी कृति उनके सम्यग्दर्शन की परिचायक है—उसका परिचय देनेवाली है। उन्होंने यह भी कहा है कि अकालशब्दका अर्थ 'समयसे' पहले न होकर' 'विषशस्त्रादी अन्य कारण' ऐसा किया है। जब 'नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' इस उक्तिके अनुसार नञ्के कालके पूर्वमें 'अ' लगाकर बनाए गए अकाल शब्दके अर्थ भी छह हैं तब अकाल शब्दका उन्होंने जो अर्थ किया है उसका गमक क्या है? उसका अर्थ 'कालका अभाव' ऐसा क्यों न माना जाय? पूर्वभवमें पहले बंधे हुए आयुकी स्थितिकी समाप्तिके कालसे भिन्न काल ऐसा अर्थ करनेमें बाधक कारण कौनसा है? जब निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर है ऐसा आपके द्वारा माना जा रहा है तब 'मृत्युरूपी कार्य होनेमें अनेक कारण होते हैं' यह वाक्य अर्थशून्य बन जाता है। क्या आगमवचनोंका मनमाना अर्थ किया जा सकता है? जो आगमवचनोंका मनमाना आगमविरुद्ध अर्थ किया जाता है उसका कारण पापमय अभिप्राय है। पूर्वभवमें उत्तर भवकी जो आयु बांधी जाती है वह विना अपकर्षणके उत्तर भवमें उदयापन्न होकर क्षीण होनेपर जो मरण होता है उसे कालमृत्यु कहते हैं और पूर्वभवमें पूर्वबद्ध आयुका अपकर्षण होकर द्वितीय

आयुकर्मकी स्थितिके अनुसार उत्तरभवमें जन्म होकर आयुका स्थितिकाल समाप्त होकर जो विषशस्त्रादिसे मरण होता है वह अकालमरण कहा जाता है।

इसके बाद जो अकालमरणके स्वरूपको कतई नहीं जानते उनके अपघातमरणविषयक अभिप्रायों को दृष्टान्तरूपमें पेश करके अपना उल्लू सीधा करनेका प्रयत्न किया गया है।

पृ. १०२ में जो यह लिखा है कि ' इसप्रकार अकालमृत्यु असमयकी सूचक न होकर कालके अतिरिक्त मुख्यरूपसे अन्य–कारणसे होनेवाली मृत्युकी सूचक है ' यह भी आगमका विरोध करनेवाला है। इसप्रकार क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धि करनेके लिए आगमको ठुकरानेके लिए लेखक महाशय कटिबद्ध हो गये हैं।

उसी पृष्ठपर लिखा है कि– ' (१३) प्रश्न– यदि ऐसा माने तो क्या हानि है कि केवलीके ज्ञानानुसार सब कुछ क्रमबद्ध है और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमबद्ध, क्यों किवलीके भविष्यका ज्ञान है और हमें नहीं ? ऐसा माननेसे अनेकान्त भी सिद्ध हो जाता है। उत्तर– हमारे माननेसे वस्तुका स्वरूप दो प्रकारका थोडे ही हो जावेगा, वह तो जैसा है वैसा ही है; हममें भी तो उसे वैसा ही समझना है, जैसा कि वह है; अपनी मान्यता थोडे ही उसपर लादना है। केवली भगवान का ज्ञान पर्यायोंकी क्रमबद्धताको स्पष्ट देखता जानता है और हम उसे आगमसे, अनुमानसे, युक्तिसे जानते हैं। वे यह भी स्पष्ट जानते हैं कि किस द्रव्यकी कौनसी पर्याय कब और कौनसी विधिसे व किस निमित्तपूर्वक कैसी होगी और हम मात्र यह जानते हैं कि प्रत्येक

द्रव्यकी प्रत्येक पर्याय का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव व निमित्त सबकुछ निश्चित है, पर यह नहीं जानते कि किसका, कब, क्या, कैसे होगा। '

केवली भगवान का ज्ञान पर्यायोंकी क्रमनियमितता को जानता है, क्रमबद्धताको नहीं; क्यों कि सहकारिकारणका अभाव होनेके कारण जिनका अस्तित्व ही नहीं बन सकता उनकी क्रमबद्धता भी नहीं बन सकती। जिनका तीनों कालोंमें तुच्छाभाव होता है उनका स्वरूप केवली भगवान भी नहीं जानते। क्रमनियमितपर्यायोंकी उत्पत्ति आगम, युक्ति और प्रतीतिसे सिद्ध होती है। उनको केवली भगवान अवश्य जानते हैं, हम आगम, अनुमान और युक्तिसे जानते हैं। केवली भगवान ऐसी पर्यायोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और निमित्तोंकी जो कि निश्चित होते हैं निश्चितरूपसे जानते हैं।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि- " भविष्यकी पर्यायें भी क्रमबद्ध ही होती है-यह ज्ञान होनेपर भी यदि हमें यह ज्ञान नहीं है कि किसके बाद कौनसी पर्याय होगी -तो इससे वे अक्रमवद्ध कैसे हो जायेगी, जिनसे हम यह कह सके कि हमारे ज्ञानानुसार पर्यायें अक्रमबद्ध होती है। इससे तो हमारी अज्ञा-नता ही सिद्ध होती है, पर्यायोंकी अक्रमबद्धता नहीं। हमें अपने अज्ञानको पर्यायोंपर थोपनेका क्या अधिकार है ? "

भूत, वर्तमान और भविष्यकी पर्यायें प्रत्येकशः क्रम-नियमित होती हैं। क्रमबद्ध नहीं होती। कौनसी पर्यायके बाद कौनसी पर्याय होगी इस बातका ज्ञान न होनेपर पर्यायों

की क्रमवर्तिता का ज्ञान नहीं हो सकेगा; किंतु अनेक पर्यायोंकी अक्रमवर्तिताका ज्ञान हो सकता है ; क्यों कि अक्रमवर्तिता में क्रम की आवश्यकता नहीं होती। एक द्रव्यके अनेक गुणोंकी पर्यायें अक्रमवर्ती युगपत् होती हैं। क्या एक द्रव्यकी अनेक गुणों की पर्यायें भिन्नभिन्न कालोंमें होती है ?

पृ १०३ में लिखा है कि – ' जयपुर (खानिया) तत्व चर्चामें सम्मिलित दोनों पक्षोंके सभी दिग्गज विद्वानोंने एक मतसे यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है। इस बातका उल्लेख जयपुर (खानिया) तत्वचर्चामें इसप्रकार मिलता है। –

१ –" अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्यका स्वकालमें होना स्वीकार–

" इसका प्रारंभ करते हुए अपर पक्षने सर्वप्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें उल्लिखित जिन पांच आगम–प्रमाणोंके आधारसे यह स्वीकार कर लिया है कि ' प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है ' इसकी हमें प्रसन्नता है। हमें प्रसन्नता है कि समग्र जैन परंपरा इसमें प्रसन्नता का अनुभव करेगी क्यों कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है ' यह तथ्य ऐसी वास्तविकता है, जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्था का प्राण है। इसे अस्वीकार करनेपर न तो केवल ज्ञान की सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्थाके अनुरूप कार्य–कारण परम्परा सुघटित हो सकती है।"

केवली भगवान सर्वज्ञ होनेसे जीवके द्वारा बंधे गये कर्मके स्थितिबंध और अनुभागबंध को अच्छी तरह जानते हैं। स्थित्यनुभागबंधके ज्ञाता होनेसे कर्मनिमित्तक जीवपरिणामरूप कार्य का

काल सुतरां स्पष्टतया जानते हैं। यही कार्य का स्वकाल है। इस प्रकार कार्यनाशके कालको भी जानते हैं। यह ही कार्यनाश का स्वकाल है। यह कार्योत्पाद का काल और कार्य विनाश का काल भी भगवान जानते हैं इसमें संदेह नहीं। कार्यके स्वकाल का नियामक कर्म होनेसे कार्य क्रमनियमित होता है, क्रमबद्ध नहीं। वस्तुतः जीवपरिणामभूतकार्य के काल का नियामक कर्म होता है—निमित्त होता है। उसीप्रकार देश और प्रकार का नियामक भी निमित्त ही होता है। कार्यकालका नियमन निमित्त करता है और निमित्तनियमित काल को निश्चितरूपसे भगवान केवली जानते हैं। निमित्तनियमितकाल ही पर्यायोत्पत्तिका स्वकाल होता है। प्रायोगिक और वैस्रसिक भेदसे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं। पुरुषप्रयत्ननिमित्तक कार्य-पर्यायें प्रायोगिक कही जाती हैं और जो पुरुषप्रयत्ननिमित्तक नहीं होती हैं वैस्रसिक कही जाती हैं। जीव और पुद्‌लकी पर्यायें दोनों प्रकार की होती हैं। अर्थपर्यायें सिर्फ वैस्रसिक होती हैं और व्यंजन-पर्यायें दोनों प्रकारकी होती हैं। दोनों प्रकार की पर्यायें नैमित्तिकभावरूप होती हैं। कर्म-धर्म-अधर्मनिमित्तक और कालनिमित्तक पर्यायें वैस्रसिक होती हैं। पुरुषप्रयत्ननिमित्तक पुद्‌गलपर्यायें प्रायोगिक होती हैं और जो उसप्रकार की नहीं होती वे वैस्रसिक होती हैं। सभी पर्यायें नैमित्तिकभावरूप होती हैं। अतः उनका स्वकाल निमित्तनियमित होता है। नियामकके अभावमें कार्यकाल नियमित नहीं होता। भगवान केवली कार्य-कालोंका नियमन नहीं करते हैं और न वह स्वयं नियत होता है। कार्यकाल या कार्यका स्वकाल केवली भगवानके ज्ञानमें प्रतिभासित होता है इतना ही।

पृ. १०५ में लिखा है कि – 'पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अक्रम नहीं; और गुण अक्रम ही होते हैं क्रमसे नहीं। यह विधि निषधपरक सम्यक् अनेकान्त है। इसे ही और अधिक स्पष्ट करे तो गुणों की अपेक्षा द्रव्र अक्रम (युगपद्) है और पर्यायों की अपेक्षा क्रमबद्ध।'

एक गुण की पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं, अक्रम कदापि नहीं होती। एक द्रव्यके अनेक गुण होते हैं। क्या ये गुण अपनी पर्यायोंके रूपसे एकसाथ परिणत होते हैं या क्रमसे अर्थात् एकके बाद एक गुण परिणत होता है ? यदि एक साथ परिणत होते हो तो उनको अक्रमभावी अर्थात् युगपद्भावी मानना होगा। यदि एकके बाद एक परिणत होता हो तो जिससमय एकका परिणमन होता हो उस समय अन्य गुणोंका परिणमन रुक जायगा। यदि अन्य सभी गुणोंका परिणमन रुक गया तो अकेले एक गुणका परिणमन रुक जायगा। आमके रसगुणका परिणमन रुक गया तो उसके स्पर्शगुणका, गन्धगुणका और वर्णगुणका भी परिणमन रुक जायगा। इन तीन गुणोंका परिणमन रुक जानेसे रसगुणका भी परिणमन रुक जायगा। इसप्रकार आमके गुणोंका परिणमन रुक जानेसे आमका भी परिणमन रुक जायगा। अतः एक गुणका परिणमन होते समय अन्यगुणोंका भी परिणमन होना अनिवार्य है; क्यों कि वस्तुके सभी गुणोंका एकसाथ परिणमन होना वस्तुस्वभाव है। दूसरी बात यह है कि द्रव्याश्रित सभी गुणोंमें अविनाभाव और कथंचित् अभेद होता है। अतः एक गुणके परिणमन क्रमभावी भी होते हैं और उसके सहभावी और अविनाभावी गुणोंके परिणमनोंकी अपेक्षा अक्रम–

भावी भी होते हैं। इसी परिच्छेदमें लेखक महाशयने कहा है कि– 'गुणोंकी अपेक्षा द्रव्य अक्रम (युगपत्) है और पर्यायोंकी अपेक्षा अक्रमबद्ध।' आचार्य अकलंकदेवने सप्तभंगीका लक्षण 'एकस्मिन्वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनं सप्तभङ्गी' इसप्रकार किया है। एक ही वस्तुके विषयमें विना विरोधके विधि और प्रतिषेध घटित करना सप्तभंगी है। 'जीव कथंचित् पर्याप्त है और कथंचित् पर्याप्त नहीं है' इसप्रकार दो भंग होते है। छह पर्याप्तियों की अपेक्षा जीव कथंचित् पर्याप्त है और छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताकी अपेक्षा वह कथंचित् पर्याप्त नहीं है। इससे शरीरपर्याप्तिकी अपेक्षा जीव पर्याप्त ही कहा जाता है। जिसप्रकार इस विधिप्रतिषेधके द्वारा जीवकी पर्याप्तताका निर्णय किया जाता है उसप्रकार पर्यायोंकी उर्ध्वपरंपराका क्रमबद्धत्व जब सिद्ध किया जायगा तब ही उसकी क्रमबद्धता का निर्णय हो जायगा, अन्यथा नहीं। पर्यायकी क्रमबद्धता का प्रतिषेध्य पर्यायकी अक्रमबद्धता है या गुणों की अक्रबद्धता है ? दूसरा प्रश्न यह है कि पर्याय और गुण एकवस्तुरूप है क्या ? सप्तभंगीके लक्षणमें एकवस्तुके विषयमें ही विधिप्रतिषेध करके विधिकी सिद्धि की जाती है। गुणोंकी सहभाविता–अक्रमभाविता पर्यायकी क्रमबद्धताकी प्रतिषेध्य नहीं है। प्रकृत प्रकरणमें पर्यायकी क्रमबद्धता की सिद्धि करना चाहते हुए लेखक महाशय द्रव्यकी क्रमबद्धताकी सिद्धि कर रहें हैं। द्रव्य ध्रुव होनेसे जब उसका उत्पाद भी नहीं होता और व्यय (विनाश) भी नहीं होता तब उसका क्रमबद्धत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। उन्होंने गुणों की सहभाविताके–अक्रमवर्तिताके द्वारा द्रव्यको अक्रम (युगपत्) बताया है यह बडे आश्चर्य की बात है ; क्योंकि दो

द्रव्योंके के बिना यौगपद्य—अक्रमवर्तित्व घटित नहीं होता। अतः 'गुणपर्यायात्मक वस्तुमें क्रम—अक्रमसंबंधी अनेकांत घटित होता है' ऐसा जो कहा है वह अनेकान्तसे घटित नहीं किया गया है। प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय और प्रत्येक गुणकी पर्याय क्रमविवर्ती होती है और द्रव्याश्रित सभी गुण सहभावी—अक्रम होते हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी क्रमभाविताकी और अक्रमभाविता की सिद्धि करनेमें लेखक महाशय सफल नहीं हुए है।

अपने मन्तव्यकी पुष्टिके लिए लेखक महाशयने समयसारकी गाथा की आत्मख्यातिका एक अंश पेश किया है। वह इसप्रकार है। देखिए—

" **क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वा-**
दुत्संगितगुणपर्यायः "

और वह समय (आत्मा और कोई भी द्रव्य) क्रमरूप (पर्याय) और अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है—ऐसा है।" यही अर्थ सोनगढ की प्रतिमें पाया जाता है। यहांपर प्रश्न खडा होता है कि—प्रकृत उद्धरणमें और उसके अनुवादमें जो 'भाव'—शब्द है उसका अर्थ 'गुण' ऐसा कहाँ मिला? भावशब्दका अर्थ द्रव्य भी है, पर्याय भी है। यदि 'भाव, शब्दका अर्थ गुण मान लिया गया तो गुणोंके कारण द्रव्यमें विविधता उत्पन्न होती है क्या? सिद्धों में अनेक या अनंत गुण होते हैं। अनंतगुणवत्ताके कारण सिद्धोंमें विचित्र भाव होते हैं क्या? ये गुणरूप भाव प्रवृत्त अर्थात् उत्पन्न होते हैं क्या? यदि उत्पन्न होते हो—प्रवृत्त होते हो तो उनका सहभावित्व अर्थात् गुणत्व नष्ट हो जायगा।

अतः प्रवृत्त, विचित्र और भाव इन तीन शब्दोंके कारण प्रकृत उद्धरणमें पर्यायके समान गुणकी प्रधानता नहीं बन सकती। अतः उक्त उद्धरणका अर्थ ' क्रमसे और अक्रमसे–युगपत् उत्पन्न हुई नानाविध पर्यायें स्वभावरूप होनेके कारण जिसने गुणपर्यायों की–गुणोंकी पर्यायों को स्वीकार किया है ' ऐसा होता है। अतः ' यहाँ पर वस्तुको गुणपर्यायात्मक कहा है तथा गुणोंका स्वभाव अक्रम और पर्यायों का स्वभाव क्रमवर्ती कहा है ' ऐसा जो कहा है वह उनकी मनोनीत कल्पना है।

आगे कहा है कि– ' **प्रत्येक द्रव्यमें अनंत गुण हैं और प्रत्येक गुणकी प्रतिसमय एक पर्याय होती है; इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात एकसाथ अनंत पर्यायें हो जाती हैं।** तथा एक गुणकी अनन्त समयोंमें अनन्त पर्यायें होती हैं। तथा एक गुणकी, वे क्रमशः एक एक समयमें एक एक ही होती हैं। '

लेखकमहाशयके इस कथनके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ' एक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात् एकसाथ अनंत पर्यायें हो जाती हैं ' इस वाक्यके द्वारा ' एक द्रव्यमें एक समयमें ही अक्रम अर्थात् एकसाथ अनंत पर्यायें हो जाती हैं ' इस बातको स्वीकार किया है यह बडी खुशीकी बात है। इसके आगे लेखक महाशयने लिखा है कि– ' इसप्रकार पर्यायों को भी क्रम–अक्रम कहा जा सकता है। पर ध्यान रहे इस अपेक्षा क्रम अक्रम मान लेनेपर भी ' क्रमबद्धपर्यायमें ' चर्चित पर्यायोंकी क्रमनियमितता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। '

पर्यायोंकी क्रमाक्रमविवर्तिता के कारण पर्यायोंकी क्रम-नियमिततापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता यह कथन यथार्थ है इसमें सन्देह नहीं। क्रमबद्धतापर प्रभाव पड़ने न पड़ने की बात ही नहीं रहती; क्यों कि क्रमबद्धपर्याय-अनुत्पन्न ही होती है।

पृ. १०६ पर लिखा है कि- "इसप्रकारका कथन तत्त्वार्थराजवार्तिकमें आता है, जो कि इसप्रकार है-

'स च पर्यायो युगपद्वृत्तःक्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तः गतीन्द्रियकाययोगवेद-कषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादि-देवादि-बाल्याद्यव-स्थालक्षणः॥"

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोधसे एकसाथ होनेवाली जीवकी पर्याय एकसाथ होनेक कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि और बाल्यादि अवस्थालक्षण क्रमवर्ती पर्याय हैं।

'क्रम' और 'अक्रम' शब्दोंके अर्थ दो प्रकारसे किये जाते हैं। प्रथम तो यह कि क्रम माने क्रमशः अर्थात् एकके बाद एक, और अक्रम माने युगपद् अर्थात् एकसाथ। दूसरा यह-क्रम माने एकके बाद एक और वह भी निश्चित एकदम व्यव-स्थित तथा इस रूपमें 'इस के बाद यही, अन्य नहीं।' अक्रम माने अव्यवस्थित, कुछ भी निश्चित नहीं, चाहे जिसके बाद चाहे जो हो।

उक्त दोनों अर्थोंमें प्रथम अर्थके अनुसार ही पर्यायोंमें क्रम-अक्रम दोनों अपेक्षाएं घटित होती हैं, जब कि प्रस्तुत अनु-

शीलनमें द्वितीय अर्थकी अपेक्षा क्रमबद्धपर्यायका अनुशीलन किया गया है, तदनुसार पर्यायें एक निश्चित क्रमानुसार ही होती हैं, अक्रमसे नहीं–ऐसा सम्यगेकान्त फलित होता है, जो स्याद्वादी जैनदर्शनको अभीष्ट ही है।"

लेखकमहाशयके इस कथनसे 'पर्यायें कथंचित् क्रमवर्ती होती हैं और कथंचित् क्रमवर्ती नहीं होती' यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस अभिप्रायको दृष्टिके सामने रखकर नीचेके कलशका अर्थ किया जाना चाहिये।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥

प्रथम खण्डमें इस कलशका अर्थ करते हुए बता दिया गया है कि 'विवर्तमान पर्यायें क्रमसे भी उत्पन्न होती हैं और युगपत् भी उत्पन्न होती हैं।' उस समय यह भी बताया गया है कि विवर्त शब्द पर्यायवाचक है और 'विवर्ति' शब्द 'परिणत होनेवाला' इस अर्थका वाचक है। कोई कोई विद्वान विवर्त–शब्दका अर्थ 'गुण' मान रहे हैं। कदाग्रहवश उस स्वमान्य अर्थको छोडनेके लिए तैयार नहीं है।

इस अर्थके अनुसार 'क्रमवर्तिताकी सिद्धिके लिए प्रथम दो भंग बताए जा सकते हैं और प्रत्येक पर्यायकी क्रमवर्तिता की सिद्धि की जा सकती है। वस्तुतः एक द्रव्यकी और एकगुणकी पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और द्रव्यगत अनेकगुणोंके साथ परिणत

होनेवाली और गति, इंद्रिय, काय आदिके रूपसे होनेवाली पर्यायोंका यौगपद्य होता है।

पृ. १०७ में लिखा है कि– 'यहाँ चूंकी पर्यायकी चर्चा है, अतः उसपर सम्यक् एकान्त ही घटित होता है। पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, यह सम्यक् एकान्त है और गुण अक्रमबद्ध (युगपद्) ही होते हैं–यह भी सम्यक् एकान्त है। 'पर्यायें क्रम-बद्ध ही होती हैं' यह एकान्त पर्यायोंको अक्रमवर्ती भी माने विना सम्यगेकान्त नहीं हो सकता। गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि पर्यायें युगपत् ही होती हैं। इनमेंसे एक भी पर्याय क्रमवर्ती नहीं होती। चौदह मार्गणाओंमेंसे एक भी मार्गणा अन्य मार्गणाओंको छोडकर नहीं होती। अतः चौदह मार्गणाएं अक्रमवर्ती पर्यायरूप ही हैं। वे क्रमवर्ती पर्यायरूप कदापि नहीं हो सकती। क्रोधादि, देवादि, बाल्यादि अवस्थारूप पर्यायें क्रमवर्ती ही होती हैं, अक्रम पर्यायरूप कदापि नहीं हो सकती। अतः पर्यायोंकी ऐकान्तिक क्रमवर्तिता सम्यगेकान्तरूप नहीं हो सकती; क्यों कि वह अक्रमपर्यायनिरपेक्ष होती है। सहभावी गुण क्रमभावी पर्यायके प्रतिषेध्य या प्रतिपक्षी नहीं है। अत. उनकी अपेक्षा व्यर्थ है। दूसरी बात यह कि है 'पर्याय क्रमबद्ध ही होती है यह कथन अव्याप्तिदोषदूषित है; क्यों कि उससे चौदह मार्गणाओंका संग्रह नहीं होता। अतः 'पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं' यह मिथ्या एकान्त है।

आगे इसी पृष्ठमें लिखा है कि– 'यदि आप · · · अकेली पर्यायमें क्रमाक्रम घटानेका हठ करेंगे तो फिर हम आपसे यह

भी कह सकते हैं कि अकेली पर्यायमें आप नित्यानित्यात्मक अनेकान्त भी घटाइयें अथवा अकेले पर्यायरहित द्रव्यमें ही नित्यानित्यात्मक अनेकान्त घटाकर बता दीजिए।'

अकेली पर्यायमें क्रमाक्रम अवश्य घटित होता है। एक गुणकी पर्यायें स्वरूपकी अपेक्षासे क्रमवर्ती हैं होती हैं और स्वाश्रयभूत द्रव्यके अनेक गुणोंके साथ एक गुण अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होनेसे वह एक पर्याय सहप्रवृत्त-अक्रम भी होती है। पर्याय मनुष्यादिकी अपेक्षासे अनित्य है और सिद्धोंकी अपेक्षासे नित्य है। यह कथन स्थूल पर्याय की अपेक्षासे किया गया है। पर्यायरहित द्रव्य सद्रूप नहीं होता। सत् यह द्रव्यका लक्षण है और सत् उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त होता है। जो पर्यायरहित अर्थात् उत्पादव्ययरहित होता है उसका अस्तित्व ही बनता नहीं। जिसका अस्तित्व ही नहीं होता उसमें नित्यानित्यात्मक अनेकान्त घटित नहीं हो सकता। वन्ध्यापुत्रमें नित्यानित्यात्मक अनेकान्तको घटित कराना चाहनेवालेकी बुद्धिपर तरस आ जाता है।

पृ. १०८ में लिखा है कि– " '(१४) प्रश्न– अकाल-मृत्युके संदर्भमें आपने ही तो घड़े के पानी और अपराधीके जेलसे छूटने आदिका उदाहरण देकर यह बताया था कि केवली के ज्ञानके अनुसार तो मरणादि कार्य स्वकालमें ही होते हैं किन्तु ज्योतिष आदि क्षयोपशमज्ञानके अनुसार जो भी मरणसंबंधी भविष्य बताया जाता है उसमें आयुके अपकर्षण आदिके द्वारा फेरफार भी हो जाता है। इससे तो यह प्रतीत

होता है कि केवलीके ज्ञानानुसार पर्यायें क्रमबद्ध और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमसद्ध होती हैं ?

उत्तर– उक्त उदाहरणोंसे तो यह सिद्ध किया गया था कि मरणादि प्रत्येक कार्य (पर्याय) होता तो स्वकालमें ही है, पर उसका कथन दो प्रकारसे होता है; यह नहीं बताया था कि कुछ पर्यायें स्वकाल में होती हैं और कुछ अकालमें भी हो जाती है। आयुकर्मकी स्थिति के अपकर्षणादिके विना आयुकर्मकी स्थिति पूर्ण होनेके उपरान्त होनेवाले मरण को कालमरण और आयुकर्मकी स्थितिका अपकर्षणादिसे होनेवाले मरणको अकाल-मरण कहा जाना है। अकालमरण का आशय स्वकालके विना होनेवाले मरणसे नहीं है, अपि तु आयुकर्मके अपकर्षणादिसे है। आयुके अपकर्षणादिके कारण अकालमरण उसकी संज्ञामात्र है। वास्तवमें तो प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है।"

लौकिक व्यवहारमें स्वकाल और अकाल का व्यवहार पाया जाता है। एक मित्रने अपने मित्रको विशिष्ट दिनांक के दिन आनेके लिये आमंत्रित किया और जिसको आमंत्रित किया गया उसने भी उस दिनांक को आना स्वीकार कर लिया। इसप्रकार दोनों मित्रोंने एक विशिष्ट दिनांक निश्चित कर लिया। यह निश्चित दिनांक दोनोंके मिलनेका निश्चित काल या लेखकमहाशयकी दृष्टिसे स्वकाल है। बादमें आमंत्रक मित्रने आमंत्रित मित्रको चिठ्ठी लिखकर निश्चित दिन के पहले आठ दिन आनेके लिए सूचित किया। आमंत्रित मित्र ने पत्रोत्तर के द्वारा इसपर अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए लिखा

कि पत्र के द्वारा सूचित किया हुआ समय मेरे अनुकूल नहीं है। दोनों मित्रोंके द्वारा पहले निश्चित किया हुआ काल स्वकाल है और सूचित किया गया दूसरा काल आमंत्रित मित्रकी दृष्टिसे और अन्य लोगोंकी दृष्टिसे स्वकाल न होकर अकाल ही है। इसीप्रकार प्रथम आयुकर्मके स्थितिबंधके अनुसार आयुकर्मका क्षय होनेका काल ही मरणकाल है अर्थात् मरणका स्वकाल है। परिणामविशेषके कारण पूर्वबद्ध आयुकी स्थितिका अपकर्षण होकर पहले आयुके स्थिति और अनुभाग से न्यून स्थिति-अनुभागवाला आयुका बंध दूसरे बार हुआ। इस द्वितीय बधके अनुसार जीवका जो मरण होता है वह अकालमरण है और पूर्वबंधके अनुसार होनेवाला, किन्तु न हुआ, मरण स्वकालमरण है। द्वितीय बंधके अनुसार होनेवाला मरण अकालमरण होनेपर भी उसको स्वकालमरण कहनेकी लेखकमहाशयने जिद्द पकड़ रखी है। पर्यायें तो स्वकालमें ही होती हैं; अकालमें नहीं; किन्तु उत्पत्ति का काल निमित्ताधीन होता है। आयुकर्मकी स्थितिके अपकर्षणके विना जो मरण होता है वह कालमरण है और अपकर्षण होकर होनेवाला मरण अकालमरण है। इस मरणके होनेपर जो कर्मस्कन्ध उदयावलीमें न आनेके कारण अनुपभुक्त होते हैं उनकी उदीरणा होती है। जिस मरणमें अपकर्षण और उदीरणा होते हैं वह मरण अकालमरण है और जिस-मरणमें ये दोनों नहीं होते वह कालमरण है। लेखकमहाशय अकालमरणको ही स्वकालमरण कह रहे हैं। इस अकालमरणसे पर्यायके परिवर्तन की सिद्धि होनेका भय उनकी छातीपर सवार हुआ है। वस्तुतः स्वकालमरण और अकालमरण परस्पर भिन्न हैं।

अकालमरण का आशय स्वकालमरण के विना होनेवाले मरण से ही है। आयुकर्मका अपकर्षण तो अकालमरण का कारण है और उदीरणा उसका अंग है। ' कारणभेदात् कार्यभेद ' इस उक्तिके अनुसार कालमरण और अकालमरण इनके कारणों में भेद होनेसे कालमरण और अकालमरण इनमें भेद है। इन दोनों मरणोंमें भेद होनेपर भी लेखकमहाशय कालमरण और अकालमरण इनको अभिन्न एक समझकर अकालमरणको ही स्वकालमरण कह रहे है।

इसी पृष्ठमें लेखकमहाशयने आगे कहा है कि – " मोक्ष एवं सम्यक्त्वरूपी कार्य के संबंधमें कलश टीकाकार पाण्डे राज–मल जी लिखते हैं :–

' यह जीव इतना काल बीतनेपर मोक्ष जायेगा– ऐसी नोंध केवलज्ञानमें है। · · · यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परि–णमता है तथापि काललब्धिके विना करोड उपाय किये जाय तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमनयोग्य नहीं। '

कोई भी घटना नवीन घटित नहीं होती, अपितु वह पहले से ही स्थित है, निश्चित है; वह तो मात्र स्वकालमें प्रगट होती है। इसप्रकार का भाव सापेक्षवादके प्रबल प्रचारक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन (Einstein) ने व्यक्त किया है। जो कि इसप्रकार है :– " Events do not happen, they already exist and are seen on the timemachine" घटनाएं घटती नहीं हैं; वे पहलेसे ही विद्यमान हैं, तथा काल–चक्रपर देखी जाती है। "

यहां प्रश्न खडा होता है कि- काललब्धिकी प्राप्ति हो जानेपर रत्नत्रय धारण करने की योग्यता व्यक्त होती है या रत्नत्रय ही व्यक्त होता है ? योग्यता व्यक्त होती हो तो सम्य-क्त्वका प्रादुर्भाव होता ही है ऐसा नहीं है। अतः काललब्धि यह सम्यक्त्वोत्पत्तिका स्वकाल नहीं है। काललब्धि प्राप्त होनेके बाद दीर्घकाल बीत जानेपर मुक्तिकाल अत्यंत समीप आनेपर भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। घटोत्पत्तिकी घटना यदि नवीन घटित नहीं होती, अपि तु वह पहलेसे विद्यमान है तो घटका प्रागभाव सिद्ध नहीं होगा उसका सर्वदा सद्भाव सिद्ध होगा। घटका अस्तित्व सार्वकालिक सिद्ध हो जानेसे उसकी जलधारणा-दिरूप अर्थक्रिया भी सिद्ध हो जायगी। इसप्रकार घटका अस्तित्व अनादि सिद्ध हो जायगा और उसका पर्यायत्व बाधित हो जायगा। पर्यायत्व बाधित हो जानेपर उसका द्रव्यत्व सिद्ध हो जायगा और द्रव्यत्व सिद्ध हो जानेसे उसका अनंतत्व सिद्ध हो जायगा। उसका अनाद्यनन्तत्व सिद्ध होनेसे 'प्रत्येक पर्यायकी उत्पत्ति स्वकालमें ही होती है' इस अपने सिद्धान्त की हानि हो जायगी। इस मन्तव्यके अनुसार प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव इनका अभाव हो जायगा और संपूर्ण जगत् कूटस्थ बन जायगा। जन्म-मरणका अभाव हो जायगा और संसारी जीव कूटस्थ-अविनश्वर बन जावेंगे; क्यों कि प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाली अर्थपर्याय नष्ट हो जायगी। जिनागम सर्वज्ञभाषित है। आइन्स्टीन विशेषज्ञ थे, सर्वज्ञ नहीं थे। लेखक महाशयकी जिनेंद्रवचनपर अर्थात् सर्वज्ञवचनपर श्रद्धा नहीं है, आइन्स्टीनके वचनपर श्रद्धा है। इनकी दृष्टीमें यही सम्यक्त्व है। आगमवचनों को ठुकराना उनका ध्येय बना हुआ है। और एक प्रश्न खड़ा होता है कि

घटित होनेके पूर्व या स्वकालमे प्रकट होनेके पूर्व सदा विद्यमान होनेवाले घटादिका अस्तित्व कहाँ होता है ? घटनाओं का स्वकालमें प्रकट होना Happening नहीं है क्या ?

पृ. १०९ में लिखा है कि– "(१५) प्रश्न:– शास्त्रोंमें एक अकालनय भी तो आता है ? कालनयसे कार्य स्वकालमें होता है और अकालनयसे अकालमें भी हो जाता है ऐसा माना तो क्या आपत्ति है ? उत्तर– अकालनयका अर्थ यह नहीं कि कार्य स्वसमयमें न होकर असमयमें हो जाता है। कार्य तो पांचों समवायोंके मिलनेपर ही होता है, पर जब एक कारण को मुख्य करके कथन होता है तब अन्य कारण गौण रहते हैं; उनका अभाव नहीं होता। जैसे–निसर्गज सम्यग्दर्शन भी देशनालब्धि विना नहीं होता और अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभावके आश्रयसे ही होता है, फिर भी जिसमें उपदेशकी मुख्यता होती है उसे अधिगमज और जिसमें उपदेशका प्रसंग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उसीप्रकार जिस कार्यकी उत्पत्तिमें काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं उसे अकालनयका विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है उसे कालनयका विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनयसे स्वकालमें कार्य होता है और अकालनयसे अकालमें। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कार्य समयके पहले हो गया।"

यहाँपर पहले कालनयके और अकालनयके स्वरूपोंपर विचार किया जाना आवश्यक है। (१) कालनयका स्वरूप

'कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान सहकारफलवत् समयायत्तसिद्धिः।' अर्थ – 'गर्मीके दिनोंका अनुसरण करनेवाले-पकनेवाले आम्रफलके समान जिसकी सिद्धि कालनयसे समयके अधीन होती है।' जो आम डालपर पकता है वह गर्मीके दिनोंका अनुसरण करता है और पकता है। उसका पकना गरमीके दिनोंके अधीन होता है। अतः वह निदाघसमयायत्तपाक है। डालपर पकनेवाला आम गर्मीके दिनोंके कारण अपने आप पकता है। उसको पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। उसीप्रकार आत्माकी सिद्धि कालनयसे समयके–कालके अधीन होती है। (२) अकालनयका स्वरूप– 'अकालनये कृत्रिमोष्म–पाच्यमानसहकारफलवत् समयानायत्तसिद्धिः।' अर्थः– कृत्रिम गर्मीसे पकाये जानेवाले आम्रफलके समान अकालनयसे जिसकी सिद्धि समयानायत्त होती है।' जो आम पालमें पकाया जाता है वह घासकी कृत्रिम गर्मीसे पकाया जाता है। उसका पकना घासकी कृत्रिम गर्मीके अधीन होता है, ग्रीष्मकालकी गर्मीके अधीन यहीं है। इसप्रकार कृत्रिम गरमीसे जो आम पकता है उसको पुरुषप्रयत्नकी आवशकता है।

लेखकमहाशयने 'अकालनयका अर्थ यह नहीं कि कार्य स्वसमयमें न होकर असमयमें हो जाता है' ऐसा जो लिखा है वह समयानायत्तसिद्धिके लक्षणके विरुद्ध है। उस लक्षणमें जो दृष्टान्त दिया है उसके द्वारा समयानायत्तसिद्धिका स्वरूप सिद्ध किया गया है। घासकी कृत्रिम उष्णतासे पकाया जानेवाला आम असमयमें पकता है। यदि उसका पकना समयानुसारी होता तो समयानायत्तसिद्धि का स्पष्टीकरण करनेके लिये दृष्टान्त–

रूपसे कदापि पेश नहीं किया जाता। अत: अकालनयसे कार्यका असमयमें हो जाना सिद्ध हो जाता है। सकामनिर्जराका स्वरूप इसप्रकार विचारणीय है। 'कार्य तो पांचों समवायोंके मिलनेपर ही होता है' यह कथन भी युक्त्यागमविरुद्ध है। दिगंबर जैन न्यायशास्त्रके अनुसार दैव और पुरुषार्थ इनसे ही कार्य की सिद्धि होती है। कार्योत्पत्तिके लिए पांच समवायोंकी (?) आवश्यकता नहीं है। पाचो समवायोंके विषयमें पहले खण्डमें विचार किया गया है।

लेखक महाशयने आगे जो 'कार्यकी उत्पत्तिमें काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं उसे अकालनयका विषय कहते हैं तथा जिसमें कालकी प्रमुखता दिखाई देती है उसे कालनयका विषय कहा जाता है' ऐसा कहा है वह कथन मनमाना है। अकाल का अर्थ उन्होंने 'कालभिन्न कालसदृश' ऐसा किया है। उन्होंने कालका और अकालका जो अर्थ किया है वह आचार्य अमृतचंद्रसूरीने अकालनयका और कालनयका जो स्पष्टीकरण किया है उससे मेल नहीं खाता। आचार्यश्रीने अकालनयका जो स्पष्टीकरण करनेके लिए पर्युदासका (तद्भिन्न तत्सदृश) अवलंबन नहीं लिया है। उन्होंने उसका अर्थ ठीक समयसे भिन्न समय ऐसा किया है। इस विचारसे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक महाशयने अपने मन्तव्यकी सिद्धि करनेके लिए आगमवचनोंका विरोध किया है—आगमवचनोंको ठुकराया है। मैं उनसे चुनौति देता हूं की हिम्मत हो तो इन आचार्य-वचनोंका वे युक्तिपूर्ण खंडन करें।

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– (१६) "प्रश्न– प्रवचनसारमें जहाँ कालनय और अकालनयका कथन है, वहाँ तो उदाहरण देकर साफ साफ लिखा है–

'कालनयसे आत्मद्रव्यकी सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आमकी भाँति और अकालनयसे आत्मद्रव्यकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती है, कृत्रिम गर्मीसे पकाये गए आमकी भाँति।' उत्तर– लिखा तो साफसाफ ही है, पर उसका अर्थ क्या है? यह भी विचार किया या नहीं? कृत्रिम गर्मीसे पकाया गया आम समयसे पहले पक गया–यह बात कहांसे आई? क्या तुम्हें यह पता था कि वह कब पकनेवाला था? हो सकता है कि उसके पकनेका काल वही हो जब की वह पका है; और उसके पकनेका निमित्त भी कृत्रिम गर्मी ही हो। इसकी जानकारी विना कि उसे कब और कैसे पकना है; आप कैसे कह सकते हैं कि वह समयके पूर्व पक गया है? प्रत्येक कार्यका होनेका काल ही नहीं, निमित्तादि सभी समवाय निश्चित हैं और सबके मिलनेपर ही कार्य होता है। तथा जब कार्य होनेवाला होता है तब वे सभी कारण (समवाय) मिलते ही मिलते हैं। ऐसा नहीं होता कि कभी कोई मिले और कभी कोई। सभीके एकसाथ मिलनेके कारण ही समवाय कहा जाता है।

डालपर लगे आमके पकनेमें कृत्रिम गर्मी आदि देनेका पुरुषका प्रयत्नादि नहीं दिखाई दिया, अतः यद्यपि उसे काल नयको मुख्य करके काललब्धि आनेपर स्वयं पका कहा गया;

तथापि उसमें ऋतुकृत गर्मीका निमित्त भी था ही। पालमें पकाये गये आममें कृत्रिम गर्मी दिये जानेरूप पुरुषका प्रयत्न देखा गया। अतः कालको गौण कर अन्य समवाय जैसे पुरुषका प्रयत्नरूप पुरुषार्थ, कृत्रिम गर्मीका निमित्त आदि एकाधिक समवायकी मुख्यतासे उसे अकालनय की अपेक्षा अकाल अर्थात् कालसे भिन्न अन्य कारणोंसे पका कहा गया।"

आमके कृत्रिम गर्मीसे पकाये जानेके समयके ज्ञानके विना पेडसे आम उतारे नहीं जाते और कृत्रिम गर्मीसे पकाये नहीं जाते। आम कृत्रिम उष्णतासे पकाये जाते हैं यह बात लोक-प्रसिद्ध है। जब आम कृत्रिम उपायोंसे पकानेके लिए पेडसे उतारे जाते हैं तब उनका कृत्रिम उष्णताके अभावमें गर्मीके दिनोंकी उष्णतासे पकनेका काल दूर होता है यह भी जाना जाता है अर्थात् जिस समय पेडसे उतारे जाते हैं वह समय निसर्गतः पकनेका नहीं होता है यह भी जाना जाता है। इस ज्ञानके कारण ही कृत्रिम उपायों से पकाये जाते हैं। कृत्रिम उष्णतासे जिस समय वे पकाये जाते हैं वह उनके निसर्गतः पकाने का वास्तविक काल नहीं है इस बातको सामान्य किसान भी जानता है। इसको जाननेके लिये बृहस्पतिकी या सर्वज्ञकी आवश्यकता नहीं होती। जब जीव की मुक्तिका काल बिलकुल समीप आ जाता है और जब अधिक कर्मो की सत्ता होती है तब कृत्रिम उपायों से कर्मोका नाश करके मुक्तिकी प्राप्ति कर ली जाती है। इसप्रकार प्राप्त कर ली जानेवाली सिद्धिको समयानायत्त-सिद्धि कहते हैं। काललब्धि की प्राप्ति हो जानेपर जीव अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक संसारी बना रहता है।

काललब्धि की प्राप्ति होनेपर तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षकी प्राप्ति कर ली जा सकती है। इसीका नाम समयानायत्तसिद्धि है। लेखक महाशय समयानायत्तसिद्धि को समयायत्तसिद्धिका रूप देना चाहते हैं।

जो पेडसे आम उतारते हैं वे फलोंके पकनेका काल अच्छीतरहसे जानते हैं। यदि आमके पकनेके कालको न जान-कर फलोंको उतार दिया तो फल बिगड़ जायंगे। विद्वद्धुरंधर लेखकमहाशयने जो ' हो सकता है कि उसके पकनेका काल वही हो जब की वह पका है; और उसके पकनेका निमित्त भी कृत्रिम गर्मी ही हो ' ऐसा जो कहा है वह अहेतुक नियतिवाद का समर्थक ही है। आमफलों का पेडपर ही पकनेका जो काल होता है उस कालसे पूर्व पालमें पकायें जानेवाले आम पकते हैं इसकारण कृत्रिम उष्णतासे पकाये जानेवाले फलोंका पकना समयानायत्त है।

इन महाशयका उक्त कथन प्रतीतिका अतिलंघन करने-वाला है। उनका ऊपरका कथन आचार्य अमृतचंद्रके अभिप्रायके विरुद्ध है। जो आगमका विरोध करनेसे डरते हैं उन्हें ये महाशय गुलाम वृत्तिवाले कहते हैं।

इसी पूर्वोपात्त उद्धरणमें उन्होंने लिखा है कि ' प्रत्येक कार्य को होनेका काल ही नहीं, निमित्तादि सभी समवाय निश्चित हैं और सबके मिलनेपर ही कार्य होता है। ' लेखक-महाशयने पांच समवायोंमें निमित्त यह छठा समवाय मिला दिया है। काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुष ये पांच

(समवाय) निमित्त ही हैं। इनमें निमित्त का परिगणन नहीं है। यह लेखकमहाशयके मस्तिष्क की उपज है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिका काल निश्चित है, किंतु उसकी निश्चिति निमित्ताधीन है। कालादि पांच समवायोंका कार्यकारणत्व सिद्ध होनेपर ही वे निश्चित हो सकते हैं। दिगंबर जैन न्यायशास्त्रमें कार्योत्पत्तिमें उक्त पांचोंका कारणत्व नहीं बताया है। दैव और पुरुषार्थ से ही कार्यकी उत्पत्ति होती है इस बातकी सिद्धि दिगंबरन्यायशास्त्रोंमें की है। इन पांच समवायोंपर प्रथम खंडमें सविस्तर विचार किया गया है। उपादानभूत द्रव्यमें उपादेयके रूपसे परिणत होनेकी योग्यता होनेपर भी निमित्तके अभावमें वह परिणत नहीं हो सकता। पुद्गल का स्कंधरूपसे जब परिणत होनेका समय आता है तब पांच समवाय कारण किस प्रकार होते हैं ? स्कन्धरूप कार्य की सिद्धिमें दैव और पुरुषार्थका कौनसा कार्य है ? नियति का भी कौनसा कार्य है ? क्या त्र्यणुकादि कार्य की उत्पत्तिमें सभी कारण (समवाय) मिलते हैं ? वस्तुतः इसप्रकार के कार्य की उत्पत्तिमें सिर्फ काल ही कारण होता है। अतः पांच समवायों का कार्योत्पत्तिकालमें मिल जाना कोरी कल्पना है। आत्मपरिणाम की उत्पत्तिके विषयमें इनका मिलना किसीप्रकार भी नहीं हो सकता है।

डालपर पकनेवाले आमको पकनेके लिए यद्यपि कृत्रिम उष्णता नहीं दी जाती तो भी ऋतुकृत गर्मीकी आवश्यकता होती ही है। यह ऋतुकृत गर्मी आमके पकनेमें सहकारिकारण होती है। आमकी पक्व होनेकी क्रियामें पांच समवाय कारण नहीं होते। आमका पक्व होनारूप परिणामकी-कार्यकी उत्पत्ति ग्रीष्मर्तुकृत

गर्मीरूप निमित्तके–सहकारिकारणके अभावमें नहीं हो सकती इस बातको लेखकमहाशयको स्वीकार करना पड़ा है। पकनेकी क्रिया आममें ही होती है अर्थात् आम ही पक्वरूपसे परिणत होता है, ग्रीष्मर्तुकी उष्णता नहीं।

" पालमें पकाये गये आममें कृत्रिम गर्मी दिये जानेरूप पुरुषका प्रयत्न देखा गया अतः कालको गौण कर अन्य समवाय जैसे पुरुषका प्रयत्नरूप पुरुषार्थ, कृत्रिम गर्मीका निमित्त आदि एकाधिक समवायकी मुख्यतासे उसे अकालनयकी अपेक्षा अकाल अर्थात् कालसे भिन्न अन्य कारणोंसे पका कहा गया " ऐसा जो लेखकमहाशयने लिखा है वह चिन्त्य है। पालमें पकाये जाने-वाले आमफलोंके पकनेका मुख्य कारण कृत्रिम उष्णता है और पुरुषप्रयत्न गौण कारण है। यह कृत्रिम उष्णता ग्रीष्मर्तुकी न होनेसे वह कालनिमित्तक उष्णता नहीं है। कालनिमित्तक न होनेसे आमका पकना समयायत्त नहीं है–कालायत्त नहीं है। कालायत्त न होनेसे समयानायत्त–कालानायत्त है। इसीकारण नयके पूर्वमें अकालशब्द जोड़ दिया है। अतः अकालशब्द निश्चितकालसे भिन्न काल का वाचक है, पुरुषार्थका वाचक या सूचक नहीं है।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– " यहाँ अकालका अर्थ असमयका या समयके पूर्व नहीं है, अपि तु काललब्धिके अति-रिक्त अन्य पुरुषार्थादि समवायों का समुदाय है। कालका अर्थ भी मात्र समय नहीं है, अपि तु काललब्धि नामक एक सम-वाय है। काल को छोड़कर शेष चार समवायोंको एक नामसे कहना था तो अकालके सिवाय और क्या कहा जा सकता था ?

जैसे जीवसे भिन्न पांच द्रव्योंको अजीव कहा जाता है; उसी-प्रकार यहाँ काल (काललब्धि) से भिन्न चार समवायों को अकाल कहा गया है। अतः 'कालनयसे' का अर्थ है-काललब्धिकी अपेक्षा कथन करनेपर और 'अकालनयसे' का अर्थ है-काललब्धिको छोडकर अन्य पुरुषार्थादि समवायोंकी अपेक्षा कथन करनेपर।'"

आचार्य अमृतचंद्रसूरीको अकालशब्दका अर्थ आचार्य-परम्परासे असमय या समयपूर्व ऐसा ज्ञात था। लेखक महा-शयको यह अर्थ मंजूर नहीं है, क्यों कि उन्हें 'अकालमृत्यु'-शब्दगत अकालशब्दका अर्थ स्वकाल करना इष्ट है। 'काल-लब्धिसे अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादि समवायोंका समुदाय' यह अर्थ अकालशब्दका करना है। अकालशब्दका अर्थ श्री कानजीभाई को इष्ट होनेपर भी आगमसमर्थित नहीं है। उनकी दृष्टिमें कालशब्दका अर्थ काललब्धि है। इस विषयमें प्रश्न खड़ा होता है कि समय और काललब्धि इनके अर्थों में क्या भेद है? क्या काललब्धिसे समय भिन्न है? यदि काल का अर्थ काललब्धि है तो समयका अर्थ क्या है? यदि काल एक समवाय है तो वह व्यंजनपर्यायकी उत्पत्तिमें सहकारिकारण है क्या? यदि काल कार्योत्पत्तिमें निमित्तकारण है तो निमित्त सर्वथा अकिञ्चित्कर होता है इस आपके सिद्धान्तकी हानि होना अनिवार्य हो जाता है। दूसरा प्रश्न ऐसा खड़ा होता है कि-यह आपकी काललब्धि क्या चीज है? 'सम्यक्त्वचारित्रे' (त. सू. २।३) इस सूत्रका अर्थ करते हुए जिसका उल्लेख किया गया है वह काल-लब्धि आपको (लेखकमहाशयको)इष्ट है या दूसरी कौनसी?

'कालल्ब्धि' यह जिनागमका पारिभाषिक शब्द है। उसका मनमाना अर्थ किया गया है।

पृ. १११ में लिखा है कि– "कालनय और अकालनयका 'क्रमबद्धपर्याय' से कोई विरोध नहीं है, अपि तु ये नय क्रम–बद्धपर्यायके साधक ही हैं। इस संदर्भमें 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा' का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है:– 'विचार कर देखा जाय तो कालनयमें काल की विवक्षा है और अकालनय में कालको गौणकर अन्य हेतुओं की विवक्षा है। जहाँ अन्य हेतुओंको गौणकर कालकी प्रधानतासे कार्यको दृष्टिपथमें लिया जाता है, वहाँ वह कालनय का विषय होता है और जहाँ काल को गौणकर अन्य विवक्षा या प्रयोग से प्राप्त हेतुओं की प्राधनता से कार्य को दृष्टिपथमें लिया जाता है, वहाँ वह अकाल–नयका विषय होता है। इसप्रकार एक ही कार्य कालनय का भी विषय है और अकालनयका भी। यदि ऐसा न माना जाय तो इन्हें नयवचन कहना संगत न होगा। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचंद्रके उक्त कथनसे कोई पर्याय क्रमनियत होती है–और कोई पर्याय क्रमनियत नहीं होती है–यह त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत इससे यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रम–नियत होकर भी वे विवक्षाभेदसे काल और अकाल इन दोनों नयोंके विषय हैं।"

कालनयसे कार्यकी समयायत्तसिद्धि होती है अर्थात् कार्यकी सिद्धिके कालकी निश्चितिकी सिद्धि होती है और अकालनयसे अनिश्चितकार्यकालकी अर्थात् कार्यकी निश्चित

कालमें सिद्धि न होकर अकालमें अर्थात् भिन्न कालमें सिद्धि होना सिद्ध होता है। क्रम तो कालायत्त (कालके अधीन) भी होता है और स्थलायत्त (स्थलके अधीन) भी होता है। यौगपद्य भी या अक्रम भी कालायत्त ही होता है। अकालनय अकालमृत्युके समान पर्यायमें फेरफार की सिद्धि करता है। अतः अकालनय क्रमबद्धपर्याय का विरोधी होनेपर भी उसका 'क्रमबद्धपर्यायसे कोई विरोध नहीं है ऐसा कहना लोकप्रतारणा करनेके लिए वस्तुस्थितिका अपलाप करना है, मायाचार करना है। खानिया चर्चा कालनयमें काल की विवक्षा बताती है जब की डॉक्टरसाहब उस नयमें कालकी विवक्षाका विरोध कर काललब्धिकी विवक्षा को बताते हैं। खानिया चर्चामें अकालनयमें आचार्य अमृतचंद्रसूरिने जो समयानायत्तत्वकी प्रधानता बताई है उसका विरोध करके या अपलाप करके पर्युदासका आश्रय करके अन्य हेतुओंकी विवक्षा बताई है। वहां जिन अन्य हेतुओंकी विवक्षा बताई है वे अन्य हेतु कौनसे हैं यह नहीं बताया है। इन कारणोंको प्रकट करते तो डॉक्टरसाहबके लिए अच्छा हो जाता। एक ही कार्य कालनयका भी विषय है और अकालनयका भी विषय है ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है। कालनयके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति समयायत्त होती है और अकालनयके अनुसार कार्यकी उत्पत्तिसमयायत्त अर्थात् निश्चितसमयसे भिन्न समयमें होती है। यह कथन आचार्य अमृतचंद्रसूरिके अभिप्रायानुसार किया गया है। खानियाचर्चाका कथन आचार्य महाराजके वचनके विरुद्ध है। आचार्य अमृतचंद्रके कथनके अनुसार किसी पर्यायकी उत्पत्ति समयायत्त होती है और किसीकी समयानायत्त होती है। खानियाचर्चामें आचार्य अमृत-

चंद्रके कालनयविषयक और अकालनयविषयक वचनोंको क्यों उद्धृत नहीं किया समझमें नही आता। यदि उद्धृत करते तो अकालनयविषयक उनके द्वारा किया गया प्रतिपादन आचार्य अमृतचंद्रसूरिके अभिप्रायके विरुद्ध है यह स्पष्ट हो जाता। क्या यह लोकप्रतारणा नहीं है ?

पृ. ११२ में लिखा है कि– " (१७) प्रश्न– इसप्रकारके प्रयोग लोकमें तो प्रचलित नहीं है ? उत्तर– क्यों नहीं हैं ? कालके अतिरिक्त अन्य समवाय को अकाल कहने जैसे प्रयोग जिनवाणीमें तो मिलते हैं, जैसा कि जीव अजीववाले उदाहरणमें स्पष्ट है, लोकमें भी ऐसे प्रयोगप्रचलित हैं। 'अजैन' शब्द भी हमें जैनधर्मावलंबियोंको छोड़ कर अन्यधर्मवालोंके लिए प्रयोग करते ही हैं। अजैनमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी आ जाते हैं। जब हम कहते हैं कि वह अजैन है तो उसका अर्थ हिन्दू, मुसल–मान, ईसाई आदि कुछ भी हो सकता है। जब हम यह कहेंगे कि यह काम अजैनों के सहयोगसे सम्पन्न हुआ तो हमारे आश–यमें जैनोंको छोड़कर अन्य अनेक सम्प्रदायवाले ही अपेक्षित होते हैं। जब हमें इसमें कहीं कोई शंका नहीं होती तब अकालका अर्थ कालके अतिरिक्त बाकी समवाय करने पर भी आपत्ति क्यों? अकालका यह अर्थ आजतक हमारे ध्यानमें नहीं आया तो इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसका यह अर्थ अनुचित है। हमारे ध्यानमें तो बहुतसी बातें नहीं हैं, तो क्या वे मात्र इसलिये गलत हैं कि हमारे ज्ञानमें नहीं है। वस्तुकी व्यवस्था क्या आपके तुच्छ क्षयोपशमज्ञानके आधारपर संचालित है ? क्या यह बात विचा–रणीय नहीं है ? यदि है तो फिर एक बार गंभीरतासे विचार कीजिये। विचार करनेपर सब कुछ स्पष्ट हो जावेगा। "

अकाल शब्दसे भिन्न काल का ही ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ? ' अकालवृष्टि ' इस शब्दसे ' योग्यकालसे भिन्न कालमें होनेवाली वृष्टि ' ऐसा अर्थ नहीं होता है ? स्वभाव आदि अन्यकारणोंका ही ग्रहण क्यों किया जाता है ? अन्य कालका ग्रहण करनेमें क्या हानी है ? स्वभावादिका ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है ? आचार्य अमृतचंद्र सूरिने जो अकालशब्दका अर्थ किया है उसको क्यों नही ग्रहण किया जाता ? आचार्यवचनोंका विरोध क्यों किया जा रहा है ? हम आचार्यों को प्रमाण नहीं मानते और नहीं मानेंगे ऐसा स्पष्टरूपसे क्यों नहीं कहते ? आचार्यवचनोंको प्रमाण न माननेका क्या कारण है ? आचार्य वचनोंको प्रमाण माननेमें गुलामी वृत्ति महसूस होती हो तो कानजीवचनों को प्रमाण माननेमें गुलामीवृत्ति नहीं है क्या ? श्री. कानजीभाईकी तत्त्वप्रणाली प्रमाणबाधित होनेपर भी उसको स्वीकार करना गुलामी वृत्ति नहीं है और सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्वप्रणालीको स्वीकार करना गुलामीवृत्ती है यह कथन पक्षांधताका परिचायक है ।

इसी पृष्ठमें आगें लिखा है कि:– (१८) प्रश्नः– " सभी कुछ निश्चित है, उसमें कहीं भी कुछ भी कोई फेरफार नहीं किया जा सकता " ऐसा मान लेनेपर समागत या संभावित विपत्तिका पता चलते ही समस्त जगतमें भय का वातावरण फैल जायगा; क्यों कि ' सभी कुछ निश्चित ' के अनुसार उसे रोकनेका प्रयत्न संभव नहीं है । इत्यादि ।

केवली भगवान के ज्ञानके अनुसार ' सभी कुछ निश्चित है, उसमें कहीं भी कोई फेरफार नहीं किया जा सकता ' यह

कथन भी निश्चित है। किया जानेवाला फेरफार भी केवली के ज्ञानके अनुसार निश्चित है। इस ज्ञानके अनुसार जो फेरफार निश्चित रूपसे किया जानेवाला होता है उसमें भी फेरफार नहीं किया जा सकता। जीवके द्वारा जो जो कृतियाँ की जानेवाली होती हैं उनका ज्ञान भगवानको अवश्य होता है। भगवान जीवके कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमको भी जानते हैं। भगवान जानते हैं इसलिये जीवके भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है। अपि तु जीवके द्वारा जो भाव अवश्य किये जानेवाले होते हैं उन भावोंको भगवान जानते ही हैं। जीवके कर्मनिमित्तक जो भाव उत्पन्न होनेवाले होते हैं उनको साक्षात् जिनेंद्र भगवान भी टाल नहीं सकते हैं। जो जीव जिन भावों का कर्ता होता है उन भावों का वही भोक्ता और हर्ता होता है। मनोबल टूटना, न टूटना भी जीवकी योग्यतापर आधारित है।

पृ. ११६ में लिखा है कि – " न उसे (ज्ञानी को) द्रव्य-स्वभावमें परिवर्तन की कोई इच्छा है और न पर्यायोंके परि-वर्तनमें दखल करनेका कोई आग्रह है। थोडी–बहुत व्याकुलता भी दिखाई दे, तो समझना चाहिये कि यह चारित्र की कमजोरी है, श्रद्धानका दोष नहीं; क्यों कि उसकी श्रद्धा तो निर्दोष द्रव्यस्वभावका आश्रय लेकर पूर्ण निर्दोष हो गई है। "

ज्ञानी द्रव्यस्वभावमें परिवर्तन करनेकी इच्छा नहीं करता और करे तो भी कर नहीं सकता। वह द्रव्यपर्याय को परिवर्तीत कर सकता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्यरूप द्रव्यपर्यायको परिवर्तित कर देवपर्यायरूप पर्यायके रूपसे परिणत

होता है और उस देवरूप द्रव्यपर्यायको परिवर्तित कर मनुष्य-पर्यायके रूपसे परिणत होकर पुरुषार्थके द्वारा मनुष्यपर्यायको परिवर्तित कर सिद्धरूप द्रव्यपर्यायके रूपसे परिणत होता है। जिसको चतुर्थ गुणस्थानमें क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है वह ज्ञानी इच्छारहित होता है क्या ? क्षायिक सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धा निश्चल, निर्मल और गाढ होती है इसमें संदेह नहीं; परंतु उसके सर्वथा इच्छाका अभाव होता है ऐसा कहना उचित नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय

एक इन्टरव्यू पू. कानजी स्वामी से

पृ. ११९ में लेखक महाशयने लिखा है कि– 'उनके (श्री कानजीभाईके) ताजे विचार समाजको प्राप्त हों–यही उद्देश्य रहा है इस इन्टरव्यूका।' इससे स्पष्ट हो जाता है श्रीकानजीभाईके पहलेके विचार और ताजे विचार इनमें भेद है। जब इनके विचारोंमें स्थिरता नहीं तब उनके विचार प्रमाणभूत कैसे हो सकते हैं। अप्रमाणभूत विचारोंकी श्रद्धा कैसे की जा सकती है ?

इसी पृष्ठपर आगे लिखा है कि– "धर्मका मूल सर्वज्ञ है, क्रमबद्धपर्यायका निर्णय हुए विना सर्वज्ञका निर्णय नहीं हो सकता। धर्मका आरंभ ही क्रमबद्धके निर्णयसे होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।"

धर्मका मूल सर्वज्ञ है इसमें संदेह नहीं; किंतु 'क्रमपर्यायका निर्णय हुए विना सर्वज्ञका निर्णय नहीं हो सकता' यह

कथन मनमाना है; क्यों कि इसकी सिद्धि प्रमाणोंके द्वारा नहीं की गई है। इस मन्तव्यकी सिद्धि प्रमाणोंके द्वारा नहीं की जा सकती। सर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, अष्टसहस्री आदि न्याय-ग्रंथोंमें सर्वज्ञसिद्धि करते हुए क्रमबद्धपर्यायको हेतु नहीं बनाया है। क्रमबद्धपर्यायकी सर्वज्ञके साथ व्याप्तिकी सिद्धि किये विना क्रमबद्धपर्यायको सर्वज्ञकी सिद्धि करनेके लिए हेतु नहीं बनाया जा सकता। जैसे रसोईघरमें अग्निके साथ प्रत्यक्षरूपसे धूमकी व्याप्ति की जानेपर ही धूम पर्वतपर अग्नि के अस्तित्वकी सिद्धि करनेवाला हेतु बनता है उसप्रकार क्रमबद्धपर्यायकी सर्वज्ञके साथ प्रत्यक्षतया व्याप्ति की सिद्धि की जानेपर ही क्रमबद्धपर्याय हेतु सर्वज्ञ की सिद्धि कर सकता है। सर्वज्ञके साथ क्रमबद्धपर्यायकी प्रत्यक्षतया सिद्धि की जा सकती हो तो सर्वज्ञका साक्षात् दर्शन हो जानेसे उसकी अनुमानप्रमाणके द्वारा सिद्धि करनेकी आव-श्यकता नहीं होती है। अतः क्रमबद्धपर्यायको लिंग बनाकर सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं की जा सकती। क्रमबद्धपर्यायकी सिद्धिके विना सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती और सर्वज्ञ की सिद्धिके विना क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि नहीं हो सकती यह अभिप्राय लेखकमहाशयने प्रथम खण्डमें व्यक्त किया है। लेखकमहाशयके इस कथनसे ही इतरेतराश्रय दोषकी सिद्धि हो जाती है। इस दोषके कारण न क्रमबद्धपर्याय सर्वज्ञकी सिद्धि कर सकती है और न सर्वज्ञ क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध कर सकता है। अतः सर्वज्ञ और क्रमबद्धपर्याय इनमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। सोनगढीय मन्तव्यके अनुसार निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे भी उन दोनोंमें निमित्तनैमित्तिकभाव नहीं बन सकता। निमि-त्तकी सर्वथा अकिंचित्करताके कारण पर्याय की उत्पत्ति होना

असंभव होनेसे क्रमबद्धपर्याय का अभाव होनेके कारण वह सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें अविनाभावी हेतु नहीं बन सकती ।

पर्यायोंकी क्रमनियमितता वस्तुस्वभावाधीन है यह बात घट-पटादिके दृष्टान्तोंसे सिद्ध होती है । मृत्पिण्डसे लेकर घट-पर्यायकी उत्पत्ति होनेतक स्थास, कोस, कुसूलादि पर्यायें क्रमसे ही होती हैं । अतः एक द्रव्यकी या एक गुणकी पर्यायें क्रमसे ही होती हैं । पर्यायोंकी उत्पत्ति निमित्ताधीन होती है; क्यों कि सहकारिकारणके विना द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी उसकी अपनी पर्यायके रूपसे परिणति नहीं होती । यह वस्तुस्वभाव है । पाश्चात्योंके तर्कशास्त्र (Logic) में भी कार्योत्पत्तिके उपादान (Material cause) और निमित्त (Instrumental cause) ये दो कारण माने गये हैं । सारांश, पर्यायों की उत्पत्तिके ज्ञानके लिए और उनकी क्रमवर्तिताके ज्ञानके लिए सर्वज्ञके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती; परंतु भविष्यमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंके क्रमके ज्ञानके लिए सर्वज्ञके ज्ञानकी आवश्यकता न होनेसे ' क्रमबद्ध का निर्णय हुए विना सर्वज्ञका निर्णय नहीं हो सकता ' यह कथन ग्राह्य नहीं हो सकता । भविष्यमें होनेवाली पर्यायोंके क्रमके ज्ञानके लिए सर्वज्ञके ज्ञानकी आवश्यकता होती है सर्वज्ञका ज्ञान जीवकी गति, इंद्रिय, कषाय, ज्ञान, संयमादि। युगपत् होनेवाली पर्यायों को भी जानता है । अतः आगे भविष्यमें होनेवाली सहभावी पर्यायोंके ज्ञानके लिए भी सर्वज्ञके ज्ञानकी आवश्यकता होती है । प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धिमें सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए साधकतम हेतुरूपसे क्रमबद्धपर्यायका निर्देश नहीं पाया जाता ।

अत:क्रमबद्धपर्यांका निर्णय नहीं हो सकता (उत्पत्तिके दृष्टिसे)। वर्तमानमें होनेवाली एक द्रव्यकी या एक गुणकी अनेक पर्यायों कीक्रमभाविता भावि पर्यायों की क्रमभाविताकी निर्णायक होती है; क्यों कि द्रव्यकी या गुणकी अनेक पर्यायोंकी क्रमभाविता वस्तुस्वभावसिद्ध है।

'धर्मका प्रारंभ ही क्रमबद्धपर्यायके निर्णयसे होता है' इस मन्तव्यको सिद्ध करना चाहिये था। आगममें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

पृ, १२० में लिखा है कि– "प्रश्न:– आप तो पर्यायपर दृष्टि रखनेवाले को पर्यायमूढ कहते हैं।

उत्तर:– हम क्या कहते हैं, प्रवचनसार (गाथा ९३) में लिखा है– 'पज्जयमूढा ही परसमया'"

क्रमबद्धपर्यायपर दृष्टि रखे विना उसके निर्णयके लिए प्रयत्न नहीं किया जा सकता है। क्या प्रयत्नके विना आपके क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया जा सकता है? प्रयत्न भी पर्याय-रूप होनेसे उसपर भी दृष्टि नहीं रखनी क्या? यदि नहीं रखनी हो तो पुरुषार्थका भी अभाव हो जायेगा। यदि रखनी हो तो परसमय बननेका दोष खड़ा हो जायेगा। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करना क्यों आवश्यक है? इस प्रश्नका यह उत्तर समाधान-कारक नहीं है। ज्ञायकका स्वभाव ज्ञान है। उस ज्ञानके आश्रयसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णस हो सकता है। ज्ञान गुण है द्रव्य नहीं। अब परसमयका स्वरूप देखिये–" ये खलु जीवपुद्गलात्मकसमा–

सजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्म-स्वभावसम्भावनक्लीबास्तस्मिन्नेवा-(श?)-सक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो 'मनुष्य एवाहमेष, ममैवैतन्मनुष्यशरीरम्' इत्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं व्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा सङ्गतत्वात्परसमया जायन्ते।" (प्रवचनसार गाथा ९४, तत्त्वदीपिका)

अर्थः- जो पमार्थतः सभी अविद्याओं का एक मूलकारणभूत जीवपुद्‌गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायको प्राप्त हुए होते हैं, जो यथोक्त आत्मस्वभावका चिन्तन करनेमें असमर्थ होते हैं, जो उसीमें (असमानजातीयद्रव्यपर्यायमें अर्थात् शरीर में) ही आसक्तिको प्राप्त होते है; वे वस्तुतः जिनकी निरंकुश एकान्त दृष्टि प्रकट हुई होती है, 'यह मैं मनुष्य हूँ, यह मनुष्य-शरीर मेरा ही है' इसप्रकार अहंकार और ममकार के द्वारा ठगाये जानेवाले, अविचलीत-निश्चल चेतना का विलासमात्ररूप आत्मव्यवहारसे प्रच्युत होकर, जिसमें सभी क्रियाओंका समूह अपनेमें अन्तर्भूत कर लिया है ऐसे व्यवहारका आश्रय करके रागद्वेष करनेवाले परद्रव्यरूप कर्मसे युक्त होनेके कारण परसमय बन जाते हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जो आत्मस्वभावका चिंतन करनेमें असमर्थ होता है, जो स्वशरीररूप असमानजातीय द्रव्य-पर्यायमें आसक्त होता है, जो निरर्गल एकान्तको पकडे हुए होता है अर्थात् एकान्तको पकड़नेवाला होता है, जो अहंकार-ममकार

से युक्त होता है, और जो रागद्वेषोत्पादक कर्मसे युक्त होता है वह जीव परसमय कहा जाता है। जो केवलज्ञानपर्यायकी या सिद्धपर्यायकी प्राप्तिके लिए और इन पर्यायों के साधक पर्यायों की प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील होते हैं वे परसमय नहीं है। आचार्य जयसेनने कहा है कि " मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते। ताभ्यां परिणताः ममकाराहंकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेः च्युता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायनिरतत्वात् परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। "

अर्थः- मैं मनुष्यादिपर्यायरूप हूँ ऐसा अभिप्राय अहंकार कहा जाता है, मनुष्यादिशरीर और उस शरीरके आधारसे उत्पन्न हुआ पंचेन्द्रियविषयसुखरूप स्वरूप मेरा है ऐसा अभिप्राय ममकार कहा जाता है। उन अहंकार और ममकार के रूपसे परिणत हुए ममकार-अहंकारसे रहित परमचैतन्यचमत्काररूप परिणतिसे जो च्युत हुए होते हैं वे कर्मोदयजनितपर्यायोंमें निरत होनेसे परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि जो परसमय होते हैं वें मिथ्यादृष्टि होते हैं, क्यों कि वे औदयिकभावों में निरत होते हैं। सारांश परसमय कहे जानेवाले जीव औदयिकभावों में निरत हुए मिथ्यादृष्टि होते हैं। जो जो पर्यायपर दृष्टि रखता है वह पर्यायमूढ होता है यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि जो निरर्गल एकान्तको पकड़ता है, जो अपने असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप शरीरमें अत्यंत आसक्त होता है और जो ममकार और अहंकार से युक्त होता है वही परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि होता है।

अतः कानजीभाई का जो पर्यायपर दृष्टि रखता है वह पर्यायमूढ होता है' यह कथन स्वमतांधताका परिपाक है।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि— प्रश्नः- क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है, फिर उसका निर्णय करना क्यों आवश्यक है ? उत्तरः— क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करना तो आवश्यक है, पर वह दृष्टिका विषय नहीं है। एक बात और भी ध्यान रखो कि पर्याय का निर्णय पर्यायके आश्रयसे नहीं होता, किन्तु द्रव्यके आश्रयसे होता है। ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होता है। अतः यह कहा जाता है कि-आश्रय करने योग्य एकमात्र अपना ज्ञायकस्वभाव ही है पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है।"

'क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है, फिर उसका निर्णय करना क्यों आवश्यक है ?' इस प्रश्नका 'करमबद्धपर्यायका निर्णय करना तो आवश्यक है' यह समीचीन और समाधानकारक उत्तर हो सकता है ? वस्तुतः उक्त प्रश्नने श्री कानजीभाईको निरुत्तर बना दिया है – उनका मुह बंद कर दिया है। प्राश्निक के द्वारा प्रश्न किया जानेपर वक्ताका ज्ञान प्रश्नज्ञानात्मकपर्यायके रूपसे परिणत होनेपर उत्तर ज्ञानरूपपर्यायके रूपसे परिणत होकर प्राश्निकके प्रश्नात्मकज्ञानपर्यायका उत्तर व्याख्याताके द्वारा दिया जाता है। प्राश्निकका प्रश्न ज्ञानपर्यायात्मक नहीं होता क्या ? व्याख्याताका उत्तर भी ज्ञानपर्यायात्मक नहीं होता क्या ? पर्यायका निर्णय तदुपादानविषयक चर्चामें उपादानभूत द्रव्यके आश्रयसे चलती है, सर्वदा नहीं। पर्यायकी चर्चा द्रव्यके आश्रयसे ही चलती है ऐसा एकान्त नहीं है। ' ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे

क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होता है' इस प्रतिपादनमें 'ज्ञायक-स्वभावके आश्रयसे' ये जो दो शब्द हैं उनमें जो 'ज्ञायस्वभाव' शब्द है वह द्रव्यका वाचक है क्या ? ज्ञायक आत्मा द्रव्य है और स्वभाव गुण है। अतः 'द्रव्यके आश्रयसे' इस कथन के साथ विरोध प्रतीत है; क्यों कि यहाँ क्रमबद्धपर्यायका साधक द्रव्य न होकर गुण है। सारांश, यह कथन सदोष होनेसे इससे क्रमबद्ध-पर्यायके साधक का बोध नहीं होता। न्यायतीर्थ होनेपर भी अंधभक्तिके कारण लेखक महाशयने इस विषयपर प्रकाश नहीं डाला यह खेदकी बात है। द्रव्यपर्यायका उपादान द्रव्य होता है और गुणपर्यायका उपादान गुण होता है। अतः पर्यायका निर्णय द्रव्यके आश्रयसे होता है यह कथन ऐकान्तिक होनेसे अग्राह्य है।

उसी पृष्ठपर लिखा है कि– "**प्रश्न**– 'तो फिर क्रम-बद्धपर्यायका निर्णय करे या नहीं ?' "**उत्तर**– "निर्णय तो करो आश्रय मत करो। हम आश्रय करनेका निषेध करते हैं, तो तुम निर्णय करनेका निषेध करने लगते हो ? हम तो यह कहते हैं कि ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे क्रमबद्ध का निर्णय होगा। अतः क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेके लिए ज्ञायकस्वभावका आश्रय करो। ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे क्रमबद्धका निर्णय सहज हो जायगा। क्रमबद्धके निर्णय करनेकी जरूरत तो है ही, आश्रय करनेकी जरूरत नहीं। क्रमबद्धका निर्णय तो महापुरुषार्थका कार्य है। उससे सारी दृष्टि ही पलट जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो जैनदर्शनका मर्म है"।

श्री कानजी भाईने जिनको क्रमबद्धपर्यायका निर्णय कर लेनेके लिए कहा है वे सर्वज्ञ न होनेसे उसका निर्णय स्वयं नहीं

कर ले सकते और सर्वज्ञका अभाव होनेसे उसके आश्रयसे भी नहीं कर ले सकते। श्री. कानजीभाई भी सर्वज्ञ न होनेसे और इस समय सर्वज्ञ का अभाव होनेसे क्रमबद्धका वस्तुत: निर्णय नहीं कर ले सकते। विद्यमान आगम ग्रंथोंके आश्रयसे भी उसका निर्णय नहीं कर ले सकते; क्यों कि उनका जिनागमपर विश्वास नहीं है। वे जिनागमका आश्रय सिर्फ अपने कपोलकल्पित मन्तव्य की सिद्धि करनेके लिए करते हैं। वे निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर माननेवाले होनेसे और आगम निमित्तके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसा प्रतिपादन करने-वाला होनेसे और पर्याय की उत्पत्ति निमित्तकी किंचित्करताके सद्भावमें ही होनेसे पर्यायकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। जब श्री. कानजीभाईके मन्तव्य के अनुसार पर्याय की उत्पत्ति होना ही असंभव है तब पर्यायों कि क्रमबद्धता असंभव होनेसे स्वयं कानजी भाईभी क्रमबद्धपर्यायके अस्तित्व की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। उपादानभूत द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी उसकी अपनी उपादेयभूत पर्यायके रूपसे परिणत होनेकी क्रियाकी उत्पत्ति निमित्तके बिना नहीं हो सकती। शास्त्रकारोंने निमित्तको बलाधायक कहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त उपादानकी स्वयं परिणत होनेकी असमर्थता को खंडित कर देता है। आगममें सभी पर्यायोंका निषेध करनेकी बात नहीं कही गई है। आगम सिर्फ औदयिकभावरूप पर्यायोंका निषेध करता हैं। वह जीव पुद्‌गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायपर की जाने-वाली आसक्तिका निषेध करता है। वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावोंका प्रतिषेध नहीं करता। ये भाव भी पर्यायरूप ही हैं। जो जीव शास्त्रमें परसमय कहा गया है वह

नियमसे मिथ्यादृष्टि होता है। जो क्रमबद्धपर्यायको नहीं मानते उनको वे परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं। किसीके द्वारा मिथ्यादृष्टि कहा जानेपर जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता और सम्यग्दृष्टि कहा जानेपर सम्यग्दृष्टि नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि अपने परिणामोंसे बनता है और परिणाम कर्मनिमित्तक होते हैं। वस्तुस्थिति किसी के कहनेपर अवलंबित नहीं होती।

क्रमनियमितताका निर्णय ज्ञायकस्वभावके अर्थात् सर्वज्ञके आश्रयसे सहज हो जाता है ऐसा जो कथन किया गया है वह चिन्त्य है। वह निर्णय युक्ति और प्रतीतिके आश्रयसे नहीं होता क्या? क्रमबद्धका निर्णय करनेके लिए महापुरुषार्थकी आवश्यक है यह कथन भी कपोलकल्पित है; क्यों कि विमृश्यकारी अर्थात् विचार करके करनेवाला जीव कर सकता है। क्रमबद्धसे सारी दृष्टि पलट जाती है इसका अर्थ क्या है? वस्तुतः यह प्रतीतिगम्य है। मृत्तिकाके पिण्डसे घटपर्यायकी उत्पत्ति क्रमसे ही होती है, स्थास, कोस, कुसूलादि पर्यायोंके अभावमें नहीं हो सकती। यह बात कुम्हार भी जानता है, इस बातको जाननेके लिए सर्वज्ञ-ताकी आवश्यकता नहीं होती।

पृष्ठ १२१ में लिखा है कि– "प्रश्नः– 'जब सब–कुछ क्रमबद्ध ही है तो फिर जब हमारी क्रमबद्धपर्यायमें क्रमबद्धका निर्णय होना होगा तब हो जायगा। उसके पहले क्रमबद्धपर्याय हमारी समझमें भी कैसे आ सकती है? मान लो हमारी समझमें क्रमबद्ध आनेमें अनंत भव बाकी है– तो अभी कैसे आ सकती है? उत्तरः– यह बात किसके आश्रयसे कहते हो? क्या तुम्हें

क्रमबद्धका निर्णय हो गया है ? नहीं, तो फिर यह कहनेका तुम्हें क्या अधिकार है ? जिसे क्रमबद्धका निर्णय हो जाता है उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है। क्रमबद्ध की श्रद्धावालेके अनन्त भवे ही नहीं होते। क्रमबद्धकी श्रद्धा तो भव का अभाव करनेवाली है। जिसके अनंत भव बाकी हों उसकी समझमें क्रमबद्धपर्याय आ ही नहीं सकती; क्यों कि उसकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख नहीं होती और ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि हुए विना क्रमबद्धपर्याय समझमें नहीं आती है। ज्ञायकके सन्मुख होकर जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय किया वहाँ भव उड जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होनेपर निर्मल पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता-यह बात भी नहीं रहती। पर्याय स्वसमय पर होगी ही-ऐसी श्रद्धा होनेसे उसे करनेकी कोई व्याकुलता नहीं रहती। मुझें भव नहीं-इस प्रकारकी निःशंकता प्रकट हो जाती है। क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धामें कर्तापनकी बुद्धि उड जाती है और ज्ञातापनकी बुद्धी प्रकट हो जाती है- यह उसका फल है। यदि कर्ताबुद्धि न उडे तो समझना चाहिये कि अभी उसकी समझमें क्रमबद्धपर्याय आई नहीं है।"

यह सब कथन मनमाना है, शास्त्रसमर्थित नहीं है और युक्ति-प्रतीतिसिद्ध नहीं है। 'क्या तुम्हें ..... क्या अधिकार है ?' इस प्रतिप्रश्नसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो गया होता है उसे ही प्रश्न करनेका अधिकार है। श्री कानजीभाई इस प्रकार का उत्तर देते हैं वे ही उत्तर देते हुए 'जिसे क्रमबद्धका निर्णय हो जाता है उसे ऐसा प्रश्न नहीं उठता' ऐसा भी कहते हैं। इससे श्री कानजी भाईका 'क्रमबद्धके विषयमें प्रश्न करनेका अधिकार किसी को भी नहीं है' यह अभिप्राय

व्यक्त होता है। प्राश्निकने स्वयं स्वीकार कर लिया है कि उसे क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नहीं है और उसकी श्रद्धा भी नहीं है। इसी कारण वह प्रश्न करता है। 'क्रमबद्ध की श्रद्धा तो भवका अभाव करनेवाली होती है' इस वाक्यका अर्थ 'जिस भवमें जीवको क्रमबद्ध की श्रद्धा होती है उसी भवमें उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है अर्थात् क्रमबद्ध की श्रद्धावाला जीव तद्भवमोक्षगामी होता है' ऐसा होता है। जिस भवमें क्षायिकसम्यक्त्व जीवके उत्पन्न होता है वह जीव भी नियमसे तद्भवमोक्षगामी नहीं हो सकता। वह तद्भवमोक्षगामी भी होता है या तीसरे या चौथे भवमें मोक्षप्राप्ति कर लेता है। क्रमबद्धकी श्रद्धावाला जीव क्षायिक सम्यक्त्वी से श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्यों कि वह तद्भव-मोक्षगामी सिद्ध होता है ऐसा कानजीभाईका अभिप्राय है यह स्पष्ट हो जाता है। क्या यह अभिप्राय आगमानुकूल है? यहाँ एक प्रश्न उठता है कि श्री. कानजीभाईको क्रमबद्ध की श्रद्धा थी या नहीं थी? यदि थी तो उनके कथनानुसार भवका अभाव हो जानेसे उन्हें जसलोक होस्पिटलमें शरीरका अभाव होकर मोक्षकी प्राप्ति हो गयी थी ऐसा मानना पडेगा। यदि नहीं थी ऐसा माना तो उनका क्रमबद्धविषयक कथन विश्वासके योग्य नहीं था यह स्पष्ट हो जाता है। क्या 'क्रमबद्धकी श्रद्धा तो भवका अभाव करनेवाली है' यह कथन आगम, अनुमान, प्रतीतिसे सिद्ध हुआ न होनेसे मनमाना नहीं है? क्या वह मिथ्या नहीं है? इस कथनसे 'जिसके अनन्तभव बाकी हो उसकी समझमें क्रमबद्ध आ ही नहीं सकती' यह कथन भी अपने आप खंडित हो जाता है; क्यों कि जिस भवमें क्रमबद्ध की श्रद्धा उत्पन्न होती है उसी भवमें जब जीव को मोक्षकी प्राप्ती हो

जाती है तब जिसके एक भव भी बाकी हो उसकी भी क्रमबद्ध की श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। इसका कारण 'जिसका एक भव बाकी रहता है उसकी दृष्टि ज्ञायकके सन्मुख नहीं होती। ज्ञायकके शुद्ध ज्ञायक और अशुद्ध ज्ञायक इस प्रकार दो भेद हैं। देखिये– ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं। ण वि णाणं या चरित्तं ण दंसणं णायगो सुद्धो।' सामान्यतः सभी जीव तरतमतासे ज्ञायक तो है किंतु शुद्ध आत्मा ही शुद्ध ज्ञायक है– ज्ञायकभाव है। 'ज्ञायकके सन्मुख ··· नहीं आती है' इस वाक्य पर विचार करना है। सम्यक्त्वके विना शुद्ध ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि नहीं होती। सम्यक्त्वके विना क्रमबद्धपर्याय समझमें नहीं आती है। सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें उत्पन्न हुआ होता है। अत: उसी गुणस्थानमें क्रमबद्धपर्याय समझमें आ जाती है। अत: जिस भवमें सम्य-ग्दर्शन व्यक्त होता है उसी भवमें जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह भाव उक्त वाक्यसे व्यक्त होता है। 'क्रमबद्ध-पर्यायकी श्रद्धामें ··· क्रमबद्ध पर्याय आई नहीं है' यह भाव भी मनोनीत है। यद्यपि सरागसम्यग्दृष्टि कर्मोदयके निमित्तसे विभावभावोंका उपादानकर्ता होता है तो भी निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्ध आत्मा विभावभावोंका उपादानकर्ता नहीं होता ऐसा उसका दृढनिश्चय होता है। इसीकारण क्षायिकसम्यग्दृष्टि उसी भवमें या तीसरे अथवा चौथे भवमें मोक्षकी प्राप्ति कर लेता है। क्षायिक सम्यक्त्वी की दृष्टिसे क्रमनियमितपर्यायका निर्णय और श्रद्धाका गौरव होता है; क्यों कि क्षायिकसम्यक्त्व ही तद्भवमोक्षगामित्वका और अनन्त भवोंके उड जानेका कारण होता है। श्री. कानजीभाईने क्षायिकसम्यक्त्वको उडाकर क्रम-

बद्धपर्याय की श्रद्धाको मोक्षमार्गमें प्रधान स्थान दिया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? तीर्थंकर परंपरासे चले आये क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्ररूप केवलज्ञानरूपक्षायिकज्ञानरूप साध्यकी साधनतासे क्यों उड़ा दिया इस बातका खुलासा करना पं. जी का काम था। घातिकर्मके अभाव के कारण शुद्ध आत्मा विभावभावोंका उपादानकर्ता नहीं बनता इस बातकी श्रद्धाका अभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है। कर्ताबुद्धिका उड़ जाना और क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा इनमें कार्यकारणभावकी अर्थात् कानजी-मन्तव्यके अनुसार उपादान-उपादेयभावकी सिद्धि करनेकी जिम्मेदारी पं. जी पर है; क्यों कि कानजीभाईका देहावसान हो गया है।

उक्त उद्धरणमें ' क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होनेपर निर्मल पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता-यह बात भी नहीं रहती ' ऐसा एक वाक्य है वह विचारणीय है। कानजीभाई को क्रम-बद्ध पर्याय का निर्णय प्राप्त हुआ था; किंतु गुणस्थान उनके कथनके अनुसार चौथा था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चौथे गुणस्थानमें भी क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होता है। चतुर्थ गुणस्था-नमें अप्रत्याख्यानावरणादिकर्मोंका उदय होनेपर भी जीव विभावभावोंका उपादानकर्ता होता ही नहीं क्या ? यह कथन जिनेन्द्रोक्त आगमके उपदेशके विरुद्ध नहीं है तो क्या है ? यदि वह विभावभावोंका कर्ता नहीं होता हो तो वह स्वभावभावोंका कर्ता होना चाहिये। यदि वह निर्मल पर्यायोंका भी उपादानकर्ता न होता हो तो उसके परिणनमशीलत्व का भी अभाव सिद्ध हो जाता है। उसकी परिणमनशीलताका अभाव हो जानेपर उसकी

कूटस्थनित्यताकी सिद्धि हो जायगी। उसकी कूटस्थता सिद्ध हो जानेपर उसकी अर्थक्रियाकारिताका अभाव सिद्ध हो जायगा और उसके कारण आत्मद्रव्यका अभाव सिद्ध हो जायगा।

इसके आगे 'पर्याय स्वसमयपर होगी ही–ऐसी श्रद्धा होनेसे उसे करनेकी व्याकुलता नहीं रहती' यह जो वाक्य लिखा है वह भी चिन्त्य है। पर्याय स्वसमयपर होगी ही–ऐसी श्रद्धा न होनेपर पर्यायकी उत्पत्ति करनेकी व्याकुलता होती है क्या? पर्याय स्वसमयपर होगी ही ऐसी श्रद्धा प्रतिशत मान–वोंको नहीं होती। ऐसे मानवोंमें उत्पन्न होनेवाले रागादिरूप भावपर्यायोंकी उत्पत्ति करनेकी व्याकुलता रहती है क्या? जीवोपादानक भावोंकी उत्पत्ति कर्मोदयके निमित्तसे अपने आप नहीं होती क्या? असातवेदनीयके कारण उत्पन्न होनेवाली दुःखात्मक पर्यायकी उत्पत्ति करनी पडती है क्या? इन प्रश्नोंके उत्तर कानजीभाईके चरणसेवक भक्त डॉ. साहब देंगे क्या? अहो धनस्य माहात्म्यम्!

पृष्ठ १२२ में लिखा है कि– "प्रश्न– अभी आपने फर–माया कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पर्याय पर दृष्टि रखनेसे नहीं होगा, त्रिकाली ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि रखनेसे होगा तो फिर क्रमबद्धपर्यायके निर्णयकी जरूरत ही क्या है? बस हम तो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेले न? उत्तर– "ले सकते हो तो ले लो न, कौन मना करता है? पर विकल्पमें पर्याय की स्वतंत्रताका निर्णय हुए बिना पर्याय परसे दृष्टि हटती कहाँ है? और ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि आये बिना क्रमबद्धपर्याय का भी सच्चा निर्णय नहीं होता है। तथा ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि जाने–

पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो ही जाता है। अतः क्रमबद्धपर्यायके निर्णय नहीं करने की बात कहाँ रही ? ज्ञानकस्वभाव पर दृष्टि जानेके पहले आगम और युक्तिके आधारपर विकल्पात्मक निर्णय तो हो सकता है, सच्चा नहीं। पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके विना पर्याय की महिमा हटती ही नहीं, पर्यायसे दृष्टि हटती ही नहीं। ''

क्रमबद्धपर्याय के निर्णयसे क्या लाभ है ? यदि क्रमबद्ध-पर्यायके निर्णयसे पर्यायसे दृष्टि हटकर ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टिका जाना लाभ है तो पर्यायके निर्णयके पहले ही ज्ञायकस्वभाव पर जाती है तो क्रमबद्धपर्यायके निर्णयकी जरूरत ही क्या है यह प्राश्निक का प्रश्न ठीक ही है। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कानजी भाईने कहा है कि– ' विकल्पमें पर्यायकी स्वतंत्रता का निर्णय हुए विना पर्याय पर से दृष्टि हटती कहाँ है ? ' इस वाक्यसे स्पष्ट होता है कि पर्यायकी स्वतंत्रताके निर्णयसे पर्याय पर से दृष्टि हटती है। पर्यायपर से हटने पर दृष्टि द्रव्य पर जाती है। दृष्टिका शुद्ध द्रव्यपर जाना ही इष्ट है। ज्ञायक-स्वभाव से श्री. कानजीभाई को शुद्ध आत्माका ही ग्रहण अभीष्ट है ऐसा लगता है। जब पर्याय परसे दृष्टिके हटनेसे वह ज्ञायक स्वभाव पर जाती है तब ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टिका जाना पर्याय का सच्चा निर्णय होना कैसे बन सकता है ? इसप्रकार तो अन्योन्याश्रयनामक दोष आता है। अतः ' तथा ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि जाने पर क्रमबद्धपर्यायका निर्णय हो ही जाता है ' यह कथन ठीक नहीं है। विकल्पात्मक निर्णय सच्चा नहीं होता ऐसा जो कहा है उसपर प्रश्न खड़ा हो जाता है कि उसके

मिथ्यात्व का कारण क्या है ? क्या वह विसंवादी होता है ? यदि वह विकल्पात्मक निर्णय सच्चा नहीं तो उसकी जरूरी क्यों है ? वह निर्णय झूठा होनेपर भी पर्याय की महिमाको हटा सकता है क्या ? मृगजल प्यास को हटा सकता है ? दूसरी बात यह है कि पर्याय पर्यायीका कर्म होनेसे स्वतंत्र कैसे हो सकती है ? पर्यायी कर्ता होनेसे स्वतंत्र होता है । अतः यहाँ स्वतंत्रका अर्थ क्या है ? पर्यायीसे अलग ऐसा अर्थ तो नहीं है । वस्तुतः पर्याय पर्यायीसे अलग नहीं होती । प्रकरणके अनुसार पर्याय और पर्यायी इनमें गौण–मुख्यव्यवस्था हो सकती है ।

विकल्पमें पर्यायकी स्वतंत्रताका निर्णय और पर्यायपरसे दृष्टिका हटना इनमें कार्यकारणभावका सद्भाव किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है इसका स्पष्टीकरण क्यों नहीं किया गया ? ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि जाये बिना क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय नहीं होता यह कथन चिन्त्य है । सम्यग्दृष्टि भेद–ज्ञानी होनेसे उसकी दृष्टि ज्ञायकस्वभावपर अवश्य होती है; क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायकस्वभावपर न गयी तो वह आत्माको परभावोंसे अलग नहीं जान सकता । ज्ञायकस्वभावका ज्ञाता होनेसे उसको क्रमबद्धपर्यायका सच्चा ज्ञान होना चाहिये । क्रम–बद्धपर्यायका सच्चा ज्ञान होते ही सम्यग्दृष्टिको अविरतसम्य–ग्दृष्टि गुणस्थानमें ही कानजीभाईके मन्तव्यके अनुसार कमसे कम केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जानी चाहिये । ज्ञानार्णवके अनुसार प्रत्येक समयमें दो–तीन सम्यग्दृष्टियोंका इस कालमें सद्भाव अवश्य होता है । इनकी दृष्टि कानजीभाईके मन्तव्यके अनुसार क्रम–बद्ध पर्यायका सच्चा निर्णय होकर उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति अवश्य

हो जाती है। क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय था ऐसा मानना होगा और उन्हें जसलोगरुग्णालयमें केवलज्ञानप्राप्तिपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति हुई थी ऐसा मानना होगा। कुछ दिनोंके बाद कानजी भाईके भगतलोग किसी पहाड़पर उनकी समाधि भी बनायेंगे।
"ज्ञायक स्वभावपर दृष्टि जानेके पहले आगम और युक्तिके आधारपर विकल्पात्मक निर्णय हो सकता है, सच्चा नहीं। पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके विना पर्यायकी महिमा हटती ही नहीं, पर्यायसे दृष्टि हटती ही नही।"
यह वाक्य भी कल्पनामात्ररमणीय है ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि जानेके पहले आगम और युक्ति के आधारपर निर्णय सच्चा नहीं होता तो क्या मिथ्या होता है? कानजी भाईके उक्त वाक्यसे आगम और युक्तिके बलपर जो निर्णय होता है वह मिथ्या होता है यह भाव स्पष्ट हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कानजीभाईकी दृप्टिमें आगमकृत निर्णय मिथ्या होनेसे आगम मिथ्या होनेके कारण प्रमाण नहीं है और युक्ति भी प्रमाणभूत नहीं है। यदि ऐसा है तो कानजीभाई का आगमानुकूल और युक्त्यनुकूल कथन भी नहीं हो सकता। जब आगम और युक्ति भी प्रमाण नहीं है तब कानजीभाईकी बकवृत्ति भी कैसे और क्यों प्रमाण मानी–जानी जाय? यदि आगम और युक्ती के आधारपर किया गया निर्णय सच्चा नहीं है अर्थात् मिथ्या है तो उस मिथ्या निर्णयसे पर्याय की महिमा कैसे हट सकती है? क्या मृगजलसे तृष्णाका उपशम हो सकता है? समझमें नहीं आता कि ऐसी बेबुनियाद बातोंपर कैसे विश्वास किया जाता है? तृष्णाशान्तिके लिए मृगतृष्णाके पीछे दौड़ लगानेवाले हिरण भी इस दुनियामें पाये जाते हैं।

इसी पृष्ठ में आगे लिखा है कि– " प्रश्नः– तो इस का मतलब यह हुआ कि पहिले आगम और युक्तिके आधारपर विकल्पात्मक ज्ञानमें क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें, फिर जब हमारी दृष्टि पर्याय पर से हटकर ज्ञायक स्वभाव पर जाएगी-स्थिर होगी, तब क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा होगी ? उत्तरः– हा भाई ! बात तो ऐसी ही है । "

यहां ज्ञायकस्वभाव शब्दसे शुद्ध ज्ञायक के स्वभाव का ग्रहण इष्ट है या अशुद्ध ज्ञायक के स्वभाव का ? शुद्ध ज्ञायक का ग्रहण तो निष्फल है । शुद्ध ज्ञायक के स्वभावका ग्रहण इष्ट हो तो शुद्ध ज्ञायक का ग्रहण आगम और युक्ति को सर्वथा प्रमाण जब नहीं माना जा रहा है तब शुद्ध ज्ञायक का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता । जब आगम और युक्तीके द्वारा किया जानेवाला निर्णय कानजीभाई की दृष्टि में सच्चा नहीं है तब क्रमबद्धपर्याय का आगम और युक्तिके द्वारा किया जानेवाला निर्णय सच्चा नहीं हो सकता है अर्थात् मिथ्या होता है । तब उस मिथ्या निर्णयसे पर्याय परसे दृष्टि हटती है यह कथन भी सर्वथा मिथ्या है । जब पर्यायपरसे दृष्टिका हटना मिथ्या है तब बद्धपर्याय के झूठे निर्णयसे दृष्टि शुद्ध ज्ञायकस्वभावपर जाती है यह कथन सर्वथा मिथ्या ही है । कानजीभाई की दृष्टिमें आगमके प्रामाण्यको स्थान नहीं है इस बातकी सिद्धि करनेवाले अनेक प्रमाण मिलते हैं । उनके साहित्यमें जो यत्रतत्र आगमका प्रमाण–रूपसे उल्लेख किया गया है वह लोगोंके आंखों में धूल झोंकनेके लिए ही किया गया है । उनकी युक्तियां भी युक्त्याभासरूप हैं ।

इसी पृष्ठ में आगे लिखा है कि– " प्रश्नः– ' आगमके आधार पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें– ' यह बात तो ठीक,

पर लोगोंका तो यह कहना है कि शास्त्रोंमें तो कहीं क्रमबद्धपर्याय आई नहीं है – यह तो आपने नई निकाली है। उत्तर: – नहीं भाई ! ऐसी बात नहीं है। शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंपर क्रमबद्ध की बात आती है। समयसारके सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकारमें है। वहाँ आत्मख्याति टीकामें ' क्रमनियमित ' ऐसा मूल पाठ है।

जिस आगम का सर्वथा स्वीकार नहीं किया जाता उस आगमके आधारपर क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की बात फिजूल है, व्यर्थ है, प्रतारक है। वह ठीक नहीं है। ' क्रमबद्ध–पर्याय ' इस शब्दका उल्लेख आगममें कहीं भी नहीं पाया जाता। है। यदि होता तो उसको प्रमाणरूपमें अवश्य पेश किया जाता। उसके अस्तित्व की सिद्धि करनेके लिए ' क्रमनियमित ' इस शब्द को क्यों पेश किया जाता ? कानजीभाईको ' क्रमनियमित ' इस शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं है। ' अर्थभेदाच्छब्दभेद: ' इस उक्तिका पता भी नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है। ' क्रमनियमित ' इस शब्द का अर्थ ' जिसका क्रम (कर्म के द्वारा) नियत–निश्चत किया गया है ' ऐसा है जब कि ' क्रमबद्ध ' इस शब्दका अर्थ ' जिसका क्रम बंधा हुआ है, निश्चित है ' ऐसा है। यह शब्द ' निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करता को सूचित करत है, क्यों कि बद्ध शब्द णिजन्तरूप नहीं है। ' नियमित ' शब्द णिजन्तका रूप है और णिजन्तका रूप होनेसे प्रयोजकका–निमत्तका सूचक है। अत: दोनों शब्द समानार्थक नहीं है। दोनों शब्द एकार्थक न होनेसे ' क्रमनियमित ' शब्दसे ' क्रमबद्ध ' का बोध नहीं हो सकता। यदि दोनों शब्द एकार्थक हैं तो ' क्रमनियमित ' इस शब्दके स्थानमें ' क्रमबद्ध ' शब्दका प्रयोग क्यों किया गया ? ' क्रम–

नियमित शब्दका प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? इससे इनकी कुछ कमजोरी भी स्पष्ट हो जाता है। यदि कानजीस्वामीको 'क्रमनियमित' इस शब्दका ज्ञान है तो 'क्रमबद्ध' इस शब्दका प्रयोग उनने भूलकर क्यों किया ? यह उनकी किया मायाचार सूचक नहीं है क्या ? अतः क्रमबद्धपर्याय यह मिथ्या है इसमें संदेह नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का उल्लेख आगममें कहीं पर भी पाया नहीं जाता। सारांश, क्रमबद्धशब्द निमित्तको उड़ा देनेवाला होनेसे और क्रमनियमितशब्द निमित्तको स्वीकार करनेवाला होनेसे क्रमनियमित शब्दका अर्थ क्रमबद्धशब्दके अर्थसे भिन्न होनेसे इन दोनों शब्दोंकी समानार्थकताकी सिद्धि न होनेसे क्रम-नियमितशब्द क्रमबद्धशब्द की आगमोक्तताकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है।

पृ. १२२ में लिखा है कि— "प्रश्न— 'क्रमनियमित' का अर्थ क्या है ? उत्तर— क्रमनियमित शब्दमें क्रम अर्थात् (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आएगी, उसमें फेरफार नहीं हो सकता।" ऊपर जो 'नियमित' इस शब्दका अर्थ बताया गया है वह मन माना और गलत है। जिस समय जो पर्याय आनेवाली होती है वही आती है इसमें संदेह नहीं है। पर्यायोत्पत्तिका निश्चित काल निमित्तोंके द्वारा निश्चित किया जाता है। कानजीस्वामीके मन्तव्य के अनुसार निमित्तके अभावमें वह अपने आप निश्चित नहीं होता है। कानजीस्वामी निमित्तको जब सर्वथा अकिंचित्कर मान रहे हैं तब पर्यायोत्पत्तिका काल अपने आप निश्चित हो जाता है यह उनका अभिप्राय अपने आप व्यक्त हो जाता है।

इसे व्यक्त हुए अभिप्रायसे कानजीभाई अहेतुक नियतिवादके समर्थक हैं यह स्पष्ट हो जाता है। सूर्यके अस्तित्वको जाननेके लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती है। इस विषयका सविस्तर विवेचन प्रथमखण्डके विषयका विचार करते हुए किया गया है। अहेतुक नियतिवाद एकान्तमिथ्यारूप है।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– "प्रश्न– समयसारमें तो है, पर किसी अन्य शास्त्रमें है या नहीं? समयसार तो आप का ही शास्त्र है। उत्तर– लो, यह अच्छी बात कही। समयसार हमारा कैसे है? हम तो उसे पढ़ते हैं, है तो वह परमपूज्य दिगंबराचार्य कुन्दकुन्ददेवका। प्रवचनसारमें भी गाथा ९९, १००, १०१ व १०२ में है। विस्तारसे सर्व बात कही है। 'जन्मक्षण' और 'स्वअवसर' की बातें आती हैं। आकाशके प्रदेशों (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाह–क्रम) समझाया है। जैसे– जो प्रदेश जहाँ जहाँ है, वह वहीं वहीं रहता है, उसमें आगे–पीछे होना संभव नहीं। उसीप्रकार जो जो पर्यायें जिस जिस कालमें होनी हैं वे वे पर्यायें उसी उसी कालमें होंगी, उनका आगे पीछे होना संभव नहीं। प्रत्येक पर्याय स्वयं सत् अहेतुक है। समयसारके बंधाधिकारमें पर्याय को अहेतुक कहा है"

प्रवचनकार की ९९–१०२ इन चार गाथाओंकी तत्त्व–दीपिकानामक टीकामें क्रमके प्रकारकी अर्थात् विष्कम्भक्रम और प्रवाहक्रम की बात आई है; क्रमनियमितता की या क्रमबद्धता की बात नहीं आई है। इस विष्कम्भक्रम और प्रवाहक्रमके आधारपर क्रमबद्धकी सिद्धि नहीं की जा सकती। प्रवाहक्रममें

जो पर्यायें नियत बताई गई हैं वे सब क्रमनियमित हैं, क्रमबद्ध नहीं हैं। श्री कानजीभाई पर्यायशब्दसे सूक्ष्मपर्याय का ही ग्रहण करते हैं और उनको अहेतुक बतानेका प्रयत्न करते हैं। वे पर्यायें भी अहेतुक नहीं होती। उनका हेतु काल होता है। इन गाथाओं में अर्थपर्यायोंका—सूक्ष्मपर्यायोंका प्रतिपादन किया गया है। सूक्ष्मपर्यायें यद्यपि स्वप्रत्यय कही गयी हैं तो भी वह अहेतुक नहीं होती। उनका निमित्त—हेतु—सहकारिकारण काल होता है। सहकारिकारण होनेपर भी कालद्रव्य उदासीन कारण होनेसे—प्रेरक कारण न होनेसे अर्थपर्यायें स्वप्रत्यय कही गयी हैं। अतः अर्थपर्यायें अहेतुक नहीं हो सकती। व्यंजनपर्यायोंकी या विभावभावों की उत्पत्ति प्रेरक सहकारिकारण मिलनेपर ही होती है। सहकारिकारण (प्रेरक या उदासीन) मिलनेपर ही अपनी पर्यायके रूपसे परिणत होना वस्तुका स्वभाव है। यह अभिप्राय समन्तभद्र, अकलंकदेव, विद्यानंद, अमृतचंद्र आदि—आचार्योंने व्यक्त किया है। कानजीभाई अपने मन्तव्यकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य वचनोंको ठुकरा रहे हैं—आचार्यवचनोंका अर्थ विपरीत रूपसे कर रहे हैं। एक महाशय तो आचार्य वचनोंको अप्रमाण बता रहे हैं। जिस प्रकार स्थितिबंधके समयमें विशिष्ट—पर्याय की उत्पत्तिका काल निश्चित होता है उसप्रकार अर्थ—पर्यायका स्वावसर अर्थात् निश्चित काल कौनसा होता है और उसका निश्चय कौन करता है? यदि निश्चायक और निश्चित काल नहीं है तो 'स्वावसरका' अभिप्राय क्या है? इस अभिप्रायसे कानजीभाई अहेतुक नियतिवादका समर्थन कर रहे हैं यह स्पष्ट हो जाता है। निमित्तके अभावमें कार्योत्पत्ति होती है इस बातकी सिद्धि आचार्योंको अप्रमाण माननेवाले

कर सकते हैं क्या ? जो महाशय भगवान महावीरको और उनकी सर्वज्ञताको स्वीकार कर रहे हैं वे भगवानके वचनों को प्रमाणभूत माननेवाले आचार्योंको अप्रमाण मान रहे हैं। आचार्योंके वचनोंको अप्रमाणभूत माननेवाले विद्वद्वर्य (?) भगवान महावीरके समवसरणमें गये थे क्या ? वे भगवान सीमंधरस्वामीके समसवसरणमें से आये हुए हैं क्या ? क्या उन्हें जातिस्मरण हुआ है ? भगवानके समवसरणमें रहनेसे उन्हें भगवानके उपदेशके ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर ही भगवानके उपदेश के विरुद्ध आचार्योंका उपदेश है यह कैसे कहा जा सकता है ? अतः कानजीभाई अहेतुक नियतिवादके समर्थक होनेसे वस्तुतः जैन नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। इसी परिच्छेदमें उन्होंने जो 'आकाशके प्रदेशों (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाहक्रम) समझाया है' ऐसा कहा है वह उनकी नासमझका फलितार्थ है। विष्कम्भक्रम तिर्यक्सामान्यके बिना नहीं बनता और प्रवाहक्रम ऊर्ध्वतासामान्यके बिना नहीं बनता। अब बताईये कि तिर्यक्क्रम और ऊर्ध्वक्रम इनमें कौनसा सादृश्य है ? दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इनमें कुछ सादृश्य होनेपर ही दृष्टान्त दार्ष्टान्तिककी सिद्धि में सहायक होता है। मनुष्योंकी कतारमें क्रम विष्कम्भरूप होता है और सीढीपर चढनेवालोंका क्रम प्रवाहरूप होता है। क्या ये दोनों क्रम समान हैं ? जब दोनों क्रमोंमें भेद है तब उनमें सादृश्य नहीं हो सकता। अतः दोनों प्रकारके क्रमोंमें दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक भाव नहीं हो सकता और इसी कारण विष्कम्भक्रम प्रवाहक्रमकी सिद्धी करनेमें सहायक कदापि नहीं हो सकता।

इसी पृष्ठमें लिखा है कि– " प्रश्न– पर्याय अहेतुक तो है, पर इसके बाद यही होगी–यह कैसे हो सकता है ? उत्तर– इसमें न होनेकी क्या बात है ? इसके बाद यही होगी; जो होनेवाली है, वही होगी–ऐसा ही है। मोतियोंके हारका दृष्टान्त देकर समझाया है न ? जैसे–मालामें जो मोती जहाँ हैं, वहीं रहेंगे। यदि उन्हें आगे–पीछे करें तो माला टूट जाएगी; उसी– प्रकार जो पर्याय जिस समय होनी होगी; उसी समय होगी, आगे पीछे करनेसे वस्तुव्यवस्था ही न बनेगी। उसके आगे–पीछे होनेका कारण क्या है ? वह अकारण तो आगे–पीछे हो नहीं जावेगी। यदि कोई कारण है तो फिर पर्याय अहेतुक नहीं रहेगी।"

प्राश्निक का प्रश्न ही अज्ञानमूलक है। वह यह नहीं जानता की जिनागमके अनुसार कौनसी भी पर्याय सहकारि–कारण के अभावमें उत्पन्न नहीं हो सकती। 'इसके बाद यही होगी–यह कैसे हो सकता है ?' यह प्रश्न भी अज्ञानमूलक है। पर्यायका नियामक कर्म अपने उपशमादिसे होता है और पर्या–यके कालक्रमका नियामक भी कर्म होता है। जीवकी अपनी पर्यायोंका नियामक कर्म ही होता है। कर्मको सर्वथा अकिंचि–त्कर मानना आगम, युक्ति और प्रतीतिके सर्वथा विरुद्ध है। कानजीभाई निमित्तको उड़ा दे रहे हैं। अतः पर्यायको वे सर्वथा अकिंचित्कर बताकर पर्यायकी उत्पत्तिको अहेतुक बता रहे हैं। निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर बताकर पांच समवायोंको श्वेतां–बर मान्यताके अनुसार कार्योत्पत्तिमें कारणभूत मान रहे है। अब प्रश्न उठ रहा है कि पर्यायको सर्वथा अकिंचित्कर मानना और उसीकी उत्पत्तिमें काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुष

(ईश्वर) को कारण मानना यह स्ववचनविरोध नहीं है क्या? निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर पर्यायरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा मानना वन्ध्यास्तनंधय की उत्पत्ति होनेके समान नहीं है क्या ? सारांश, प्राश्निकने पर्यायकी अहेतुकता का और क्रमविषयक प्रश्नका जो उल्लेख किया है वह निर्मूल है।

पर्याय की उत्पत्तिमें निमित्तको उडाकर ' इस के बाद यही (पर्याय) होगी, जो होनेवाली वही होगी ' ऐसा कहकर कानजीभाईने अहेतुक नियतिवाद का समर्थन किया है। अहेतुक नियतिवाद गोम्मटसार कर्मकाण्डके अनुसार मिथ्या एकान्तरूप है। निमित्तके-सहकारिकारणके अभावमें पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती और उनकी उत्पत्तियों के कालोंका निश्चय कर्म-बन्धोके समयों में ही होता है। अमुक विशिष्ट पर्यायकी उत्पत्ति अमुक कालमें ही होगी ऐसा निश्चय कर्मबन्धके समयमें होनेवाले स्थितिबंधसे होता है। इसप्रकार कर्मनिमित्तक विशिष्ट पर्यायोंका क्रम कर्मनियमित होता है। यह क्रम टूटता भी नहीं और टूटता भी है। अकालमरण इसका उदाहरण है। स्थितिबंधके परिवर्तनका आगममें प्रमाण मिलता भी है। मोति-योंकी मालामें जो क्रम मोतियोंका होता है वह क्रम टूटता नहीं यह बात सही है, किंतु मोतियों का यह क्रम मालाकारके अधीन होता है। माला अपने आप बनी हुई नहीं होती। निमित्तको उडा देनेसे जन्म और मरणरूप पर्यायें आयुकर्मके उदय और क्षय पर अवलंबित नहीं होगी, सुखरूप और दुःखरूप पर्यायें सातवेदनीयपर और असातवेदनीयपर अवलंबित नहीं होगी। ' सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय कर्मोदयान्मरणजीवितदुःख-

सौख्यं ' इस आगमवचनका उक्त कथनके द्वारा कानजीभाईने विरोध किया है। वस्तुतः पर्यायें अहेतुक है ही नहीं। पर्यायोंकी अहेतुकता आगमके और प्रतीतिके विरुद्ध है। पर्यायें अहेतुक होती हैं यह कानजीभाईकी मान्यता है। आगम, युक्ति और प्रतीति इस मान्यताका खंडन करनेवाले हैं। क्या सम्यक्त्वीका यही स्वरूप है ?

अब मुक्तामालाके दृष्टान्तपर विचार किया जाता है–

' यथैव परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामस्सूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्तफलानामनुदयनात्सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनि वर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति।'

' जैसे ही जिसने दीर्घता धारण की हुई होती है ऐसी प्रलम्बमान मोतियों की मालामें सभीके सभी मोति अपने अपने स्थानमें प्रकाशित होनेवाले होने पर आगे–आगेके स्थानोंमें मोतियोंकी प्रकटताके कारण पूर्वपूर्व मोतियोंकी प्रकटता न होनेसे सभी स्थानोंपर (उन मोतियोंका) परस्पर संयोग करनेवाले धागेके अस्तित्वके कारण त्रिलक्षणताकी सिद्धि होती है, उसीप्रकार ही जिसने नित्य सत्त्व (अस्तित्व) धारण किया हुआ होता है ऐसे वर्तमान द्रव्यमें सभीके सभी परिणाम अपने अपने कालोंमें प्रकट होनेवाले होनेपर अपने अपने कालोंमे आगे

आगेके परिणामोंकी प्रकटता हो जानेसे सर्वत्र भी एक दूसरेका संयोग करनेवाले प्रवाहका-धाराका अस्तित्व होनेके कारण त्रैलक्षण्यकी सिद्धि हो जाती है।' स्पष्टीकरण- मालाकारके द्वारा बनाई गई मोतियोंकी मालामें प्रत्येक मोती अपने अपने स्थानमें रहता है। अपने बाद आनेवाले मोतीके स्थानमें पूर्ववर्ती मोती अपना स्थान छोडकर नहीं आता अर्थात् पूर्ववर्ती मोती अपने स्थानमें ही रहता है और उत्तर स्थानवर्ती मोती भी अपने स्थानपर रहता है। इन एकके बाद एक होनेवाले मोतियोंका परस्परसंयोग घटित करनेवाला धागा होता है। इसप्रकार मोतियों की माला का त्रैलक्षण्य घटित होता है। इसप्रकार द्रव्यका त्रैलक्षण्य घटित होता है-वर्तमान द्रव्य नित्य होता है। उस द्रव्यमें उसके सभीके सभी परिणाम अपने अपने कालमें-समयमें प्रकट होते हैं। उत्तरोत्तर कालमें-समयमें उत्तरोत्तर अर्थात् आगे आगेके परिणाम प्रकट होते हैं। उत्तरोत्तर आगे-आगेके परिणामके समयमें पूर्वपूर्व परिणाम प्रकट नहीं होते। सर्वत्र भी एक दूसरे परिणामों का संयोग घटित करनेवाले प्रवाहका (द्रव्यका) अस्तित्व होनेसे (द्रव्यका) त्रैलक्षण्य घटित होता है-सिद्ध होता है।

यहाँ मुक्तामालाके त्रैलक्षण्यके दृष्टान्तके द्वारा द्रव्यके त्रैलक्षण्य की सिद्धि की गई है। द्रव्यके त्रैलक्षण्य की सिद्धि करते हुए कौनसे भी परिणामको अहेतुक नहीं बताया है। मानसपरि-णामोंके कारण जिस क्रमसे जितनी स्थिति का बंध होता है उस क्रमसे पर्यायकी-परिणामकी-कार्यकी उत्पत्ति होती है। ' इसके बाद यही होगी, जो होनेवाली है वही होगी ' इस मन्तव्यकी

सिद्धि मोतियोंकी मालाके दृष्टान्तसे नहीं सिद्ध होती। इस दृष्टान्तसे पूर्व पर्याय अपने कालमें ही रहती है और उत्तर-पर्यायके कालमें नहीं होती। व्यय और उत्पाद ये दोनों पर्याय-रूप हैं। इनके पौर्वापर्यमें विपर्यास नहीं होता इतना ही इस दृष्टा-न्तके द्वारा सिद्ध किया गया है। जीवके पर्यायके उत्पाद और व्यय दोनों सहेतुक होते हैं। पूर्वबद्ध कर्मके उदयके कारण पर्याय उत्पन्न होती है और निर्जरा या क्षय हो जानेके कारण पर्याय का नाश-व्यय हो जाता है। अतः यह मोतियोंकी मालाका दृष्टान्त कानजीभाईके मन्तव्यका साधक न होनेसे दृष्टान्ता-भासरूप है।

पृ. १२४ में लिखा है कि- "प्रश्न- प्रवचनसार भी तो कुन्दकुन्दका ही है। क्या किन्ही और आचार्योंके शास्त्रोंमें क्रम-बद्धकी बात नहीं आती? उत्तर- क्यों नहीं आती? कार्तिके-यानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तकमें आती है। चारों ही अनुयोगोंके शास्त्रोंमें किसी न किसी रूपमें यह बात आती ही है। फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रोंमें है। यदि सीधी समझमें नहीं आती है तो सर्वज्ञताके आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिये। केवलज्ञानीने जैसा देखा होगा-वैसा ही होगा का यही अर्थ तो होता है कि भविष्यमें जिस समय जो पर्याय होती है, वही होगी।" क्रमबद्ध की बात भगवत् पूज्यपाद आचार्य कुन्दकुन्दके किसी भी शास्त्रमें नहीं है; न समयसारमें है और न प्रवचनसारादि ग्रंथोंमें है। अन्य आचार्योंके शास्त्रोंमें भी नहीं है। हो भी कैसे सकती है? कोई भी आचार्य पर्यायकी उत्पत्ति को अहेतुक माननेवाले नहीं है और अहेतुक नियतिरूप मिथ्या

एकान्तको भी माननेवाले नहीं है। आचार्य स्वामिकार्तिकेय की अनुप्रेक्षानामकशास्त्रकी जिन गाथाओंको अपने मन्तव्यके समर्थनमें पेश किया जाता है वे गाथाएँ भी उनके मन्तव्यकी समर्थक नहीं है। वे गाथाएं कर्मविषयक प्रकरणमें आई हुई हैं। गाथा में 'जम्मं वा अहव मरणं वा' ये शब्द हैं। इस शब्दसमूहमें 'जम्मं' और 'मरणं' ये जो शब्द हैं वे भी पर्यायके वाचक ही हैं। जन्म और मरण क्रमशः आयुकर्मके उदय और क्षयके विना होते हैं क्या ? आयुकर्मका जब बन्ध होता है तब स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं होते क्या ? यदि होते हो तो जन्मरूप और मरणरूप पर्यायें निमित्तके अधीन हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। दूसरी यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि पर्यायें अहेतुक सिद्ध नहीं होती। तीसरी यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जिनागममें अहेतुकनियतिवाद का समर्थन नहीं मिलता है। सारांश, स्वामिकार्तियानुप्रेक्षाकी ३२१ से ३२३ तक की गाथाएँ क्रमबद्धपर्याय की समर्थक नहीं हैं। चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगमें किसी भी रूपमें क्रमबद्धपर्यायकी बात नहीं आती। पद्मपुराणका जो श्लोक पेश किया गया है वह भी क्रमबद्धपर्यायका समर्थक नहीं है। जिनपर्यायोंको और उनके क्रमको सर्वज्ञ जानते हैं, क्या वे पर्यायें अहेतुक हैं। ऐसा वे (सर्वज्ञ) जानते हैं ? अतः सर्वज्ञके आधार पर भी क्रमबद्ध पर्यायकी सिद्धि नहीं हो सकती है। "केवलज्ञानीने जैसा देखा होगा—वैसा ही होगा" का यही अर्थ होता है कि 'भविष्यमें जो पर्याय होनी है वही होगी' यह आगमका कथन मानना ही होगा; किंतु पर्यायें अहेतुक होती हैं यह भगवानने नहीं जाना है; क्यों कि 'निमित्तके मिलनेपर ही उपादान का अपनी पर्या–

यके रूपसे परिणत होनेका स्वभाव है ऐसा भगवानने ही अपनी दिव्यध्वनीके द्वारा कहा है। इस विषयमें (१) सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।' और (२) न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः' ये दो कलश अवश्य पठनीय हैं।

क्रमबद्धपर्याय सीधी समझमें नहीं आती और सर्वज्ञ और क्रमबद्धपर्याय इनमें लिंगलिंगिभाव न होनेसे सर्वज्ञताके आधारपर भी समझमें नहीं आती।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– " प्रश्न– आप क्रमबद्ध–पर्यायको सिद्ध करनेमें सर्वज्ञताका सहारा क्यों लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ? उत्तर– अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझमें न आ सके तो सर्वज्ञताका सहारा लेना चाहिये; क्यों कि सर्वज्ञताके आधारपर समझने में सरलता रहती है। "

जो अनन्त क्रमबद्धपर्यायों को युगपत् जान सकता है वह ज्ञान केवलज्ञानरूप होता है और जो ज्ञान केवलज्ञानरूप होता है वही अनन्त क्रमबद्धपर्यायों को जान सकता है। इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जानेसे सर्वज्ञ अनन्त क्रमबद्धपर्यायोंका कानजीभाई के मन्तव्यके अनुसार ज्ञापक नहीं हो सकता है। वर्तमानकालमें सर्वज्ञ आत्मा है भी नहीं। आगम सर्वज्ञवचनरूप है तो भी वह अनुमानप्रमाणरूप होनेसे अनन्त भाविपर्यायोंको नहीं जान सकता। कानजीभाईमें आगमश्रद्धाको स्थान भी नहीं है; क्यों कि वे कुछ आगमवचनोंको मानते नहीं, कुछ आगम–वचनों का विपर्यस्त अर्थ करते हैं और कुछ आगमवचनों को

तोड़मरोड़कर अर्थ करते हैं। अतः वर्तमानसमयमें अनंत भावि-पर्यायोंके क्रमको जाननेका उपाय भी ऐसी स्थितिमें उपलब्ध नहीं है। अतः विद्यमान आगमके उपदेशके अनुसार एक द्रव्यकी या एक गुणकी पर्यायें क्रमसे होती हैं और एक द्रव्यके अनेक गुण अपनी अपनी पर्यायके रूपसे एकसाथ परिणत होते हैं इस आगमके उपदेशको मानना ही चाहिये। कानजीभाई सर्वज्ञ न होनेसे उनका कथन ऐकान्तिक होनेसे और आगम और युक्तिके द्वारा तथा प्रतीतिके द्वारा सिद्ध न होनेसे प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता है।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– **प्रश्न**– जानते हैं का क्या तात्पर्य है? **उत्तर**– यही कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय भविष्यमें जिस समय जैसी होनी है उसे सर्वज्ञ अभी जानते हैं। अतः जो भावी पर्यायें सर्वज्ञके ज्ञानमें जैसी आई हैं वे वैसी ही होंगी, उनमें कोई फेरफार संभव नहीं है।"

सर्वज्ञके ज्ञानमें क्रमभावी पर्याय भी प्रतिभासित होती है और अक्रमभावी–युगपद्भावी भी पर्यायें प्रतिभासित होती हैं इसमें संदेह नहीं। परंतु सर्वज्ञका इस समय सद्भाव नहीं है। अतः जो पर्यायों का क्रम सर्वज्ञ के द्वारा जाना गया होता है वह पर्यायक्रम हमारे द्वारा कैसे जाना जा सकता है? एकगुणकी और एक द्रव्यकी पर्यायोंका प्रवाह अन्तर्नीतक्रम होता है और एक द्रव्यके प्रदेशोंका स्वस्थानस्थितिका क्रम द्रव्यके विष्कम्भमें अन्तर्भूत होता है यह आगमसे जाना जाता है। कानजीभाई विद्यमान आगमकी श्रद्धा नहीं करते–आगमपर विश्वास नहीं करते तब वे सर्वज्ञ वचनों का भी विश्वास नहीं करते है यह स्पष्ट

हो जाता है। वे जब पर्यायों की अक्रमविवर्तितापर श्रद्धान नहीं करते तब वे आप्तोपदिष्ट आगमपर विश्वास नहीं करते और जब वे आगमश्रद्धाविहीन हैं तब वे सर्वज्ञश्रद्धाविहीन हैं। इसीकारण उनका क्रमबद्धपर्यायविषयक प्रतिपादन आगमविरुद्ध होनेसे ग्राह्य और श्रद्धेय नहीं हो सकता है। अपने इस युक्ति, प्रतीति और आगमके विरुद्ध प्रतिपादनके विषयमें लोगोंका विश्वास जमानेके लिए अपनेको सीमंधर भगवान के समवसर-णमें से आये हुएको सिद्ध करनेका और जातिस्मरणकी सिद्धि करनेका प्रयत्न भी उन्होंने किया है। उन्होंने आगे कहा है कि-
" केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अर्हन्त का निर्णय ' प्रवचनसार गाथा ८० में आता है कि जो अर्हन्त भगवान को द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है उसका मोह नाश होता है। हमें त्रेसठ वर्ष पहिले यही भाव आया था। शब्द ख्यालमें नहीं थे, वाचन भी नहीं था, पर भाव यही ख्यालमें आया था। " इस कथनके द्वारा उन्होंने अपने ऐकान्तिक और असंभाव्य प्रतिपादनपर विश्वास जमाने का प्रयत्न किया है यह स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः उपरितन उत्तर देते हुए इस प्रति-पादनकी जरूरत ही नहीं थी। " हमे त्रेसठ · · · " इत्यादि प्रतिपादन के द्वारा ' हमने सर्वज्ञको द्रव्य-गुण-पर्यायरूपसे अच्छीतरहसे जाना है। ' अतः ' हम क्षीणमोह हैं और क्षीण-मोह होनेसे हमने क्रमबद्धपर्यायके विषयमे जो प्रतिपादन किया है वह निर्दोष होनेसे लोगों के विश्वासके पात्र है ' यह कथन इसप्रकार अपने असंभाव्य और ऐकान्तिक प्रतिपादन पर लोगोंका विश्वास जमानेके लिए कानजी भाईने किया है।

पृष्ठ १२५ में लिखा है कि– " परिणाममें अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें, यह पुरुषार्थ अपूर्व है । "

यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान अपरिणामी होते हैं क्या ? स्वभावपर्यायों के रूपसे उनका परिणमन होता ही नहीं क्या ? यदि भगवान अपरिणामी है तो सांख्यों के पुरुषके समान भगवान को कूटस्थ नित्य मानना होगा। कूटस्थताके कारण अर्थक्रिया का अभाव होनेसे भगवान का ही अभाव हो जायगा। कानजीभाईका प्रतिपादन अविचारितरमणीय ही होता है।

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– " केवली भगवान निश्चयसे तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो व्यवहारसे जानते हैं, ऐसा नियमसारमें कहा है। और समयसारमें व्यवहारको झूठा कहा है। झूठा अर्थात् असत्यार्थ · · · · इसका अर्थ क्या ? " **उत्तर**– व्यवहार है हि नहीं– ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यव–हार जानने लायक है ऐसा १२ वी गाथा में कहा है। वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वथा झूठा नहीं हैं उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। प्रवचनसार की टीकामें पांडे हेमराजजीने कहा है कि व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है, अभाव करके असत्य नहीं कहा है। " व्यवहारनय सर्वथा झूठा अर्थात् अभूतार्थ नहीं होता, वह कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ भी होता है। कमलिनीपत्रका स्वभाव जलास्पृश्यत्व होता है। वह जब जलमें डूबा हुआ होता है तब वह जलस्पृष्ट होता है। यह जलस्पृष्टत्व कमलिनीपत्रकी वर्तमानपर्यायकी अपेक्षा अशुद्ध होनेपर भी कथंचित् भूतार्थ है; क्यों कि उसकी जलस्पृष्टावस्था कथंचित् भूतार्थ है। वही कमलिनीपत्रकी जलस्पृष्टता कमलिनी-

पत्रके जलास्पृश्यस्वभाव की अपेक्षा अभूतार्थ है; क्यों कि वह उस पत्रका स्वभाव जिसप्रकार उस पत्रमें पाया जाता है उसप्रकार वह जलस्पृष्टता उसमें पाया न जानेसे विसंवादिनी होनेके कारण अभूतार्थ है। अतः व्यवहारनयका प्रतिपाद्य कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ होता है– झूठा होता है। यदि इस व्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ माना तो जीवकी अशुद्ध अवस्थाका ज्ञान होगा ही नहीं और इस अज्ञानके कारण जीवकी अशुद्धावस्थाके ज्ञानका ज्ञान न होनेसे उसका नाश करना असंभव हो जायगा अर्थात् मोक्षमार्ग ही बंद हो जायगा।

पृष्ठ १२६ में लिखा है कि – " **प्रश्न**– तो क्या केवली परको जानते नहीं ? **उत्तर**– कौन कहता है ? जानते तो वे सभी पदार्थ हैं। **प्रश्न**– फिर उनके परके जानने को व्यवहार क्यों कहा ? **उत्तर**– पर हैं इसलिए तथा तन्मय होकर नहीं जानते इसलिए भी। " अनुभूतिके द्वारा और अनुभूतिके विना ज्ञानके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं। जब बाहृय ज्ञेय साक्षात् अनुभूतिके द्वारा नहीं जाना जाता, प्रतिबिंबित ज्ञेयाकारजन्य ज्ञानपर्यायके अनुभवके द्वारा जाना जाता है तब वह जाननेकी क्रिया व्यवहारनयाश्रित होती है और जब ज्ञाताका ज्ञेयभूत आत्मा साक्षात् अनुभूतिके द्वारा जाना जाता है तब वह अपने आत्माको जानने की क्रिया निश्चयनयाश्रित होती है। केवली आत्मा बाहृय ज्ञेयोंको ज्ञेयाकारपरिणतज्ञानकी पर्याय की अनुभूतिके द्वारा जानता है तब वह उसकी जाननेकी क्रिया व्यवहारनयाश्रित होनेसे केवली भगवान सभी बाहृय ज्ञेयों को व्यवहारनयसे जानते हैं ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार जाने गए

बाह्य ज्ञेयोंका ज्ञान व्यवहारनयाश्रित होनेसे मिथ्या नहीं होता; क्यों कि वह विसंवादि नहीं होता; अन्यून, अनतिरिक्त याथा-तथ्य संदेहरहित और संदेहसहित होता है।

" प्रश्न- जब हमारे करनेसे कुछ होता ही नहीं तो फिर कोई कार्य क्यों करेगा ? जब कोई बनाएगा नहीं तो पंडाल कैसे बनेगा ? कारखाने कैसे चलेंगे ? सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाएगी। उत्तर- कौन पंडाल बनाता है, कौन कारखाने चलाता है ? अज्ञानी पंडाल बनाने और कारखाने चलानेका अभिमान करते हैं-यह बात सही है, पर बनाता या चलाता कोई किसीको नहीं। जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त अभाव है तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें क्या कर सकता है ? अत्यन्त का अर्थ क्या ? यही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको छूता भी नहीं है। छुए तो अभाव नहीं रहे।"

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि- " प्रश्न- क्रमबद्ध मान-नेसे सब गड़बड़ हो जाता है ? उत्तर- गड़बड़ तो क्रमबद्ध नहीं माननेसे होता है। क्रमबद्ध माननेसे तो सब गड़बड़ उड़ जाती है। वस्तुमें तो कहीं गड़बड़ है नहीं, वह तो पूर्ण व्यवस्थित है। अज्ञानी की मति ही गड़बड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धासे मति व्यवस्थित हो जाती है।"

पर्यायोंके क्रमका-पौर्वापर्यका नियामक कर्म होता है। इस पर्यायोंके क्रमको कर्मनियमित न मानना आगमविरोध करना है और विना नियामक के उसको (पर्यायों के क्रमको) निय-मित मानना अहेतुक नियतिवादका समर्थन करना है। सह-

कारिकारणकी सर्वथा अकिंचित्करताके अर्थात् अभावके कारण जब पर्यायोंकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती तब उनका क्रम भी नहीं बन सकता। इसप्रकार क्रमबद्धपर्यायका ही जब अभाव है तब उसको न माननेसे गड़बड़ हो जाती है और माननेसे गड़-बड़ उड़ जाती है यह कथन कथनमात्र है, अविचारितरम्य है। इसीप्रकार 'अज्ञानी की मति ही गड़बड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धासे मति व्यवस्थित हो जाती है' यह कथन भी व्यर्थ है-अर्थशून्य है। पंडाल बनवाना या कारखाने चलाना क्रियारूप हैं। क्रिया का कर्ता तो होना ही चाहिये, क्यों कि विना कर्ताके क्रिया नहीं हो सकती और क्रियाके अभावमें कर्ताका अस्तित्व नहीं बन सकता। इस क्रियारूप कर्मका-पर्यायका उपादानकर्ता मनुष्य है और पंडाल बनानेकी या कारखाने चलानेकी सामग्री सहकारिसामग्री है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य पंडाल बनाते हैं और कारखाने चलाते हैं। इस बातको सभी लोग जानते हैं। इस प्रतीतिसिद्ध बातका कानजीभाईके समान विद्वन्मन्य ही विरोध कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि पंडाल कार्य है, सामग्री उपादान है और मनुष्य सहकारिकारण है। अतः पंडाल बनाने की या कारखाने चलाने की बात निमित्तप्रधान है। जब कानजीभाई निमित्तको सर्वथा उडा दे रहे हैं तब सहकारिकारणभूत मनुष्यों के अभावमें पंडाल बनते रहेंगे और कारखाने चलते रहेंगे। क्या किसीने ऐसी प्रक्रिया देखी है? यूं तो पंडलका बनना और कारखानोंका चलना स्वाभाविकक्रियारूप सिद्ध हो जायगा। पंडालोंका बनना और कारखानोंका चलना ये क्रियारूप पर्यायें मनुष्यशरीररूप उपादानमें उत्पन्न नहीं होती। उन पर्यायोंकी उत्पत्तीमें मनुष्योंके

योगोपयोग ही सहकारिकारण ही होते हैं। परपर्यायोंकी उत्प-त्तिमें उनके उपादानमें सहकारिकारणभूत द्रव्यका अत्यन्त अभाव होता है और उपादानमें निमित्तभूत द्रव्यको अपने स्वभाव का त्याग करके आवश्यकता भी नहीं होती। द्विक्रियावाद का भयरूप दोष बताना यह कानजीभाई की मिथ्या कल्पना है। वस्तुतः इसप्रकार दोष उत्पन्न होता ही नहीं। यदि मनुष्य पंडाल बनाते नहीं और कारखाने चलाते नहीं तो क्या पंडाल अपने आप बनते हैं और कारखाने अपने आप चलते है? वस्तुतः पंडाल अपने आप बनते है और कारखाने अपने आप चलते है ऐसा जो कहते है वे प्रत्यक्षसिद्ध बातका विरोध करने-वाले होनेसे दर्शनमोहाक्रान्त होनेसे महामिथ्यात्वी होते हैं। हमने पंडाल बनाया है और हमने कारखाना चलाया है ऐसा जो कहते है वे सत्यवक्ता होनेसे अज्ञानी नहीं है-मिथ्याभाषी नहीं हैं। 'बनाना या चलाना कोई किसी को नहीं' ऐसा कहना मिथ्यात्वका प्रचार करना है।

इसी पृष्ठमें लिखा है कि- **प्रश्न**- "यदि आप ऐसा उप-देश देंगे तो लोग आलसी हो जाएंगे। जब उसके करनेसे कुछ होता ही नहीं तो कोई पुरुषार्थ क्यों करेगा?" **उत्तर**- क्रमबद्ध-पर्यायके निर्णयमें ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्यों कि क्रमबद्ध का निर्णय करनेमें ज्ञायकस्वभावपर दृष्टि जाती है। जिसप्रकार ज्ञायक में भव नहीं, उसीप्रकार क्रमबद्धके निर्णय करने वाले को भी भव नहीं होते, एक दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञेय तरीकेसे रहते है। अपनी मतिमें क्रमबद्ध की व्यवस्था को व्यवस्थित करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।" प्राश्निकका अभिप्राय यह है

कि इस अहेतुक नियतिवादके कारण लोग आलसी हो जाएंगे। जब पुरुषके करनेसे कुछ होता ही नहीं तो वह पुरुषार्थ क्यों करेगा ? कुछ करो या न करो जब कार्य हो ही जाता है तब अहेतुक नियतिवाद की ही सिद्धि हो जाती है। जब कुछ भी न करनेपर साध्य की सिद्धि हो जाती है तब पुरुषार्थ की व्यर्थता की सिद्धि हो जाती है। ऐसी स्थितिमें पुरुषार्थ की बातें करना मायाचार है। पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्न है। पुरुषार्थको अनंत कहना वस्तुस्थितिका अपलाप करना है। प्राश्निकने 'क्रमबद्ध-पर्यायके निर्णयमें पुरुषार्थ क्या सच्चा है या झूठा है ?' ऐसा प्रश्न किया ही नहीं है। प्रश्न एक और उत्तर दूसरा अर्थात् असंबद्ध। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कानजीभाईके पास उसका उत्तर नहीं है। मान लीजिए कि क्रमबद्धपर्यायके निर्णय में ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्या इस सच्चे पुरुषार्थसे लोकव्यवहार चल सकता है ? 'क्रमबद्धका निर्णय करनेवाले को भी भव नहीं होते, एक दो भव रहते हैं वे भी ज्ञेयके तरीकेसे' इस कथनके द्वारा कानजीभाईने क्रमबद्धके निर्णयको क्षायिकसम्यक्त्वके समान बतानेका प्रयत्न किया है। क्या क्षायिकसम्यक्त्वके समान क्रम-बद्ध का निर्णय करनेवाला जीव तद्भवमोक्षगामी हो सकता है या एक-दो भवोंमें मोक्षकी प्राप्ति कर ले सकता है ? क्या इस अभिप्रायका समर्थन सिद्धान्तशास्त्रमें मिलता है ? क्या क्षायिक-सम्यक्त्वके समान क्रमबद्धका निर्णय भी कार्यकारी है ? सिद्धान्त-पारंगत विद्वान इस विषयपर अपने विचार सप्रमाण व्यक्त करेंगे क्या ? क्या यह उपदेश आगमके विरुद्ध नहीं है ?

क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें सच्चा पुरुषार्थ कैसे होता है-इसका खुलासा कैसे ? इस क्रमबद्ध का उपदेश देकर कानजीभा-

ईने रत्नत्रयरूप मोक्षप्राप्तिके उपायको भी उडा दिया है। क्रमबद्धपर्यायके निर्णयसे जीवको एक-दो भवों में मोक्षकी प्राप्ति होना बता कर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को ठुकरा दिया है। क्या इसीका नाम जैनत्व है? रत्नत्रयरूपसे परिणत होनेपर जीवकी दृष्टि ज्ञायकस्वभाव पर नहीं जाती क्या? करमबद्धपर्यायके निर्णयमे ही जीवकी ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि जाती है क्या? करमबद्धके प्रचारक होनेसे करमबद्धपर्यायका निर्णय करनेपर कानजीभाईके एक-दो भव ही रहे होंगे। श्री खीमजीभाई के मन्तव्यके अनुसार इस पंचमकालमे भी जसलोकमें ही मोक्षकी प्राप्ति हो गई होगी।

पृष्ठ १२७ मे लिखा है कि- " प्रश्न- पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थकी पर्याय तो जब उसके प्रकट होनेका काल आएगा तभी प्रकट होगा- ऐसी स्थितिमें अब करनेको क्या रह गया? " उत्तर- व्यवस्थित पर्याय है- ऐसा जाना कहाँ से? व्यवस्थित पर्याय द्रव्यमें है, तब तो द्रव्यके ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्यायके क्रमके ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिनमें से प्रकट होती है- ऐसे द्रव्यसामान्यके ऊपर ही दृष्टि करनी है; क्यों कि उसपर दृष्टि करनेमें अनन्त पुरुपार्थ आ जाता है। क्रमबद्धके सिद्धान्तसे अकर्तापना सिद्ध होता है, क्रमके समक्ष देखना नहीं। " 'पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है' इसका 'पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रकट होनेका काल आएगा तभी प्रकट होगा' यह अर्थ स्वयं प्राश्निकने प्रकट किया है। अतः 'ऐसी स्थितिमें' अब करनेको क्या रह गया? इस प्राश्निक के प्रश्नका अर्थ 'वर्तमानमें पुरुषार्थकी

पर्याय जब उत्पन्न हुई नहीं है तब इस समय पुरुषार्थका अभाव ही सिद्ध होता है। पुरुषार्थकी पर्यायकी उत्पत्ति होनेतक जीव पुरुषार्थहीन ही बना रहेगा। इसपर कानजीभाई प्रतिप्रश्न उठाते हैं कि 'व्यवस्थित पर्याय है–ऐसा जाना कहाँ से ? इसका उत्तर 'कानजीभाईके उपदेशसे जाना' ऐसा है। इस प्रतिप्रश्नके बाद श्री कानजीभाईने कहा है कि 'व्यवस्थित पर्याय द्रव्यमें है, तब तो द्रव्यके ऊपर ही दृष्टि करनी है।' इसपर कहना यह है कि यदि 'व्यवस्थित पर्याय द्रव्यमें है' तो इसका अर्थ पर्याय उत्पन्न हुई नहीं है, द्रव्यमें शक्तिरूपसे विद्यमान है– सत् है। अनुत्पन्न पर्याय कार्यकारिणी नहीं होती। पर्याय अनुत्पन्न होनेसे पुरुषा–र्थका अभाव ही होता है। पुरुषार्थका अभाव होनेसे जीव कार्य–कर्ता कभी नहीं हो सकता। पुरुषार्थकी पर्याय वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके कारण आगमके अनुसार क्षायोपशमिक ज्ञान जिसप्रकार उत्पन्न हुआ होता है उस प्रकार उत्पन्न हुआ ही होता है। अतः पुरुषार्थकी व्यवस्थित पर्याय द्रव्यमें होती है यह कथन आगमविरुद्ध और मनमाना है। लौकिक कार्यकी उत्पत्तिमें जीव पुरुषार्थहीन बन जानेसे कार्यकी उत्पत्ति करनेमें जीवके पुरुषार्थ का अभाव हो जायगा और कार्य की उत्पत्ति होना रुक जायगा यह प्राश्निक के प्रश्नका भाव है। कानजीभाइने इस प्रश्नका उत्तर देना टाल दिया है। पर्याय परसे दृष्टि हटनेपर द्रव्यके ऊपर जाती है यह एक अपेक्षासे ठीक होनेपर भी प्राश्निक के प्रश्नका यह उत्तर नहीं हो सकता। विभावव्यंजनपर्यायें द्रव्यमें ही व्यवस्थित रहती हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होती तब ही आत्मस्वरूप पर दृष्टि जाती है और वीतराग बना हुआ जीव अपने शुद्ध आत्माका अनुभव कर सकता है। यहाँपर यह शंका

उपस्थित होती है कि कानजीभाई पर्यायशब्दसे क्षणिक अर्थ-पर्यायका ही ग्रहण करते हैं, व्यंजनपर्याय का नहीं। ये सूक्ष्मपर्यायें भी आत्मानुभूतिके समयमें द्रव्य में ही व्यवस्थित रहती है क्या? यदि द्रव्यमें ही व्यवस्थित रहती हो तो अन्तर्मुहूर्त कालतक आत्मद्रव्य पर्यायरहित बना रहता है ऐसा मानने का प्रसंग खड़ा हो जायगा और आत्मद्रव्यके परिणत होता रहनेके स्वभावका अभाव हो जायगा। स्वभावके अभावमें द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ दूसरा ही। 'पर्यायके क्रमके ऊपर अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है' इस वाक्य पर बिचार करना है। यदि द्रव्यसामान्यपर दृष्टि करनेके लिए पर्यायों के ऊपर दृष्टि नहीं करनी चाहिये तो उसकी क्रमबद्धताकी सिद्धि करने की जरूरत ही क्या थी? क्या वह अव्यापारेषु व्यापार नही है? पर्यायपरसे दृष्टि हटाकर द्रव्यसामान्यके ऊपर दृष्टि करनी है ऐसा कहना अनुचित है। 'आत्मसामान्यपर दृष्टि करनेमें अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है' यह कथन भी असम्भाव्य बातको सम्भाव्य बनाने का कुपुरुषार्थ है। अनन्तवीर्यके विना अनन्त पुरुषार्थ बन ही नही सकता। प्रकरण तो छद्मस्थ का चल रहा है। छद्मस्थके जब अनन्तवीर्य का अभाव है तब उसके अनंत पुरुषार्थका भी अभाव है। अतः यह कथन 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इस उक्तिके समान है। 'क्रमबद्धकें सिद्धान्तसे अकर्तापना सिद्ध होता है, · · नहीं' इस वचन पर भी विचार करना चाहिये। जो परिणत होता है वह कर्ता होता है। क्रमबद्धपर्यायमें जीवके अकर्तृत्वकी सिद्धि होनेसे उसकी अपरिणामिताकी सिद्धि हो जाती है। जीवकी अपरिणामिता बन ही नहीं सकती,

क्यों कि वह परिणमनस्वभाववाला है। स्वभाव का नाश होना असंभव है; क्यों कि उसके कारण स्वभाववान का भी नाश होता है।

आगे इसी पृष्ठमें लिखा है कि– " प्रश्न– क्रमबद्धमें करने के लिए क्या आया ? उत्तर– करना है कहाँ ? करनेमें तो कर्तृत्व–बुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाय यह क्रमबद्ध है। क्रम–बद्ध में कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं, अपने में भी जो होनेवाला है वही होता है अर्थात् अपनेमे भी जो राग होना है वह होता है, उसका क्या करना ? राग में भी कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय मे भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्धकी प्रतीतिमें तो ज्ञातादृष्टा हो गया; निर्मल पर्याय करूँ–ऐसी बुद्धि भी छूट गयी, राग को करूँ–यह बात तो दूर रह गयी। अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्तृत्वबुद्धि भी छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, रागमें अटकना है, उसे क्रमबुद्धिकी बात जमी ही नहीं। राग को करना और राग को छोडना–यह भी आत्मामें नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है। पर की पर्याय तो होने वाली है वह तो होती ही है उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्ध पर्याय आए उसको करूँ–लाऊँ–ऐसे विकल्पसे भी क्या ? अपनी पर्यायमें होनेवाली शुद्ध पर्याय उसको करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्ध पर्यायके कर्तृत्व का विकल्प शुद्ध स्वभावमें है ही नहीं। अकर्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।"

प्रश्नके उत्तरमें 'क्रमबद्धमें कर्तृत्व बुद्धि छूट जाती है' ऐसा वाक्य है। 'क्रमसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें निमित्त के और पुरुषार्थ के अभावमें जिसप्रकार अपने आप उत्पन्न होती हैं उसप्रकार सभी पर्यायें अपने आप उत्पन्न होती हैं ऐसे विचारके विना कर्तृत्वबुद्धि छूट नहीं सकती' ऐसा इस वाक्यका अर्थ है। इसका अर्थ 'अहेतुक नियतिवाद के विना कर्तृत्वबुद्धि छूट नहीं सकती' ऐसा होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि अरहंत भगवान को जाननेसे रागादि विभावपर्यायों के रूपसे परिणत नहीं होना चाहिये ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो ही नहीं सकती क्या? 'जो जाणदि अरहंतं .... मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥' इस वचन से रागादिभावों के विषयमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं घटती क्या? कर्तृत्वबुद्धि न छूटी तो जीव के मोहका नाश कैसे होगा? सारांश, 'क्रमबद्धमें कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है' यह कानजीभाईकी कल्पना निर्मूल, अत एव मनोनीत है।

क्रमबद्धमें यदि कुछ करना नहीं है इसका अर्थ 'रागादिभावोंका अभाव करनेके लिए और कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए महाव्रतके पालन की अर्थात् संयमपालनकी आवश्यकता नहीं है' ऐसा है यह स्पष्ट हो जाता है। इस अभिप्रायसे 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वं आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्। ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने॥' इस श्लोकद्वारा ध्वनित अभिप्रायका और मूलाचारादि आगमग्रंथों का सक्त विरोध किया जा रहा है। इस कानजीभाईके कथनसे धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का भी विरोध हो जाता है; क्यों कि ये दोनों ध्यान करने पडते हैं। यहां भी

कर्तृत्वबुद्धि नहीं हटती। ज्ञान और दृष्टा क्रमसे जाननेकी क्रियाका और अनुभवन क्रियाका अधिकरण होनेपर भी कर्ता नहीं होता क्या ? जो परिणत होता है वह कर्ता होता है। क्या ज्ञाता-दृष्टा परिणमनहीन होता है ? क्या वह कूटस्थनित्य होता है ? विना कर्मक्षय किये मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है क्या ? कानजीभाईने जो मिथ्या एकान्त का उपदेश किया क्या वह कर्तृत्वबुद्धिके अभावमें किया ? 'अपने मे भी जो होनेवाला होता है वही होता है' यह वाक्य भी अहेतुक नियतिवादकी सिद्धि करनेवाला है। क्रमबद्ध के निर्णयसे रागमें कर्तृत्वबुद्धि हट जाती हो तो क्रमबद्धके निर्णायक होने से कानजीभाईकी वीत-रागताकी और सर्वज्ञता की सिद्धि हो जाती है। क्रमबद्धमे भेदसे दृष्टि हट जाती हो तो भेदज्ञानसे भी दृष्टि हट जायगी और आत्मा और शरीरमें होनेवाला भेद का ज्ञान हट जायगा।

पृष्ठ १२८ में लिखा है कि- "प्रश्नः- क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर आप सिद्ध क्या करना चाहते हैं ? उत्तरः- क्रम-बद्ध के सिद्धान्तसे मूल तो अकर्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा परद्रव्यका कर्ता है ही नहीं, रागका भी कर्ता नहीं, और पर्यायका भी कर्ता नहीं। पर्याय अपने ही षट्कारकसे स्वतंत्ररूपेण जो होनेयोग्य है वही होती है; परंतु इस क्रमबद्धका निर्णय पर्यायके लक्षमें नहीं होता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने जाए तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायक धातुके ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जाननेवाली जो पर्याय प्रकट होती है वह क्रमबद्धपर्यायको जानती है। क्रमबद्धपर्यायका निर्णय स्वभाव-सन्मुखवाले अनन्तपुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्धपर्याय के

निर्णयका तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्यायमें तभी प्रकट होती है जब वीतराग स्वभावके ऊपर दृष्टि जाती है। समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान बंध-मोक्षका कर्ता नही है, किन्तु जानता ही है। आहा हा ! मोक्षको ज्ञान जानता है-ऐसा कहा, मोक्षको करता है- ऐसा नहीं कहा। अपने मे होनेवाली क्रमसर पर्याय का कर्ता है-ऐसा नहीं; किन्तु जानता है ऐसा कहा; गजब बात है।"

क्रमबद्धपर्यायके सद्भाव की सिद्धि न होनेसे उससे अकर्तापना कि सिद्धि नहीं होती। चारित्रके पालनसे रागभावके कर्तापनका अभाव होता है। 'रागादेर्विनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' इस सामन्तभद्रीय वचनसे रागभावके कर्तापनाका अभाव-चारित्रके-संयमके पालनसे होना है यह भाव व्यक्त होता है। क्रमबद्धके सिद्धान्तमे अकर्तापना सिद्ध होता है ऐसा आगम वचन मिलता ही नहीं है। अतः कानजीभाईके द्वारा निर्मित किया गया यह अपसिद्धान्त है। जैनदर्शन अकर्तावादी है इसका अर्थ 'जगत् का कर्ता ईश्वर है' इस मन्तव्यका विरोधक है, वह आत्माके कर्तृत्वका विरोधक है ऐसा नहीं है। जैनदर्शन द्रव्यको परिणामिनित्य मानता है। जब वह परिणामी है तब वह परिणमन-क्रियाका उपादानकर्ता होता ही है यह सिद्ध हो जाता है। द्रव्यका परिणामित्व द्रव्यके उपादानकर्तृत्वके अभावमें बन सकता है क्या ? 'यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत् कर्म' इस वचनसे द्रव्यका कर्तापन सिद्ध हो जाता है। आगममें सामान्यतः कर्तृत्वका निषेध नहीं किया गया है। आत्माकी अशुद्ध अवस्थामें किये जानेवाले अशुद्ध पर्यायके-विभावपर्यायके

कर्तृत्वका निषेध किया गया है, शुद्धपर्यायोंका कर्ता होनेका निषेध नहीं किया गया है। यदि सभी पर्यायोंके कर्तृत्वका निषेध किया गया होता तो केवलज्ञानित्वपर्याय का भी निषेध हो जाता इतना ही नहीं अपि तु कानजीभाईकी उपदेशादिक्रियारूप पर्यायोंका भी अभाव हो जाता। इस कर्तृत्वके निषेधका यह अर्थ नही है कि द्रव्य अपने व्यंजनपर्यायका और अर्थपर्याय का उपादानकर्ता नहीं है। कानजीभाईप्रतिपादित इस अकर्तापन को माननेसे स्वाभ्युपगतसिद्धान्तहानिनामक दोष उत्पन्न होता है। इस अकर्तृवादमें 'चरमबद्धपर्याय' की भी सिद्धि नहीं होगी। यद्यपि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्मा विभावभावों का कर्ता नहीं है तो भी अशुद्धावस्थ आत्मा भी विभावभावोंका कर्ता नहीं है ऐसा नहीं है। अतः आत्मा सर्वथा अकर्ता होना है ऐसी जैनदर्शनकी मान्यता नहीं है। आत्मा रागका भी कर्ता नहीं यह कथन मिथ्यैकान्तरूप है। आत्मा पर्यायका कर्ता नहीं है इस मन्तव्यसे आत्माकी कूटस्थनित्यताकी सिद्धि हो जायगी। क्या आत्माकी कूटस्थनित्यता आगमसम्मत और युक्तिसिद्ध है? क्या आत्मा अपनी पर्यायके रूपसे परिणत नहीं होता? यदि परिणत होता है ऐसा कहना है तो 'यः परिणमति स कर्ता' इस वचनके अनुसार आत्मा पर्यायका कर्ता-उपादानकर्ता नहीं है क्या? यदि आत्मा पर्यायका कर्ता नहीं है तो पर्यायका सद्भाव बन नहीं सकता। पर्यायों के अभावमें उनकी क्रमबद्ध-ताकी बात भी उड जाती है। द्रव्यके उपादानकर्तृत्वके अभावमें उसकी पर्याय उत्पन्न हो सकती है क्या? पर्याय ही कर्ता, वही पर्याय ही कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कैसे हो सकती है? पर्याय यदि उपादानकर्ता है तो उसका कर्म-परिणाम-

कार्य पर्याय–उपादेय कौनसा ? पर्याय यदि पर्यायका उपादानकर्ता नहीं है तो कर्तृभूत पर्यायकी पर्याय के भी उपादान कर्ताका अभाव क्यों नही ? इसप्रकार पर्यायों की परंपरा दूरतक जायगी। यदि पर्याय अन्यपर्यायके रूपसे परिणत हो तो विन–श्वर पर्याय ध्रुव कैसे बन सकेगी ? यदि पर्याय ध्रुव होती हो तो उसका उत्पन्नप्रध्वंसित्व नष्ट हो जानेसे पर्यायत्व ही नष्ट हो जाता है। अतः पर्यायका षट्कारकत्व बनता ही नहीं। जब पर्याय का षट्कारकत्व बनता ही नहीं तब 'स्वतंत्ररूपेण अर्थात् उपादानकर्ताके रूपसे जो होनेयोग्य है वही होता है' यह कथन भी बनता नहीं। षट्कारकोंमें जो स्वतंत्र होता है वही कर्ता होता है। 'स्वतंत्रः कर्ता' इस सूत्रके अनुसार आगेका सब कथन भी कल्पनामात्ररम्य है। षट्कारकोंके व्यवहारषट्–कारकी और निश्चयषट्कारकी इसप्रकार दो भेद हैं। जब एक ही द्रव्य कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण के रूपसे परिणत होता है तब निश्चय षट्कारकी बनती है–होती है। द्रव्यकी परिणामी और परिणाम इन अवस्थाओंमें–पर्यायों में उपादानोपादेयरूप कार्यकारणभाव होनेसे पौर्वापर्य सिद्ध होता है। कानजीभाई की दृष्टिमें पर्याय क्षणमात्रकालस्थायी होती है। क्षणमात्रकालस्थायी होनेसे वह उत्तर पर्यायकी उपादान कारण नही हो सकती; कारण उपादानभूत द्रव्य ही पूर्वोत्तरपर्यायोंका उत्पादव्यय होते समय ध्रुव होता है। जब पर्याय क्षणमात्रकाल-वर्ती होनेसे ध्रुव नही हो सकती तब षट्कारकी की बात करना व्यर्थ है।

'क्रमबद्धपर्यायके निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है···' इत्यादी पर अब विचार किया जाता है। यहां ऐसा प्रश्न उठता है कि

रागादिभावों के अभाव का कारण क्रमबद्धपर्याय होती है क्या ? रागादिभावोंका अभाव संयमके पालनसे होता है ऐसा आगमका वचन है। रागादिभावोंका अभाव करनेके लिए तीर्थंकरोंने संयमका पालन किया था। बाह्य तपके आचरणसे अभ्यंतरतपकी सिद्धि होती है। रागादिभावोंका अभाव क्रमबद्धपर्यायके निर्णयसे होता है यह कानजीभाईकी कल्पना कपोलकल्पित है। आगम इस कपोलकल्पित कल्पनाका समर्थन करनेवाला नहीं है। ऐसी इस कल्पनाका समर्थन लेखकमहाशय ही कर सकते हैं। आत्माके वीतरागस्वरूप पर जीव की दृष्टि सम्यक्त्वी हो जानेपर ही जाती है। वीतरागस्वरूपपर दृष्टि न जाती तो भेदज्ञान ही होना असंभव हो जाता। भेदज्ञानका प्रादुर्भाव होनेपर ही जीव रागादिभावोंका अभाव करनेके लिए संयमपालनरूप पुरुषार्थमें निमग्न हो जाता है। 'समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान बंध–मोक्षका कर्ता नहीं है. किन्तु जानता ही है।' ऐसा जो कहा है उस विषयमें पहले देवागमस्तोत्रकी एक कारिका पेश करता हूँ। देखिये– 'अज्ञानान्मोहिनो बन्धः नाज्ञानाद्वीत–मोहतः। ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ।।' अर्थ– मोहयुक्त अज्ञानसे बंध होता है, जिस अल्पज्ञानमें मोहका अभाव होता है उससे बंध नहीं होता। जिस अल्पज्ञानमें मोह नहीं होता उस अल्पज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति है। जिस अल्पज्ञानमें मोह होता है उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, बंध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि निर्मोह अल्पज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और जो समोह होता है उससे बंध होता है अर्थात् ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोहयुक्त अल्पज्ञानसे यदि बंध नहीं होता तो बंध किससे होता है ? मोहके अभावमें भी बंध

होता हो तो निर्मोह ज्ञानसे बंध होता है क्या ? यदि निर्मोह अल्पज्ञानसे-क्षायोपशमिकभावरूप ज्ञानसे भी बंध होता हो तो-मोहरूप कारणके अभावमें भी बंध होता हो तो ज्ञानको भी बंधक मानना होगा और उसकी बंधकता के कारण जीवको सदाबद्ध माननेका अनिवार्य प्रसंग खड़ा हो जायगा। अतः कानजीभाईका उक्त कथन मिथ्या है-कपोलकल्पित है। अब समयसारकी गाथा ३२० पर विचार प्रस्तुत किया जाता है। इस गाथासे कानजी-भाईने जो 'ज्ञान बंधमोक्षका कर्ता नहीं है' यह निष्कर्ष निकाला है वह ठीक नहीं है। उक्त गाथाको आत्म-ख्यातिके साथ आगे पेश करता हूं। देखिये-

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेअ।
जाणइ य बंध मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेअ ॥३२०॥

यथा अत्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यन्तविभक्तत्वेन तत्करण-वेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्नि-दर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिण्डवत्स्वयमेवौ-ष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभा-वत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यन्तविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयो समर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च। किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्म-बन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।

अर्थ- दृष्टिके समान ज्ञान (कर्मका) कारक (कर्ता-उत्पादयिता) और (कर्मका) वेदक (भोक्ता) नहीं होता। वह बंध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जराको सिर्फ जानता है।

टीकार्थ– जिसप्रकार इस जगतमें दृष्टि दृश्य पदार्थसे अत्यंत भिन्न होनेके कारण दृश्य पदार्थकी उत्पत्ति करनेमें और उसका अनुभव करनेमें असमर्थ होनेके कारण दृश्य पदार्थकी उत्पत्ति नहीं करती और उसका अनुभव (भी) नहीं करती; क्योंकि यदि दृष्टि दृश्य पदार्थकी उत्पत्ति करती और उसका अनुभव (भी) करती तो जिसप्रकार इंधन स्वयं अग्निकी उत्पत्ति करता है और जिसप्रकार लोहपिंड उष्णताका अनुभवन करता है उसप्रकार दृष्टिके अग्निके दर्शनसे स्वयं अग्निकी उत्पत्ति करनेकी क्रिया और उष्णताका अनुभवन करनेकी क्रिया दुर्नि–वार हो जाती है; किंतु सिर्फ देखनामात्रस्वभाववाला होनेसे उन सभी दृश्यपदार्थोंको केवल ही देखता है; उसप्रकार ज्ञान भी स्वय दृष्टा होनेसे कर्मसे अत्यन्त भिन्न होनेसे निश्चयकी दृष्टिसे (द्रव्य-) कर्मका (उपादानकर्ता होकर) उत्पादन करनेमें और उसका अनुभवन करनेमें असमर्थ होनेके कारण कर्मकी न उत्पत्ति करता है और न उसका अनुभवन करता है; किंतु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होनेसे कर्मबंध को, मोक्षको, कर्मो–दय को और निर्जराको केवल जानता ही है ।

आचार्य अमृतचंद्रमहाराजकी इस आत्मख्यातिटीकामें एक उदाहरण पेश किया गया है, जो कि निम्नप्रकार है । दृष्टि और दृश्य इनमें आत्यंतिक भेद होनेसे उनमें उपादान–उपादेयभावका अभाव होनेके कारण दृष्टि दृश्यकी उत्पादक नहीं होती और उत्पादक उपादानकारण न होनेसे वह दृश्यका अनुभवन भी नहीं कर सकती । इससे यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान और (द्रव्य- कर्म ये दोनों सर्वथा परस्पर भिन्न होनेसे उनमें

उपादान-उपादेयभाव का अभाव होनेके कारण ज्ञान (द्रव्य-) कर्मका उपादानकर्ता न होनेके कारण जिसप्रकार ज्ञान ज्ञेयाकारपरिणतज्ञानपर्यायका अनुभवन करता है उसप्रकार कर्मका अनुभवन करनेवाला नहीं होता। ज्ञान कर्मका उपादान कर्ता न होनेसे वह कर्मबंध को केवल जानता है। उसीप्रकार वह मोक्षको, कर्मको और निर्जराको भी जानता ही है। निश्चयनयकी दृष्टिसे ही वह ज्ञाता है, अनुभविता नहीं है। निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्ध ज्ञान भावकर्मका कर्ता न होनेसे द्रव्यकर्मका निमित्तकारण भी नहीं होता अर्थात् निमित्तकर्ता भी नहीं होता। निमित्तकर्ता न होनेसे कर्मबंध भी नहीं करता। कर्मबंधके अभावमें मोक्षको भी नहीं करता, कर्मोदय भी नहीं करता और निर्जरा भी नहीं करता। जब उसके बद्ध कर्मका अभाव होता है तब वह निर्जरा भी नहीं करता। निश्चयनयकी दृष्टिसे यह सब कथन ठीक है; किन्तु व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह कथन ठीक नही है। व्यवहारनयका विषय अशुद्ध आत्मा है। अशुद्ध आत्मा कर्मबंध करता है, कर्मबद्ध होनेसे वह मोक्ष भी करता है, कर्मोदयका भी कर्मबंधक होनेसे कर्ता होता है और बद्ध कर्म की निर्जरा भी करता है। व्यवहारनय कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ भी होता है। आत्माकी अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा जलमग्न कमलपत्रकी पर्यायके समान भूतार्थ होता है। यहां अशुद्ध आत्मासे अशुद्ध ज्ञानका ग्रहण अभीष्ट है। दूसरी बात यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे ज्ञान द्रव्यकर्मका निमित्त कर्ता भी नहीं होता; क्यों कि निर्मोह ज्ञान विभावभावरूपसे परिणत नहीं होता और विभावभावरूपसे परिणत न होनेसे वह कर्मास्रवण का और कर्मबंधका निमित्तकर्ता-निमित्तकारण नहीं होता। निमित्तकर्ता

न होनेसे ज्ञान कर्मका या कर्मफलका भोक्ता भी नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और कर्म परस्पर सर्वथा भिन्न होनेसे आत्मा द्रव्यकर्मका उपादानकर्ता नहीं होता और निश्चयनयकी दृष्टिसे निर्मोह होनेसे द्रव्यकर्मका निमित्तकर्ता भी न होनेसे आत्माकी अकर्तृताकी–अकर्तापनकी सिद्धि होती है; क्रमबद्धके सिद्धान्तसे उसकी अकर्तापनकी सिद्धि नहीं होती है। उक्त गाथा कानजीभाई के सिद्धान्तकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है; क्यों कि उसमें क्रमबद्ध के सिद्धान्तका उल्लेख भी नहीं है। उसके द्वारा जीवकी–आत्माकी अकर्तापन का कारण (निर्मोह) ज्ञान और कर्म (द्रव्यकर्म) इनमें होनेवाला सर्वथा भेद ही बताया गया है।

इसी पृ. १२८ में आगे लिखा है कि– " **प्रश्न**– जब कुछ करना ही नहीं है, तो फिर आप आत्माका अनुभव करनेका-ज्ञायक स्वभावके सन्मुख दृष्टि करनेका उपदेश क्यों देते हैं ? **उत्तर**– हम कहां देते है उपदेश ? वाणी तो जड है, अतः जड के कारण निकलती है। परमपूज्य अमृतचंद्राचार्य देव आत्मख्यातिके अन्तमें लिखते हैं कि टीका हमने लिखी है–ऐसा जानकर मोहमें मत नाचो। यह तो अक्षरो और शब्दोंकी परिणति है, हमारी नहीं। भाषा तो हमारी है ही नहीं, समझानेके विकल्प को भी ज्ञानी अपना नहीं मानता। हम तो पर को और विकल्प को भी मात्र जानते हैं और यह भी व्यवहारसे, निश्चयसे तो मात्र अपनेको जानते हैं।"

प्राश्निकका प्रश्न कानजीभाईको निरुत्तर करनेवाला है। उत्तरमें कानजीभाई कहते हैं कि 'हम कहां देते हैं उपदेश ?

वाणी तो जड़ है। अतः जड़के कारण निकलती है।' वाणी जड़ है और आत्मा चेतन है इसकारण शब्दात्मक उपदेश जड़का कार्य है, कानजीभाईकी आत्माका कार्य नहीं है। इसप्रकार जो उत्तर दिया गया है वह आपत्तिजनक है। तीर्थंकर भगवान की वाणि भी शब्दात्मक होनेसे जड़का कार्य होनेके कारण शब्दात्मक उपदेशका कर्तृत्व भगवानका नहीं होगा, जड़का होगा। इससे केवलीका और केवलीके ज्ञानका संबंध उपदेशके साथ नहीं रहेगा। दिव्यध्वनि जडोपादानक कार्य होनेसे उसकी उत्पत्तिमें भगवान सहकारिकारण है। यदि इस बातको प्रमाणभूत न माना तो शास्त्रोंकी प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी। शास्त्रोंकी आप्तोपज्ञताका परिहार हो जायगा। कानजीभाईकी दृष्टिमें निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे जड़की उपदेशकर्तृताकी सिद्धि हो जायगी अर्थात् अचेतन जड़ ही उपदेशका कर्ता सिद्ध हो जायगा। यदि दिव्यध्वनि जिनेन्द्रकर्तृक है तो आत्मानुभव करनेका और ज्ञायक स्वभावके सन्मुख दृष्टि करनेका उपदेश कानजीभाईने किया ही है इस बातको मानना ही पडेगा। यदि कानजीभाईका उक्त उपदेशका कारकत्व नहीं माना गया तो जिनेंद्र भगवानका दिव्यध्वनिका कारकत्व भी अमान्य करना होगा। शुद्ध अशरीर आत्मा उपदेश नहीं दे सकता और न केवल शरीर भी दे सकता है। इसका अर्थ सशरीर, छद्मस्थ और मोहाक्रान्त आत्मा भी नहीं दे सकता ऐसा नहीं है। कानजीभाई सशरीर, छद्मस्थ और मोहाक्रान्त आत्मा होनेसे अपना उपदेशकत्व नहीं टाल सकते। उत्तरदायित्व टालनेका उनका यह प्रयत्न है। अपराध मेरी आत्माने नहीं किया, मेरे इस शरीरने किया है ऐसा कहनेवाले अपराधीको सजा नहीं की

जाती क्या ? क्या उसके शरीर को कम्पित किया जाता है ? देहकम्पनसे आत्मा कम्पित नहीं होती क्या ? आचार्य अमृतचंद्रके अभिप्रायसे कानजीभाई अपना पिंड नहीं छुड़ा ले सकते। उनका कथन निश्चयनयकी दृष्टिसे ठीक है, वही दृष्टिसे कानजीभाईका कथन कथंचित् ठीक है। आचार्य अमृतचंद्र उभय-नयावलंबी हैं, जब कि कानजीभाई निश्चयैकान्तवादी हैं। सर्वथा एकान्तवाद मिथ्यात्वसे भिन्न नहीं होता। आचार्यमहा-राजका कथन उत्तररूप नहीं है। अपने मन्तव्यकी सिद्धि करनेके लिए व्यवहारका आश्रय ले रहे हैं। अतः उनका कथन अपनी निरुत्तरताका सूचक है। प्राश्निकका प्रश्न तो कानजीभाईके उपदेशके आश्रित है और उनके उपदेशका खंडन करनेवाला है। कानजीभाईने कहा है कि भाषा उनकी नहीं है। यदि भाषा उनकी नहीं है तो किसकी है ? यदि वह केवल शरीर की है तो दिवंगत आत्माका शरीर क्यों नहीं बोलता ? वस्तुतः शरीरकी सहकारितासे जीव ही बोलता है; क्यों कि भाषावर्गणाओंका निमित्त मिलनेपर जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पंद होता है उसके होनेपर ही भाषा उत्पन्न होती है। जब यह स्पष्ट है तब 'भाषा मेरी नहीं है' यह कानजीभाईका कथन मिथ्या है। अतः यह मिथ्या कथन प्राश्निकके उक्त प्रश्नका उत्तर नहीं हो सकता। आचार्य अमृतचंद्रके अभिप्रायको कानजीभाईने दृष्टान्तरूपसे पेश किया है। उस श्लोकको यहां उद्धृत किया जाता है। देखिये–

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः व्याख्या कृतेयं
समयस्य शब्दैः ।

स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृत-
चन्द्रसूरेः ॥ २७८

यहां पर प्रश्न खडा हो जाता है कि– आत्मख्यातिमें, कलशोंमें और इस श्लोकमें जो शब्द पाये जाते हैं उनका कोई प्रयोक्ता है या नहीं ? यदि नहीं तो प्रतीतिविरोध खडा हो जाता है; क्यों कि प्रयोक्ता के बिना शब्दप्रयोग अपने आप नहीं हो सकता । यदि प्रयोक्ता होता है तो आत्मख्यातिगत, कलशगत और प्रकृत श्लोकगत शब्दोंके कर्ता अमृतचंद्रसूरी हैं यह बात सिद्ध होती है । आचार्यमहाराजने इस श्लोकके द्वारा अपना लाघव प्रकट किया है । कानजीभाई का कथन लाघव प्रकट करनेके लिए नहीं है । यह कथन प्राश्निकके प्रश्न का उत्तर देनेके लिए किया गया है । अतः यह कथन किसी भी प्रकारसे प्राश्निकके प्रश्नका उत्तर नहीं हो सकता । अतः प्राश्निकका प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया है । सारांश, प्राश्निकके प्रश्नका उत्तर कानजीभाईके पास नहीं है यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है ।

पृ. १२९ में लिखा है कि– " प्रश्न– सभी गुणोंका कार्य व्यवस्थित ही है तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नहीं ? उत्तर– जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धामें पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसका व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ? " इस उत्तर का अर्थ हमारे क्रमबद्धपर्यायके कथन को सर्वज्ञका समझकर श्रद्धा करो । क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा करनेपर ही क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें अनंत पुरुषार्थ है इस बातका निर्णय होता ऐसा है । वस्तुतः क्रमबद्धपर्यायके विषयमें किये गये और किये जानेवाले प्रश्नोंका

उत्तर नहीं है । अनंतवीर्यके अभावमें अनंत पुरुषार्थ करनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है क्या ? अनंतवीर्यकी प्राप्ति जीवकी छद्मस्थ अवस्थामें हो सकती है क्या ? यदि सभी गुणोंका कार्य व्यवस्थित ही है तो पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही क्या ? जब निमित्तकी सर्वथा अकिंचित्करताके कारण पर्यायकी उत्पत्ति होना ही असंभव है तब पर्यायके सत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिसका अस्तित्व ही नहीं होता उसको श्रद्धाका विषय कैसे बनाया जा सकता है ? वंध्यास्तनंधयकी सज्जनताकी श्रद्धा कैसे की जा सकती है ? जब क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धाकी उत्पत्ति होना असंभव है तब उसकी श्रद्धामें पुरुषार्थका भासित होना भी असंभव है । आगममें क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा विधान पाया जाता है ? यदि पाया जाता हो तो कौनसे ग्रंथमें पाया जाता है ? यदि पाया न जाता हो तो आगमाविहित अंट-संट बातोंपर कौनसा आगमश्रद्धालु जीव श्रद्धा कर सकता है ?

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है– " प्रश्न–उसको व्यवस्थित-पनेका श्रद्धान नहीं हुआ तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है । वह व्यवस्थितपनेका निर्णय नहीं कर सका यह बात भी तो व्यवस्थित ही है । ऐसी दशामें निर्णय करनेकी कथा करना व्यर्थ ही है । उत्तर– उसका परिणमन व्यवस्थित ही है ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है–ऐसा सर्वज्ञने कहा है, परंतु उसे सर्वज्ञका निर्णय ही कहां है ? प्रथम सर्वज्ञका निर्णय तो करे ? पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पडे।"

यह प्रश्न भी कानजीभाईको निरुत्तर करनेवाला है । अप-नेको कानजीप्रोक्त व्यवस्थितपनेका श्रद्धान नहीं हुआ है ऐसा

अपना परिणाम व्यवस्थित है ऐसी उसे खबर है इस बातकी खबर कानजीभाई को नहीं है। कानजीभाईप्रोक्त व्यवस्थितपने की श्रद्धासे विहीन न होता तो वह कानजीभाईको निरुत्तर करनेवाले प्रश्न क्यों पूछता ? 'परिणमन व्यवस्थित है–ऐसा सर्वज्ञने कहा है, परंतु उसे सर्वज्ञका निर्णय ही कहां है ?' यह कथन भी मनमाना है। सर्वज्ञका निर्णय क्या सिर्फ कानजीभाईको ही है ? वस्तुतः प्राश्निकको सर्वज्ञका और सर्वज्ञकी वाणिकी प्रामाणिकता का निर्णय तो है ही। जिनागममें निमित्तके अभा–वमें पर्यायोंकी उत्पत्ति होनेका विधान न मिलनेके कारण अनुत्पन्न पर्यायों की क्रमबद्धता पर, उसके निर्णय पर और कानजीप्रोक्त व्यवस्थितपन पर विश्वास–श्रद्धा न होनेसे कान–जीभाईका मुह बंद करनेवाले प्रश्न प्राश्निक पूछ रहा है। 'प्राश्निक को सर्वज्ञका निर्णय कहा है' ऐसा कहनेवाले कान–जीभाईने ऐसा कैसे जाना ? क्या कानजीभाईकी सर्वज्ञता की सिद्धि की जा सकती है ? यदि नहीं तो 'प्राश्निक को सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है' ऐसा निर्णय उन्होंने कैसे किया ? क्या कानजीभाई मनःपर्ययज्ञानके धारक थे ? सर्वज्ञका निर्णय करने का साधकतम साधन कौनसा है यह बताते तो अच्छा हो जाता !

इसी पृष्ठमें आगे लिखा है कि– "प्रश्न– व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवानके कथन की श्रद्धा तो है। उत्तर– नहीं, सर्वज्ञ भगवानका सच्चा निर्णय उसको कहां है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहां से आया ? मात्र ज्ञानी की बात सुन–सुनकर वैसा

वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञका निर्णय तो करो। द्रव्यका निर्णय किये बिना सर्वज्ञका निर्णय वास्तवमें हो सकता नहीं।"

व्यवस्थित शब्दका प्रयोग करनेका प्रयोजन क्या है? इस प्रकरणमें उस शब्दका अर्थ क्या है? परिणमनशील इस शब्द के विशेषणभूत व्यवस्थित इस शब्दका अभिप्रेत अर्थ क्या है? किसी बातका जब निर्णय करना होता है तब व्यर्थ शब्दका प्रयोग निर्णय करनेमें विघ्न उपस्थित करता है। अस्तु। वस्तु व्यवस्थित परिणमनशील है, इसप्रकार भगवानके कथन की श्रद्धा प्राश्निक को होनेपर भी सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको नहीं है इस बातको कानजीभाईने कैसे जाना? क्या वे सर्वज्ञ हैं? क्या क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करनेवालेको और कानजीभाई को ही सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय है? जिसको सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय नहीं होता, क्या उसको सींग होते हैं? यदि नहीं तो जीव की सर्वज्ञश्रद्धाविहीनताको एक छद्मस्थ जीव कैसे जान सकता है? वस्तुतः वह जान नहीं सकता। यदि जिसके क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती उसके सर्वज्ञका निर्णय नहीं होता ऐसा कहना हो तो जिसके सर्वज्ञका निर्णय होता है उसके ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती ऐसा क्यों न कहा जाय? यदि यह कथन मिथ्या है तो जिसके क्रम-बद्धपर्यायकी श्रद्धा नहीं होती उसके सर्वज्ञका निर्णय नहीं होता यह कथन क्यों मिथ्या नहीं? कानजीभाईने सर्वज्ञका सच्चा निर्णय किस आधारपर किया है? आगम के आधारपर किया हो तो प्राश्निक आगमके आधारपर सर्वज्ञका सच्चा निर्णय क्यों

नहीं कर सकता ? द्रव्यका निर्णय भी आगमके आधार पर किया जाता है-जा सकता है। प्राश्निक को द्रव्यका निर्णय आगमके आधार पर भी नहीं हुआ है यह कानजीभाईने कैसा जाना ?

इसी पृष्ठमें आगे कानजीभाईने कहा है कि-"प्रश्न- आप समझाते भी जाते हैं और कहते भी जाते हैं कि हम कहाँ समझाते हैं ? उत्तर- कौन समझाता है ? कहा नं कि भाषाके कारण भाषा होती है, विकल्प के कारण विकल्प होता है और उस समय भाषा और विकल्प का ज्ञान भी अपने कारण होता है। इसमें हमारा कर्तापना कहाँ रहा ?"

'भाषाके कारण भाषा होती है ...' इत्यादि जो कहा है वह क्या मायने रखता है। वस्तुतः इसका अर्थ कानजीभाई ही जाने या भगवान जाने। क्या अकेली भाषामें उत्पाद्य-उत्पादकभाव हो सकता है ? क्या कार्य ही अपना उपादान या निमित्त हो सकता है। प्राश्निकके प्रश्नके कारण निरुत्तर हुए कानजीभाईकी अपनी असमर्थताका यह उत्तर दिग्दर्शक है। यदि कानजीभाईके पास उक्त प्रश्नका उत्तर होता तो वे कदापि ऐसा न कहते।

आगे लिखा है कि- "प्रश्न- इसी लिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी में अंतर है ? उत्तर-(अत्यन्त गंभीर होकर) वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, हम क्या करें ? जैसा श्रद्धान, ज्ञान और वचन है वैसा चारित्र भी होना चाहिये, वह अभी नहीं है; पर श्रद्धामें फेर नहीं है। करनी और कथनी का

यह अन्तर तो है ही। पर यहाँ अन्तर तो क्षायक सम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्तियों के भी था। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सभी ज्ञानियों के होता है-इसमें हम क्या करें ?"

आप समझाने की क्रिया करते भी हैं और कहते भी हैं कि हम समझानेकी क्रिया नहीं करते हैं। इसलिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी में अंतर है। वस्तुत: यह कथन परस्पर विरोधी है और मिथ्याचारित्ररूप है। निश्च-यनयसे हम समझानेवाले नहीं है और व्यवहारनयसे समझाते हैं ऐसा कहते तो कदाचित् विरोध नहीं होता। किंतु कर्तृत्वका सर्वथा निषेध करना कानजीभाईको सर्वथा इष्ट होनेसे उक्त प्रकारका कथन नहीं किया जा सकता है। कहना एक और करना कथन के विरुद्ध इसको क्या कहा जाय ? यदि कोई मांसाहार नहीं करना चाहिए ऐसा कहकर मांसाहार करता रहे तो उसकी कथनी और करनी इनमें विरोध नहीं होगा क्या ? वचन और चारित्रमें भेद होना यह वस्तुस्वरूप है क्या ? वचन और चरण में एकरूपताको प्रतिबंध करनेवाला कौनसा कारण है ? यह तो चारित्रमोहनीय के उदयका कार्य है। कानजीभा-ईकी दृष्टिमें निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे चारित्रमोहनी-यका उदय निमित्त होनेसे निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता, क्यों कि वह निमित्तभूत है। कथनी और करनीमें विरोध होने-वाला होनेसे होता है; वह विरोध सकारण नहीं है ? यदि वह विरोध चारित्रमोहके उदयके कारणसे उत्पन्न हुआ है ऐसा कहना हो तो स्वसिद्धान्तकी हानि हो जानेका दोष खडा हो जाता है। इस कथन को मायाकषायनिमित्तक क्यों न मान

जाय ? इसका निमित्त कानजीभाईके दर्शनमोहनीयका उद
भी हो सकता है। मैं समझाता हूं और नहीं समझाता हूं य
कथन नयाश्रित न होनेसे इन वचनोंमें परस्पर विरोध है
कानजीभाईका कथन आगमानुकूल न होनेसे प्रमाणभूत-यथार्थ
सत्य नहीं है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव आगमविरुद्ध कथन कर
ही नहीं। कानजीभाईका कथन आगमविरुद्ध होनेसे उन्हें सम्यक्त्व
चतुर्थगुणस्थानवर्ती नहीं माना जा सकता है। अलं पल्लवितेन

